अपनी जीवन-सहचरी

धर्म-परायणा, प्रियदर्शिनी

श्रीमती कमलावती दीक्षित

और

चिरंजीव देवेन्द्रकुमार दीक्षित तथा बेटी पूर्णिमा दीक्षित
बी० ए० (फा०)

को

जिन सब के स्नेह, सहयोग, सेवा से

श्याम की सफलता

साकार हुई।

Please return this volume on or before the date last stamped. Overdue volume will be charged ten P. per day.

कृष्ण-काव्य में भ्रमर-गीत

कृष्ण-काव्य में भ्रमर-गीत

आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के हेतु
प्रस्तुत-स्वीकृत मौलिक प्रबन्ध

लेखक—
डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित,
एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न
(आचार्य, हिन्दी-विभाग, महाराजा स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
छतरपुर, मध्यप्रदेश)

१९५८
विनोद पुस्तक मन्दिर
आगरा

प्रकाशक
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हास्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण
जून १९५८
मूल्य १०)

मुद्रक :—
राकेश चन्द्र उपाध्याय
आगरा पॉपूलर प्रेस, मोतीकटरा
आगरा।

निवेदन है कि

—प्रस्तुत निबन्ध में, 'कृष्ण-काव्य में भ्रमर-गीत' से सम्बद्ध अध्ययन, विवेचन और विश्लेषण है। विषय की गंभीरता उसके नाम से ही स्पष्ट है। इसी कारण इस दिशा में पर्याप्त परिश्रम भी करना पड़ा है। काव्य के नायक श्रीकृष्ण के विषय में कतिपय विदेशी विद्वानों ने जिन भ्रान्त धारणाओं को जन्म दिया है, उनका खण्डन और निराकरण करने के हेतु बहुत कुछ सोचना-समझना, पढ़ना और देखना पड़ा है। विरोधियों के असंयत प्रहारों के सामने मैंने अपना संतुलन नहीं खोया है, यह आप देख सकेंगे। तर्क और वितर्क को ही मान्यता दी गई है, कुतर्क को पास भी नहीं आने दिया गया है।

इस दृष्टिकोण से इस प्रबन्ध का पहला अध्याय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनुसंधान की सीमा माना जा सकता है। इस दिशा में, न केवल तर्क और अन्वेषणों को ही महत्त्व दिया गया है, बल्कि अपना दृष्टिकोण भी उपस्थित किया गया है। मैं जानता हूँ कि मेरे भी विचारों और मान्यताओं की आलोचना-प्रत्यालोचना हो सकती है, परन्तु इसी भय से मैंने अपने आपको दूर रखना उचित नहीं समझा है।

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में, धार्मिक क्षेत्र से बाहर, अनेकानेक प्रवाद प्रचलित हैं। मैंने लगभग सभी का परीक्षण किया है और अन्त में जो निष्कर्ष प्राप्त हुआ है, वह मेरा अपना है।

परम धार्मिकजनों, पुराणकारों तथा महाभारतकार ने श्रीकृष्ण को ईश्वरावतार माना है। वैसे तो मेरा भी विचार ऐसा ही है, परन्तु, प्रस्तुत प्रबन्ध में तो, मैंने मध्य-मार्ग ही ग्रहण किया है। कहीं-कहीं श्रीकृष्ण को महापुरुष अथवा मानव-मात्र मान कर ही कसौटी लगादी है और परिणाम तक पहुंचने की चेष्टा की है। उनके ईश्वरत्व अथवा अवतार की समीक्षा को अप्रासंगिक मान कर छोड़ दिया गया है।

मेरी ऐसी धारणा है कि श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में विवेचनापूर्ण दृष्टिकोण उपस्थित करने वाला यह पहला प्रबन्ध है। इस दिशा में जो अनुसन्धान हुए भी हैं, वे दृष्टिकोण की भिन्नता के साथ ही साथ, विषयों में भी विविधता लिए हुए हैं। इस प्रकार, यह प्रथम प्रयास है, जहाँ समष्टि रूप से इस प्रश्न का निपटारा किया गया है। भ्रमरगीत की आलोचना के साथ ही साथ, श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व और उनकी ऐतिहासिकता आदि पर प्रकाश नहीं पड़ता तो, मेरी सम्मति में, यह प्रबन्ध आलोचना मात्र रह जाता।

दूसरे अध्याय में, धार्मिक विश्वासों की परम्परा के विरुद्ध; राधा के व्यक्तित्व का विश्लेषण है। इस दिशा में, एक बार जो साहित्यिक-विचार आरम्भ हुआ भी, उसमें ऐतिहासिकता का पुट नहीं था, आलोचना-तत्त्व का ही प्राधान्य था। मेरी मान्यता के अनुसार राधा का व्यक्तित्व कवि-कल्पना-प्रसूत ही सिद्ध होता है। सम्भव है, इस निर्णय के कारण मुझे परम धार्मिक जनों का कोप-भाजन भी बनना पड़े तो, यह मेरी विवशता है। जो सत्य है, वह सत्य है और सत्यान्वेषण ही अनुसन्धान का आधार माना जाता है। मेरा विश्वास है कि बौद्धिक क्षेत्र में मेरा अध्याय प्रगतिशीलता का नवीन चरण माना जायगा।

(हर्ष का विषय है कि इस प्रबन्ध की स्वीकृति के पश्चात् 'राधा' के विषय में कुछ अन्य विद्वानों ने भी अपनी शोध प्रस्तुत की है।)

गोपियों के विषय में भी, सत्य का आधार ही अधिक लिया गया है। आध्यात्मिक-पक्ष और लौकिक-पक्ष दोनों ही पक्षों में, उनकी स्थिति पर विचार किया गया है।

इसी प्रकार, कुब्जा और उद्धव के सम्बन्ध में, जो विचार और निष्कर्ष प्रस्तुत किये गए हैं, वे खोजपूर्ण होने के कारण ही महत्त्वपूर्ण माने जाएँगे, मैं ऐसा समझता हूँ।

"गीति-काव्य का संक्षिप्त परिचय" भी अपने ढंग से प्रस्तुत किया है, इसलिए उसमें मौलिकता का अंश अधिक होना स्वाभाविक है।

"भ्रमर-गीत का परिचय" और उसकी 'आलोचना' वाला समग्रभाग मेरा अपना है। जहाँ भी मैंने उचित समझा है, उद्धरण भी दे दिये हैं, परन्तु अपने विचारों की परिपुष्टि और समर्थन के हेतु ही उनको ग्रहण किया है, उन अवतरणों से प्रभावित होकर मैंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति नहीं की है।

भ्रमर का परिचय प्राप्त करने के लिए मैंने कई दिन और कई रातें व्यय की हैं। निकट से उसका अध्ययन किया है और पुस्तकों से उसके निर्माण आदि का पता भी लगाया है। प्राणिशास्त्र के ज्ञाता, अपने कृपालुओं से, भ्रमर के विषय में जो जानकारी प्राप्त की है, वह थोड़ी होती हुई भी, मेरे ज्ञान-वर्द्धन के हेतु स्वस्थ-मार्ग-प्रदर्शन तो था ही। निर्माण के वर्णन अथवा विवरण को छोड़कर शेष जो कुछ भी भ्रमर के विषय में है, वह मेरे निरीक्षण और व्यक्तिगत अनुसन्धान पर आधारित है।

आलोचना भाग में बहुत से निष्कर्ष निकाले गए हैं और निश्चित निर्णय तक पहुँचा गया है। यह सब मेरे निजी परिश्रम का परिणाम है और सविनय कहना चाहता हूँ कि इनमें मौलिकता पर्याप्त है तथा इस विषय का इतना स्पष्ट विवेचन प्रथमबार उपलब्ध हो रहा है।

आगे चलकर, उन कवियों का वर्णन भी किया है, जिन्होंने भ्रमरगीत का परिपाटी को आगे बढ़ाया है। साथ ही, उनकी रचनाओं की आलोचना भी प्रस्तुत की है, जिस पर प्रबन्धकार के व्यक्तित्व का प्रभाव परिलक्षित होना स्वाभाविक है।

भ्रमरगीत की कतिपय विशेषताओं के वर्णन का लोभ संवरण नहीं किया जा सका है। मैं कहना चाहता हूँ कि इस विषय से सम्बद्ध ज्ञान का वर्द्धन करने के हेतु यह आवश्यक भी था।

मौलिकता के दो रूप माने जाते हैं। एक तो विवेचन विषयक मौलिकता और दूसरी तथ्य विषयक मौलिकता। जहाँ तक विवेचन का सम्बन्ध है, सर्वत्र ही मेरा अपना है और नितान्त मौलिक है। यह सत्य है कि मैं कितने ही मनीषी और आचार्यों से प्रभावित हुआ हूँ परन्तु विवेचना करते हुए मैंने उनके विचारों को उधार नहीं लिया है। दूसरों के उद्धरण भी प्रायः कम ही दिए हैं, जहाँ अपने मत की पुष्टि के लिए दिए भी हैं, वहाँ कृतज्ञता पूर्वक उनका उपयोग और उल्लेख किया गया है।

तथ्य-चयन में, निस्सन्देह मैं कितने ही विद्वानों का आभारी हूँ। इस दिशा में, ऐतिहासिकों का मुझ पर बड़ा भार है, जो भी ऐतिहासिक ग्रन्थ उपलब्ध हुए या होसके, उनसे सहायता प्राप्त की गई है। जो प्रामाणिक ग्रन्थ सामने आए, उनसे सामग्री ग्रहण कर ली है परन्तु उसे अपने दृष्टिकोण और आलोच्य विषय के अनुकूल उपस्थित करते हुए, ढंग या प्रणाली अपनी ही रखी गई है—"नाना पुराण निगमागम" के साथ 'क्वचिदन्यतोपि' वाली बात है। केवल वांछित सामग्री का ही चयन किया गया है और अपनी ओर से निष्कर्ष भी निकाले गए हैं। पुराणों की सहायता अनिवार्य रूप से लेनी पड़ी है। तथ्य को लेकर अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर उसकी स्वतंत्र परीक्षा की गई है।

किम्बदन्तियों पर अधिक विश्वास नहीं किया गया है, फिर भी रूढ़िगत भावनाओं और विश्वासों से निष्कर्ष निकालने में सहायता ली गई है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध में जहाँ तथ्यों का विश्लेषण और विवेचन भी है, वहाँ अनुसन्धान का आधार भी पर्याप्त है। इस दिशा में मेरा अपना दृष्टिकोण प्रधान है और जिस ढंग से इस विषय का विवेचन किया गया है, उससे पर्याप्त ज्ञान-वर्द्धन होगा अभी तक इस विषय पर जो सामग्री उपलब्ध है भी, यह प्रबन्ध उसे आगे बढ़ाने में समर्थ है। समस्त परीक्षण और निष्कर्ष गंभीरता से तथा पक्षपात रहित होकर लिए गए हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म समस्या को भी ध्यान में रखा गया है।

मेरा यह प्रयास, इस दिशा में, अभिनव है और सबसे पहला है। इतनी विशदता के साथ, इस क्षेत्र में पहल नहीं की गई है और वर्णित निष्कर्षों के कारण इस दिशा की जानकारी और उपयोगिता तथा महत्ता में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है।

ऊपर, मैंने जो भी कुछ निवेदन किया है उसमें सत्य और स्पष्टता ही प्रधान है, मेरी गर्वोक्ति बिल्कुल नहीं है। विषय पर प्रकाश डालने के लिए, वैधानिक रूप से इतना कुछ लिखना अनिवार्य था। मैं आशा करता हूँ कि मेरा यह निवेदन न तो आत्मप्रशंसा ही माना जायगा और न अतिशयोक्ति पूर्ण ही।

इस विषय पर अनुसन्धान करने के हेतु मुझे कितने ही स्थानों की यात्रा करनी पड़ी है। समस्त व्रजमण्डल देखा, मथुरा, वृन्दावन आदि। इसके साथ ही, द्वारका और प्रभास क्षेत्र भी गया, जहाँ भगवान् श्री कृष्ण ने अपनी इहलीला संवरण की है। नाथद्वारा और कांकरोली तक दौड़ लगाना तो स्वाभाविक था, कुरुक्षेत्र-दर्शन भी व्यर्थ नहीं रहा। यह सभी स्थान श्री कृष्ण की लीलाओं से सम्बद्ध रहे हैं। नाथ द्वारा में अवश्य पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। व्रज में भी अनेकानेक मान्यताओं से मेरा परिचय हुआ। इसी सिलसिले में अजमेर, जयपुर और भूपाल आदि के पुरातत्त्व-संग्रहालय भी देखे। झाँसी के पास देवगढ़ का मन्दिर और भेलसा (विदिशा) के समीप बेसनगर में तथा उदयगिरि की गुफाओं का भ्रमण भी किया गया।

इस अवसर पर विभिन्न पुस्तकालयों को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। पूना के भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट से काफी सहायता मिली है। बम्बई की केन्द्रीय लायब्रेरी से भी लाभ उठाया है। इन दोनों स्थानों से सहयोग पाने के लिए मैं बम्बई के मुख्यमन्त्री माननीय श्री मोरार जी देसाई (आजकल केन्द्रीय सरकार के वित्तमन्त्री) का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने मुझे परिचय-पत्र प्रदान किया। दूसरी ओर, मैं कलकत्ता की नैशनल लायब्रेरी तक गया। मैं इन सभी संस्थाओं के अधिकारियों को अमित धन्यवाद देता हूँ।

प्रबन्ध का अधिकांश भाग, आगरा विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी के 'अध्ययन कक्ष' में सम्पूर्ण हुआ है। इसके हेतु मैं वहाँ के सुयोग्य अध्यक्ष श्री श्रीराम जी मिश्र तथा उनके साथियों और विशेषकर उन कार्यकर्ताओं का आभार प्रदर्शन करता हूं, जो 'पुस्तक-वाहक' कहे जाते हैं। पुस्तकालय की सामग्री के उपयोग की अनुज्ञा प्रदान करने के हेतु मैं आगरा विश्वविद्यालय के रजिष्ट्रार सम्माननीय कैप्टिन डा० एल० पी० माथुर डी० एस० सी० और अपने परम आदरणीय शिक्षक श्री के० बी० एल० अस्थाना (असिस्टैन्ट रजिष्ट्रार) का अतीव कृतज्ञ हूँ। प्रबन्ध के सौन्दर्य्य और प्रस्तुतीकरण के विषय में जो मार्ग-प्रदर्शन डा० बाबूलाल जी गुप्त एम० ए०, एल-एल० बी, पी-एच० डी०। (वर्तमान असिसटैन्ट रजिष्ट्रार विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन) से प्राप्त हुआ, उसके लिए मैं उनका भी ऋणी हूँ।

राजकीय हमीदिया कालेज, भूपाल के पुस्तकालय से भी सहायता मिली है। इसके लिये मैं अपने प्रिन्सीपल श्री प्रेमचन्द जी मल्होत्रा का कृतज्ञ हूँ।

महात्मा तुलसीदास ने गुरु के श्री चरणों को कृपा का समुद्र और श्री हरि चरणों के समान बताया है तथा उनके वचनों को महामोहरूपी घनान्धकार का नाश करने वाला कहा है—

"वंदउ गुरुपद-कंज, कृपा-सिन्धु नर-रूप हरि।
महामोह-तम-पुंज जासु बचन रवि-कर-निकर ।।"

इसके अतिरिक्त सभी सन्तों और महात्माओं ने गुरु-वन्दना करते हुए गुरु को परब्रह्म तक माना है। गुरु का पद ऐसा ही है, तभी तो सबसे पहले 'आचार्य देवो भव' कहा जाता है।

अपने परम पूज्य गुरुवर प्रोफेसर श्री पण्डित अयोध्यानाथ जी शर्मा एम० ए०, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, विक्रमाजीतसिंह सनातनधर्म स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कानपुर के प्रति चिर ऋणी रहूँगा। उनका मार्ग प्रदर्शन, स्नेह, सहयोग और सहायता मुझे नैतिक और सात्विक बल प्रदान करते हैं।

"वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणम् ।
यमाश्रितो हि वक्रोपि चन्द्रः सर्वत्रवन्द्यते ।।"

परम प्रभु की अनन्त कृपा से यह प्रबन्ध सम्पूर्ण हो गया है, अतएव मैं उसके चरणों में शिरसावनत प्रणाम करता हूँ। (१, ९, १९५३, श्री कृष्ण जन्माष्टमी-भूपाल)

डाक्टरेट की उपाधि मिलने के तीसरे या चौथे दिन ही, मुझे बधाई का पहला तार मिला। मेरे सम्मानीय चीफ कमिश्नर श्री भगवान सहाय जी ने भूपाल से भेजा। राजकीय हमीदिया कालिज भूपाल के व्याख्याताओं में, यह मेरा प्रथम प्रयास था। उदारचेता श्री सहाय ने, एक साधारण सेवक को जो सम्मान प्रदान किया, वह मेरे स्वतन्त्र देश की परम्परा का उज्ज्वल उदाहरण था।

इसके पश्चात् जब मैं, भूपाल के तत्कालीन मुख्यमन्त्री डा० शंकरदयाल जी शर्मा एम०, ए०, बार-एट-ला, एल-एल० एम०, पी-एच० डी० की सेवा में उपस्थित हुआ तो उन्होंने अमित कृपापूर्वक मुझे दो 'एडवान्स इन्क्रीमेन्ट' प्रदान करने की इच्छा व्यक्त की और यह नियम बना दिया कि भूपाल सरकार की ओर से किसी भी राजकीय सेवक को यह सुविधा प्रदान की जायगी। मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि डा० शर्मा को किन शब्दों में धन्यवाद दूं। उन्होंने कितने ही कणों को बड़ों की श्रेणी में बिठाया है—वे साक्षात् 'शंकर' ही हैं। अपने विषय में, इतना ही जानता हूँ कि "खर को असवार गयन्द चढ़ायो।"

आज श्री सहाय, नेपाल में भारत के राजदूत हैं और डा० शर्मा मध्यप्रदेश के शिक्षा-मन्त्री। प्रभु दोनों सज्जनों को दीर्घायु प्रदान करें, यही मेरी प्रार्थना है।

मेरा यह प्रबन्ध काफी देरी से प्रकाशित हो रहा है। इसका कारण मेरा आलस्य ही है। फिर भी विनोद पुस्तक मंदिर के संस्थापक श्री राजकिशोर जी और श्री भोलानाथ जी के प्रयत्न का सुफल है कि यह प्रबन्ध प्रकाश में आ गया है। मैं इन दोनों बन्धुओं का अनुगृहीत हूँ।

छपाई से सम्बद्ध कुछ त्रुटियाँ रह गईं हैं—उनको यथा स्थान सुधार कर पढ़ लिया जाए, ऐसी विनय है।

मेरी पत्नी, पुत्र और पुत्री ने जो सेवा, सहयोग प्रदान किया उसे चिरस्थायी बनाने के हेतु कृतज्ञतापूर्वक यह प्रबन्ध उन्हीं को समर्पित हुआ है।

प्रबन्ध जैसा-जो कुछ है, आपके सामने है, दोष-दर्शन भी सम्भव है और गुण ग्राह्यता भी—"सन्त हँस गुन पय गहहिं, परिहरि वारि विकार।"

यह समस्त प्रबन्ध उस समय प्रस्तुत हुआ, जब मैं भूपाल के गवर्नमेन्ट हमीदिया कालेज में, हिन्दी का लेक्चरार था। २६ अगस्त १६५८ को, मैं राजकीय महाराजा स्नातकोत्तर महाविद्यालय के, हिन्दी विभाग में सेवार्थ आ गया हूँ।

आपकी मंगल-कामना सहित,

आचार्य, हिन्दी विभाग
महाराजा कालिज
छतरपुर। म० प्र०
२५ जून १६५८ ई०

विनीत
श्यामसुन्दरलाल दीक्षित

विषय-सूची

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठवाँ अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

"वैष्णव-धर्म"

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जानाति जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तत् विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥"[1]

अर्थात् जिससे सब भूत उत्पन्न हुए हैं, जिसके द्वारा जीवित हैं, और अन्त में जिसमें विलीन होंगे, उसको जानना होगा। वही ब्रह्म है। वही भगवान है, जिसकी प्राप्ति तीन उपायों से हो सकती है; कर्म से, ज्ञान से अथवा भक्ति से। लक्ष्य-विन्दु एक ही है; मार्गों और प्राप्ति के प्रयत्नों में विभिन्नता है। कोई तो याग-यज्ञादि के द्वारा 'उसे' प्रसन्न करना चाहता है, कोई 'उसके' स्वरूप का चिन्तन करते हुए सृष्टि का रहस्य जानकर 'उसे' पाना चाहता है; तो कोई 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई'[2], मानकर प्रेम के द्वारा 'उसका' सार्मीप्य लाभ करना चाहता है। यह प्राकृतिक है कि "नदी उमंगि अंबुधि कहें धावहि।"[3]. इसी प्रकार 'अधंकार-युग' से लेकर आज के 'विज्ञान-युग' पर्यन्त व्यक्ति ने 'उसकी' खोज में नाना सम्प्रदायों का निर्माण किया, विभिन्न मतों और विचारों की अभिव्यक्ति की, नियम तोड़े और बनाये—आदिकाल से यही परम्परा चली आ रही है और न जाने कब तक चली जाएगी।

प्रागैतिहासिक या 'अन्धकार-युग' में कौन-सा धर्म माना जाता था, इसका निर्णय असंभव ही है। केवल कल्पना के द्वारा यह निश्चित किया जा सकता है कि उस आदिम-युग के प्राणी सूर्य, चन्द्रमा अथवा अग्नि आदि प्रत्यक्ष-पदार्थों का ही यजन-पूजन करते होंगे। क्योंकि सृष्टि के आरंभ में चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था, और जलार्णव के अतिरिक्त कोई ध्वनि श्रव्य-संभाव्य नहीं थी।[4] क्रमशः सूर्य और चन्द्र का प्रकाश पृथिवी

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद्। ३।१

२. मीराबाई।

३. तुलसीदास। रामायण, बालकांड। ८४। २।

४. ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोजायतः ततः समुद्रो अर्णवः समुद्रादर्णवाधित्संवत्सरो अजायतः अहो रात्राणि विदधत् विश्वण्यमिषतोवसिसूर्याचद्रमसो धाता यक्ष पूर्वार कल्पयत् दिवञ्च पृथिवीम् चान्तरिक्षमथो स्व।

को प्राप्त हुआ। इस प्रकार 'ईश्वर के अंश' इस 'अविनाशी जीव' ने जब प्रकृति के प्राङ्गण में पहली बार नेत्रोन्मीलन किया होगा, तो उसे 'इन्द्रनील मणि महा-चषक सोम-रहित उलटा लटका'[१] दिखाई दिया होगा या 'क्षितिज बीच अरुणोदय कान्त'[२] के दर्शन हुए होंगे।

जो भी हुआ हो; मानव के मन में कुछ समय पश्चात् 'कौतूहल' और 'जिज्ञासा' ने अपना आसन अवश्य जमाया और तभी उसने अचानक प्रश्न किया—"कौन ? यह कौन है ? जिसके विराट्-स्वराट् में यह सब अम्लान घूम रहे हैं।[3] यह किसकी सत्ता का प्रवचन हो रहा है ? यह सब किसके संधान-विधान में व्यस्त हैं ?"

और तभी उस मानव ने प्रज्वलित अवशेष अग्निहोत्र की ओर दृष्टिपात किया। उसने पहले मार्ग को श्रेयस्कर माना। कर्म-काण्ड की प्रधानता हुई।

ऐसा माना जाता है कि मानव को पृथिवी पर आये हुए तीन लाख वर्ष से अधिक नहीं हुआ है।[४] यदि बात ऐसी ही है तो कर्म-काण्ड का युग; उसमें से; पर्याप्त भाग अपने पक्ष में सुरक्षित कर सकता है। सहस्रों वर्षों तक तो मानव अन्यान्य प्राणियों की भाँति प्राकृतिक संरक्षण में रहा होगा। उसके पश्चात् उसका परिचय अन्य उपादानों तथा आदान-प्रदानों से हुआ होगा। लुब्ध-नेत्रों से उसने मनोहर तथा शान्त-प्रकृति की विभूति को देखा और पहचाना होगा। कर्म-काण्ड के युग से पाक-यज्ञ का आरम्भ हुआ। वृक्षों की शुष्क-डालियों से अग्नि-अर्चियाँ समिद्ध होने लगीं और आहुति की नव-धूम-गंध से नभ-स्थल समृद्ध हो गया।

धीरे-धीरे प्राकृतिक वस्तु अथवा प्राकृतिक-घटनायें, किसी न किसी देवता का आभास प्रतिभास होने लगा। उस देवता-विशेष की प्रसन्नता के हेतु यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान होना आरम्भ हुआ।[५] समाज आगे बढ़ा और तब अपने जीवन को दैनिक-स्थिति को कल्याणमयी बनाने के हेतु उसने प्रार्थना और विनय का आश्रय ग्रहण

१. इन्द्रनील मणि महा चषक था सोम रहित उलटा लटका। कामायनी। आशा अध्याय।

२. कामायनी। आशा।

३. विश्वदेव, सविता या पूषा, सोम, मरुत, चंचल पवमान।
वरुण आदि सब घूम रहे हैं किसके शासन में अम्लान ?
कामायनी। आशा।

४. आर्यों का आदि देश। ले० डा० सम्पूर्णानन्द। पृष्ठ २३२

५. सृंगी रिषिहि वसिष्ठ बोलावा।
पुत्र काम सुभ जग्य करावा॥ रा० च० मा० १८८।१

किया।[१] इस कारण उनका लक्ष्य अन्तः साधना की अपेक्षा वाह्य-विधान की ओर ही अधिक रहा। हृदय और मस्तिष्क का योग महत्त्व नहीं पा सका, केवल मंत्रों को दुहराने और विशिष्ट विधियों के पालन की ओर ही झुकाव अधिक रहा। 'यज्ञ विष्णु था, और वह वामन (बौना) था। बाद में वह धीरे-धीरे बढ़ता गया और उसका सर्वत्र प्रचार हुआ।'[२] यही प्रथा साधारण-यज्ञ से लेकर पुरुष-मेध तक जा पहुँची। भूत-प्रेतादि के परिहार के लिये, यजमान की सिद्धि-कामनार्थ जो यज्ञ होते थे, वे विवाह, जन्म-मरण आदि संस्कारों में भी प्रमुखता प्राप्त कर गए।[३] आगे चलकर इनमें परिवर्तन भी हुआ और कृष्ण-युग में यज्ञ की दक्षिणा तपश्चर्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य निर्धारित कर दी गई।[३] इस प्रकार मंत्रों की अवतारणा आज से डेढ़ लाख वर्ष से भी पूर्व हो गई थी। कुछ विद्वान् तो, ज्योतिष-प्रमाणों के आधार पर 'विष्णु' सम्बन्धी मंत्रों को तीन लाख वर्ष से भी पूर्व रचित मानते हैं। क्योंकि सूर्य का दूसरा नाम 'विष्णु' माना गया है।[५] जो भी हो, यज्ञों का प्रभाव दीर्घ-काल तक रहा और इनके मूल-तत्त्व में श्रद्धा सन्निहित थी। "बिना श्रद्धा के यज्ञ का कोई अर्थ नहीं। श्रद्धा ही यज्ञ की अधिष्ठात्री देवी है और श्रद्धा एवं यज्ञ में कोई अन्तर नहीं है।[६] श्रद्धा-हीन यजमान का अनुष्ठान विफल विधान माना गया।"

सृष्टि में प्रत्येक वस्तु विकासोन्मुख है, अतः श्रद्धा विकसित हुई। उसमें से श्रद्धा-मूलक भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। श्रद्धा के पश्चात् विश्वास की उत्पत्ति अवश्यम्भावी है। श्रद्धा महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ पूज्य-बुद्धि का संचार है। जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है; उनका होना संसार को वाञ्छित है। श्रद्धा का मूल-तत्त्व है; दूसरे का महत्त्व स्वीकार और उसके पश्चात् दूसरी सीढ़ी विश्वास है।[७]

---

१. "दि भक्ति कल्ट इन एन्श्येन्ट इन्डिया' डा० गोस्वामी

२. यज्ञमेव,विष्णु पुरस्कृत्येयुः।......वामनो ह विष्णुरास। तेने मां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त। (शतपथ ब्राह्मण १।२।३।३—७)

३. 'भारतीय संस्कृति और अहिंसा'। स्व० धर्मानंद कोसाम्बी। पृष्ठ २६। पैरा ७७।

४. 'वेदकाल निर्णय' श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट। आर्यों का आदि देश—पृष्ठ २२३, परिशिष्ट 'ग'

५. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी 'सूर-सौरभ'। डा० रायचौधरी 'दि अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णवसैक्ट' पृ० ११।

६. 'दि भक्ति कल्ट इन एंश्येन्ट इंडिया'—डा० गोस्वामी पृ० ४६।

७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'श्रद्धा' लेख।

वैदिक-युग में; श्रद्धा का समन्वय प्रेम के साथ हुआ और भक्ति के रूप में श्रद्धा का विकास हुआ—तभी, बहुदेववाद के रूप में परिणत होकर अनेकानेक देवताओं के महत्त्व को स्वीकृत किया गया। जब श्रद्धा-समन्वित प्रेम की पूर्णता भक्ति को प्राप्त हो गई और उसका आधिपत्य उपासना के क्षेत्र में मान्यता प्राप्त कर गया; तब भक्ति की भावना अनेक से एक की ओर अभिमुख हुई। "भक्ति-सम्बन्धिनी भावना से प्रेरित मनोवृत्ति वाला प्राणी साधारण विभिन्नताओं से हट कर; अपनी आध्यात्मिक दृष्टि को विस्तृत करने की चेष्टा करता है और इतस्ततः विशृंखल शक्तियों का सामंजस्य स्थापित करके, उनको एक रूप में निविष्ट करता है और उसी को अपना सर्वश्रेष्ठ आदर्श बनाता है।" क्रमशः वैदिक-युग के अनेकानेक देव-गण एक रूप में देखे जाने लगेः—'हे अग्निदेव ! तुम्हीं वरुण हो, तुम्हीं मित्र हो तथा तुम्हीं इन्द्र भी हो, और तुम्हीं अर्यमा होकर स्वामिवत् कार्य भी किया करते हो।"[१] साथ ही, यह भी उद्घोषित किया गया किः—"विद्वान् लोग उसी (सत्) को इन्द्र, मित्र, वरुण अथवा अग्नि के नाम से पुकारते हैं, और वही विशाल पंखों वाला दिव्य गरुड़ भी है। उसी एक (पदार्थ) का वे अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। अतएव वही एक सत् (सृष्टि को आविर्भाव प्रदान करने के कारण) अग्नि, (संसृति) एवं परिवर्तन का मूल तत्त्व होने से यम, तथा (अखिल विश्व का आधार-भूत होने से) मातरिश्वान् भी कहलाता है।[२]

ऐसा जान पड़ता है कि धीरे-धीरे इन यज्ञों की प्रथा मंद पड़ती चली गई। कुछ लोगों की सम्पत्ति में निस्पृत तथा न्यायी और धार्मिक चेतना-समन्वित ब्राह्मणों के अभाव से ऐसा हुआ।[३] तो, प्रो० राजवाड़े इसे ब्राह्मण-धर्म के प्रति विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया मानते हैं।[४]

यह तो स्वयं सिद्ध है कि गंगा-यमुना के प्रदेश में, एक समय पशु-यज्ञ नहीं होते थे। सदा अग्निहोत्र किया जाता था।[५]

---

१. ऋग्वेद (मं० ५, सू० ३, मंत्र १ व २)

२. इदं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यः स सुपर्णोगुरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋग्वेद (मं० १, सू० १६४, मंत्र ४६)

३. स्व० धर्मानंद कोसाम्बी—'भारतीय संस्कृति और अहिंसा' पृ० ३०-३२।

४. प्रो० बैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े—'विविध ज्ञान विस्तार' मासिक पत्र में नवम्बर १९२७ ई० 'ब्राह्मणकालीन जाति भेद'

५. "सुत्त-निपात" ब्राह्मणधम्मिक-सुत्त। "भारतीय संस्कृति और अहिंसा" पृष्ठ २८-२९।

जो भी हो, कालान्तर में कर्म-कांड की अवनति हुई; यह तो निश्चित है। चाहे इसके मूल में ब्राह्मण-धर्म का पतन रहा हो अथवा लोगों की उदासीनता की प्रधानता ! हमारी साधारण बुद्धि में तो मानव की चिन्तन शक्ति का उद्बोधन ही प्रधान कारण जँचता है। सहस्त्रों वर्षों तक यज्ञ-याज्ञादि करने के पश्चात् भी मानव अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सका अथवा विश्वात्मा से साक्षीकरण के द्वारा अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सका तो, स्वाभाविक रूप से, उसके मन-मस्तिष्क में हलचल मची होगी और तभी उसने विचार-विमर्श आरम्भ कर दिया होगा। 'सो वह कौन है ?' इस निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए विचार-विनिमय ही साध्य-साधन बनाया गया होगा।

विचार मंथन और अनुसंधान के उद्देश्य से, विद्वत्जनों ने या तो गोष्ठियों का निर्माण किया होगा अथवा शास्त्रार्थ के हेतु सभाएँ समवेत की होगी। तभी यह संभव हो सका होगा कि वैदिक-धर्म के विविध मूल-तत्त्वों का दार्शनिक विवेचन किया जाय। इस प्रकार तत्त्व-चिन्तना आरंभ हुई होगी।

यह हमारी निश्चित धारणा है कि विचार-विनिमय और दार्शनिक विवेचन के परिणाम-स्वरूप ही वेदों के ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद-भागों की रचना हुई। इन्हीं रचनाओं के आधार पर वैदिक-कृत्यों की विधि-परम्परा निर्धारित हुई, मूल दार्शनिक तत्त्वों का अनुसंधान हुआ और गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन तथा स्पष्टीकरण भी हुआ।

चिन्तना-प्रधान-युग होने से, परमात्मतत्व के साथ ही जीवात्मा, अव्यक्त प्रकृति की भावना, कर्म तथा जन्मांतरवाद की कल्पना को भी स्थान मिला। जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होने की सात्विक अभिलाषा भी जागरित हुई। संसार को माया-जाल ठहराया गया और जीवात्मा को परमात्म-चिन्तन, आराधन का अभ्यास करते हुए कल्याण की प्राप्ति की ओर उन्मुख किया गया। यही दीर्घ-व्यापिनी क्रिया तपस्या के रूप में परिवर्तित हो गई। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा और परमात्मा का सान्निध्य उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया। इसी का नाम "वैदिक उपासना" अथवा 'ध्यान योग' रखा गया। [१]. भक्ति-भावना के दृष्टिकोण से, इस प्रकार की वैदिक उपासना, श्रद्धा-भक्ति का दूसरा स्वरूप बन कर प्रचलित हुई।

यह तो माननीय तथा तर्क-सम्मत है कि वैदिक-काल में, जब संहिता-भाग की रचना हुई; उस समय तक वैष्णव-धर्म का कोई अस्तित्व नहीं था। क्योंकि; उस युग में, जैसा वर्णन किया जा चुका है, कर्म-कांड की प्रधानता थी और भक्ति-मार्ग का निरूपण किसी भी रूप में नहीं हुआ था, जो वैष्णव की आधार-भित्ति है।

---

१. गीता अ० ६ श्लोक १३-१४, १५, २०-२२।

इस प्रकार-चिन्तन-युग तक वैष्णव धर्म का कोई भी अँग न तो स्पष्ट ही हो पाया था और न पुष्ट ही। उस युग में, 'भक्ति' शब्द का प्रयोग श्रद्धात्मक प्रेम की अपेक्षा प्रेमपात्र के अर्थ में ही अधिक प्रयुक्त होता था।[१]. भक्ति की वैष्णवानुमोदित-भावना का आविर्भाव, आगे चलकर तब हुआ जब आर्यों के आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विचारों में परिपक्वता आ गई। तभी श्रद्धा या उपासना के द्वारा धीरे-धीरे विकसित होकर, उस व्यापक-भाव में परिणत हुई जिसके द्वारा स्वयं· उपास्य भगवान के ऐश्वर्य अथवा सार-तत्त्व में भाग लेता है।

इस प्रकार, वैदिक-युग में रोपित, श्रद्धात्मक बीज से, भक्ति का पौधा पनपा और विभिन्न अँग-उपांगों सहित वैष्णवधर्म का प्रस्फुटन हुआ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'वैष्णव धर्म' का नाम-करण चाहे जितने काल के पश्चात् किया गया हो, वह सबसे प्राचीन और मानव का सर्वप्रथम धर्म है। सूर्य की उपासना के साथ ही साथ वैष्णव-धर्म का आरम्भ मान लेना तर्क-पूर्ण और न्याय-संगत होगा।

हम दृढ़ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि सृष्टि के आरम्भ से प्रचलित वैष्णव-धर्म, कम से कम तीन लाख वर्ष प्राचीन है और यही धर्म मानव का आदि धर्म होने से 'सनातन' कहा जाता है, क्योंकि यह तो 'स्वयं भू' है। वैष्णवधर्म प्रेम और भक्ति का धर्म है।

---

१. डा० भंडारकर "वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स" पृष्ठ ४१।

विष्णु और वैष्णव-धर्म

वैदिक-युग से; विष्णु की आराधना चली आ रही है। ऋग्वेद में जिन देवताओं का वर्णन है, उसमें विष्णु प्रधान देवता हैं। 'विष्णु' शब्द की उत्पत्ति 'विशू' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'प्रवेश या व्याप्ति'। जो इस समस्त विश्व में प्रविष्ट या व्याप्त है, वही विष्णु है।[1] "अविनश्वर गोपा विष्णु ने तीन पगों द्वारा ही नाँघ दिया।" इन मंत्र से सूर्य का उदय, मध्यान और अस्त सूचित होता है। दुर्गाचार्य जी ने भी अपनी निरुक्ति की टीका में ऐसा ही आभास दिया है। विष्णु ने तीन पग किए और वे इस ब्रह्माण्ड को नाँघ गए।[2] इन तीन पदों में से पहिले दो अर्थात् पृथ्वी और अंतरिक्ष को ही मनुष्य देख सकते हैं अथवा प्राप्त कर सकते हैं। तीसरे तक कोई भी नहीं पहुँच पाता। वह चिड़ियों की उड़ान से भी ऊपर है।[3] तृतीय पद विष्णु का परमपद है। उसे विद्वान् मनुष्य ही आकाश की ओर ऊँची दृष्टि डालने पर सदा देखते हैं।[4] वहाँ विशाल विष्णु के परम-पद में मधुर आनन्द-रस का स्रोत विद्यमान है।[5]

कहीं-कहीं विष्णु को "ऋतस्य गर्भम्" भी कहा गया है, तो ब्राह्मणों की रचना के समय तक, "यज्ञोहवै विष्णु" पुकारा गया है, जो यज्ञों के सहायक समझे जाते थे।

---

१. त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदम्य (ऋग्वेद मं० १, सू० २२, मंत्र १८)

२. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् (ऋग्वेद मं० १, सू० २२, मंत्र १७)

३. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्द्दशोभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
तृतीयमस्य नकिरा दधर्षतिवयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः॥
ऋग्वेद (मं० १, सू० १५५, मंत्र ५)

४. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः। दिवीवचक्षुराततम् ऋग्वेद (मं० १, सू० २२, मंत्र २०)

५. उरुक्रमस्य सहिबन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्वः उत्सः। ऋग्वेद (मं० १, सू० १५४, मं ५)

विष्णु को, बारहवाँ आदित्य भी माना गया है जो सबसे छोटे होते हुए भी गुणों में अत्यन्त श्रेष्ट हैं।[१]. विष्णु का एक नाम 'शिपिविष्टा' भी कहा गया है; जिसे श्री दुर्गाचार्य ने 'तो लौकिक रश्मियों से अभिभूत' माना है।[२]. तप के हेतु भी विष्णु को सर्वोच्च देवता माना है।[३]. इसके अतिरिक्त कई स्थानों पर विष्णु को देवताओं का प्रधान बताया गया है।[४].

ऐतरेय-ब्राह्मण में लिखा है कि देवताओं में अग्नि का सबसे नीचा तथा विष्णु का सबसे ऊँचा पद है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार विष्णु देव-मण्डली में सर्वोपरि हैं। मैत्रैय उपनिषत् में भोजन को भगवान विष्णु कहा गया है; क्योंकि वहीं संसार का पोषण करता है। कठोपनिषत् में उद्घोषित किया गया है कि मानव देहधारी जोव की उन्नति का चरम उत्कर्ष विष्णु के परम पद की प्राप्ति है। महाभारत में भी विष्णु को परमात्मा माना है। श्री मद्भागवद्गीता में विष्णु को रुद्र तथा ब्रह्म से भी बड़ा माना है। गीता में अर्जुन को और अश्वमेध पर्व में उत्तङ्क ऋषि को, जिस विराट् रूप या विश्व-रूप का दर्शन कराया गया है, वह विष्णु का ही रूप बतलाया गया है।

सूर्य और विष्णु

हमारी आरम्भिक मान्यता के अनुसार विष्णु और सूर्य दोनों अभिन्न ठहरते हैं। इनमें भेद शक्य भी नहीं है। शतपथ-ब्राह्मण में लिखा है कि एक बार जब विष्णु विश्राम कर रहे थे, तब उनका शिर उनकी प्रत्यंचा पर अवस्थित था। कुछ चीटियों ने ऐसा देखकर विचार किया कि यदि हम इस प्रत्यंचा के सूत्रों को काट डालें तो हमें क्या पुरस्कार मिलेगा। देवताओं ने कहा कि तब उनको भोजन से पुरस्कृत किया

---

१. एकादशास्तु तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते।
जघान्याजस तु सर्वेषाम् आदित्यानाम गुणाधिकः॥
ऋग्वेद (मं० ४ सू० ५५; मंत्र ६। ७, ६६, ५, । ८, १०, २)

2. "I, a master of hymns and knowing the sacred customs, to-day praise that name of thine, Sipivista." Rg-veda, VIII-100. 5, translated by Dr. L. Sarup quoted in Nirukta v. 8) "A history of Indian Philosophy by Dr. Surendar Nath Dass Gupta. p 535.

३. "तस्माद् आहुर विष्णुर्देवानाम श्रेष्ठाः"

४. विष्णु मुखा देवा—तैत्तरीय संहिता १, ७, ५; ४। वाजसनेयी संहिता १, ३०,—२, ६, ८—५, २१। अथर्ववेद (५, २६, ७। ८—५, १०)

जायगा । और, तव चीटियों ने, सूत्रों को नष्ट कर दिया । परिणामतः प्रत्यंचा के दोनों सिरे अलग-अलग हो गये। विष्णु का शिर शरीर से पृथक् हो गया और सूर्य के रूप में परिवर्तित हो गया।[१] आगे, यह भी लिखा है कि देवगणों में तथा असुरों में यज्ञ-स्थान के हेतु संघर्ष हुआ। तव उन्होंने कहा कि विष्णु अपने शरीर के द्वारा जितना स्थान व्याप्त कर सकेंगे, उतना ही देवताओं को मिलेगा। इस पर वामन विष्णु ने प्रथम पाद-विक्षेप के द्वारा पृथ्वी को, द्वितीय से अन्तरिक्ष को तथा तृतीय से आकाश को नाप लिया।[२] शतपथ ब्राह्मण में विष्णु को ही वामन कहा गया है।[3] ऋग्वेदमें वह जगत् स्वामी कहे गये हैं और उनका महत्त्व कल्पनातीत बताया गया है।[४]

इस प्रकार आदित्य, सूर्य अथवा विष्णु में पार्थक्य नहीं माना गया है। वह दैनिक तथा वार्षिक विवरणों में सूर्य का प्रतिनिधित्व करते हैं।[५] श्री विल्सन महोदय का मत भी यही है कि "त्रीणि पदा विचक्रमे" में वर्णित तीनों पद सूर्यदेव के तीनों काल ही हैं (उदय, मध्याह्न और अस्त)[६] कुछ मत की विभिन्नता के साथ प्रो० जायसवालजी ने भी ऐसा ही माना है।[७] श्री म्योर महोदय ने भी ऐसा ही स्वीकृत किया

---

1. Once he was resting his head on the end of his bow, and, when some ants; perceiving that, said:—"How should we be rewarded, if we could gnaw the strings of the bow ?" the gods said that they would then be rewarded with food; and so the ants gnawed away the string, and as the two end of the bow sprang apart; Vishnu's head was torn from his body and became the sun (Satpath Brahman. XIV. 1. Histosy of Indian philosophy by Dr. Dass Gupta page 535.)

२. शतपथ ब्राह्मण (२, ३, ५, ४-५) "उच्च विषयक लेखमाला" पं० नालिनी मोहन सान्याल एम० ए० पृष्ठ ६०"

३. शतपथ ब्राह्मण (१, २, ५) ४. ऋग्वेद (६-६९ तथा ७-९९)

5. He represents the sun in its daily and yearly course. Haug's translation of Aitaseya Brahmana p. I. N.

6. Wilson's introduction to the Rig Veda Sainhita, Vol. 1, P. XXXIV; also p. 53.

7. Indian Antiquary., 1918, March, p. 84.

है। केवल श्री कीथ महोदय की सम्मति में इस व्याख्या में और वेदोक्त-वर्णन में साम्य नहीं बैठता है।[१] श्री कोलब्रुक इस आख्यान का सम्बन्ध निष्केवल वामनावतार से मानते हैं।[२] श्री बारनेट का मत-भेद केवल तीन-पदों की व्याख्या से है, वे मानते हैं कि विष्णु के यह तीन पद दम, त्याग तथा अप्रमाद माने जाने उचित हैं।[3] इस प्रकार "पदों की व्याख्या-विश्लेषण" में विभिन्नता होते हुए भी सूर्य-विष्णु की एकता का विरोध प्रमुख नहीं माना गया है। जो भी हो, मानव ने नेत्रोन्मीलन के पश्चात् जिसके भी दर्शन किये, वही विष्णु था, सूर्य था अथवा आदित्य था, यह निश्चित है।

विष्णु और इन्द्र

वैदिक काल से कुछ पूर्व भी; विष्णु को महान्-देवता माना जाता था; यह तो स्पष्ट है। परन्तु उनको उस समय तक 'परमदेव' का पद किसी ने भी प्रदान नहीं किया और न उन्हें महादेव ही माना। ऋग्वेद में, उनकी प्रशंसा या स्तुति में; जहाँ मन्त्रों की अवतारणा की गई है, वहाँ उनको 'इन्द्र का योग्य सहायक' ही माना गया है।[४] यत्र-तत्र इन्द्र के साथ ही साथ विष्णु की वीरता और पराक्रम की प्रशंसा भी की गई है।[५] वृत्र-वध के समय इन्द्र ने विष्णु से कहा, :—"सखे विष्णो, तू पूर्ण रूप से दूर होजा।" अर्थात् अपने भक्त वृत्र की सहायता न कर।[६] इसी वृत्र को सप्त-सिंधु का पहला सम्राट् माना गया है और इसका वध कर सकने के कारण ही इन्द्र

---

1. Muir, original Sanskrit Texts, IV. VII, 2 nd. ed. Ch. 2.

"Three steps he made, the herdsman sure, Vishnu, and stepped across (the world)."

2. "the taking of three steps might have formed the groundwork of the pauranik legend of the Dwarf Avatara." Early history of the Vaishnava sect.

3. Hindu Gods and Heroes, p. 89.

४. इन्द्रस्य युज्यः सखा। ऋग्वेद (मं० १, सूची० २२, मं० १६)।

५. ऋग्वेद (मं० ६, सू० ६६)।

६. अथाब्रवीद् वृत्तमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व" ऋग्वेद ४।१८।११। अनुवादक श्री धर्मानंद कोसाम्बी 'भारतीय संस्कृति और अहिंसा' पृष्ठ १२ पैरा ३५।

को वृत्रहा कहा गया है ।[१] इस समय सिन्धुदेश में विष्णु के नाम से सूर्य की पूजा की जाती थी ।[२] बाबीलोनिया में, इन्हीं सूर्य या विष्णु का नाम मर्दुक था, तो एल और पर्शियन देश में मित्र था ।[३] ऐसा माना गया है कि सप्तसिन्धु के मेरु प्रदेश में आर्यों के अग्रजन्मा उत्पन्न हुए । पीछे जब विचार-धारा में परिवर्तन हुआ और ज्ञान की विभिन्नता से सामाजिक तथा धार्मिक संघर्ष हुआ, तो अग्रजन्माओं में दो भेद प्रधान हुए । एक प्राचीन-वरुण के अनुयायी असुर और दूसरे इन्द्र के अनुयायी सुर । इन्द्र के नेतृत्व में देवगण और त्वष्टा (वृत्र) की संरक्षकता में असुर लोग रहने लगे ।[४] ऋग्वेद में त्वष्टा और इन्द्र के संघर्ष का स्पष्ट विवरण है । इस प्रकार दो विभाग हुए और पारस्परिक युद्ध भी, जिसमें वृत्र असुर के मारे जाने से असुरोपासक आर्य पश्चिम ईरान की ओर मीडिया तक हटने को बाध्य हुए । ऋग्वेद में इनको त्वाष्ट्र दास कहा गया है ।[५] यही त्वाष्ट्र वृत्रासुर था जिसका वध इन्द्र ने किया । इसी पराक्रम के कारण इन्द्र के वीर्य और पौरुष का वर्णन किया गया ।[६] वृत्र को मार कर सप्तसिन्धु के जलों को मुक्त करने का विवरण है ।[७]

धार्मिक सिद्धान्त के अनुसार, इन्द्र पहले आत्मवादी थे ।[८] जिसकी प्रतिध्वनि

---

१. 'भारतीय संस्कृति और अहिंसा' पृष्ठ १५-१७ । 'कोशोत्सवस्मारक संग्रह' में श्री जयशङ्कर प्रसाद जी का लेख "प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट"—इस लेख में प्रसाद जी ने वृत्र-वध के पश्चात् इन्द्र को आर्य सम्राट सिद्ध किया है ।

२. "भारतीय संस्कृति और अहिंसा" पृष्ठ १२ पैरा ३५ । मर्दुक (Marduk) ।

३. श्री जयशंकर प्रसाद "प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट" पृष्ठ १७६ ।

४. श्री जयशंकर प्रसाद । 'आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट' लेख में पृष्ठ १७८ ।

५. ऋग्वेद (२-११-१९) ।

६. "इन्द्रस्यनु वीर्याणि प्रवोचं" ऋग्वेद (मं० १-३२) ।

७. "अजयोगाः अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्तसिंधून" ऋग्वेद (मं १-१२) ।

८. ऋग्वेद (१०-११९)—इन्द्रविरोचन कथा में भी इसका दार्शनिक रूप है । आत्मा-स्तुति परक एक सूक्त इन्द्र का है:—

"अहमस्मि महामहोऽभिनम्यमुदीषतः ।"

बहुत काल के पश्चात् गीता में भी पाई जाती है।[१] त्वाष्ट्र आदि, वरुण के अनुयायी आकाशस्थ; संसार से बहुत ऊँचे तथा देव-विरोधी थे।[२] यजुर्वेद में त्वष्टा और वरुण का सम्बन्ध उनकी साहस्री माया से माना है।

प्राचीन काल के पूज्यमान असुर, पिछले काल में वेदों के विरोधी माने गये और देव लोग ईरानी आर्यों के यहाँ शत्रु समझे गये। आज भी ईरानी संस्कृति में 'देव' का अर्थ 'राक्षस' किया जाता है। अवेस्ता में इन्द्र को दुष्टात्मा माना है और जरत्वष्ट्र धर्म के अनुयायी को प्रतिज्ञा लेनी होती है कि—"हम देवों को भगाते हैं और अपने को जरथुस्त्रियन देव-विरोधी स्वीकार करते हैं।"[3]

इस प्रकार इन्द्र ने जब अपने विरोधी तत्त्वों को नष्ट कर दिया तो वह साम्राज्य या स्वराज्य का संस्थापक माना गया।[४] वृत्र विष्णु-भक्त था। परन्तु, पीछे स्वयं विष्णु ने या तो अपनी विचारधारा में परिवर्तन कर लिया होगा या स्वराज्य-संस्थापन के पवित्र उद्देश्य से इन्द्र की सहायता की होगी। तभी वे वृत्र का साथ छोड़ गये होंगे और उन्होंने इन्द्र को अपना लिया होगा। यह तो विश्व का शाश्वत नियम है कि नेता की पूजा की जाती है, विजेता को सम्मान प्रदान किया जाता है। इसी कारण कुछ समय तक विष्णु की अपेक्षा इन्द्र की प्रधानता तथा पूजा-प्रतिष्ठा हुई होगी। क्योंकि विष्णु उस समय प्रमुख न रहकर गौण होगए, परन्तु 'योग्य सहायक' की पदवी निरन्तर सुरक्षित रही—यह सुनिश्चित है। इसके पश्चात् ही, स्वराज्य-प्राप्ति के बाद, सुराज्य-संचालन का गुरुतर कार्य विष्णु ने वहन किया तब इन्द्र की ऐन्द्रिकता दब गई। वे त्याग की मूर्ति माने जाने लगे।

---

१. 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'—'आदित्यानामहं विष्णु ज्योतिषां रविर शुमान्'—"वेदानां सामवेदोस्मि देवानामस्मि वासवः" १०-८, २१, २२।

२. "अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनांनि सं जयामि शश्वतः।
मां हवंते पितरं न जंतवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम्।
ऋग्वेद (१०-४८)।

3. "I drive away the Devas, I profess myself a Zarathustrian an expeller of the Devas, a follower of the teachings of Ahura, a hymn-singer, a praiser of Amshaspands." (P. 55. Zoroaster)

४. "अभिष्टनेते अद्रिवो यत्स्था जगच्च रेजते।
त्वष्टा चित्तव मन्यव इन्द्र वेविज्यतेभियाचर्चन्ननु स्वराज्यम्।"
ऋग्वेद (मंडल १, स्वराज्य सूक्त ८०)।

क्रमशः वैदिक साहित्य के आरंभ में, विष्णु की सत्ता-महत्ता प्रधान हो गई। उन्होंने देवताओं के अधिकारों की रक्षा के हेतु जो भी आत्म त्याग किया, वह स्तुति का विषय बन गया।[1] वामन रूप वाली कथा के कारण, विष्णु की महत्ता में चमत्कार तथा अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव भी हो गया। राख में दबी हुई चिनगारी, समय का सहारा पाकर पुनः प्रज्वलित हो उठी। परमदेव और देवेन्द्र का पद इन्द्र के हाथ से निकल कर पुनः विष्णु के पास पहुँच गया। अन्त में 'इन्द्र-सूक्त' की भाँति ही 'विष्णु-सूक्त, की भी रचना हो गई और विष्णु को हरि, वैकुंठ, वृषण, ऋषभ, वासुदेव, वृषणोपति, केशव, बृहच्छ्रवस् आदि नाम, किसी न किसी रूप में, इन्द्र के अथवा इन्द्र सम्बन्धी किसी वस्तु के नाम से लिये गये।"[2]

इस विषय में, हमारी मान्यता यह है कि कुछ समय के लिए इन्द्र का प्रसार और प्रचार पर्याप्त रहा हो; परन्तु विष्णु की समानता में इन्द्र की महत्ता अधिक नहीं ठहर सकी और ऐसा जान पड़ता है कि इन्द्र की स्वराज्य संस्थापन की योजना परिवर्तित होकर 'योग-क्षेम' में सीमित हो गई। तभी पौराणिक-युग में उसे; किसी भी ऋषि-मुनि को उग्र तपस्या करते देख कर; अपने सिंहासन की चिन्ता में व्यस्त दिखाया गया है।

निष्कर्ष यही है कि विष्णु-पूजा में व्यवधान आने पर भी उसकी समाप्ति नहीं हुई और वैष्णव धर्म नष्ट नहीं हुआ; उसका कायाकल्प भले ही हो गया हो।

विष्णु और नारायण

वैष्णवधर्म अथवा वैष्णव-सम्प्रदाय के उपास्यदेव का दूसरा नाम 'नारायण' है। वैदिक-साहित्य में अनेक स्थलों पर यह नाम प्रयुक्त हुआ है। नारायण का नाम सबसे

---

1. "Vishnu truely is the sacrifice, by striding (Vi-kram) he obtained for the gods that all pervading power (Vikronti) which now belongs to them. By his first step he gained this same (earth), by the second this aerial expanse, and by his last (step) the sky. And this same pervading power Vishnu, as the sacrifice, obtains by his strides for him (the sacrificer), for this reason he strides the Vishnu. strides." Sat. Br; Part I, 9, 3, 9; Eggeling's translation of ths sect. Br; part I, p. 268

२. डा० गोस्वामी—"दि भक्ति कल्ट इन एन्शेन्ट इण्डिया" पृ० १०१-१०२।

पहले शतपथ ब्राह्मण में मिलता है किन्तु इस नाम का कोई सम्बन्ध विष्णु से प्रकट नहीं होता।[१] केवल तैत्तिरीय आरण्यक में, दोनों का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। ऐतरेय-ब्राह्मण में, विष्णु को देवताओं में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है।[२] तैत्तिरीय आरण्यक में, नारायण सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का समस्त ऐश्वर्य प्राप्त कर लेते हैं और ब्रह्मस्थानीय हो जाते हैं।[३] छांगोग्य उपनिषद में, सूर्य मण्डलवर्ती एक पुरुष का उल्लेख है।[४] शंकराचार्य जी का अभिमत है कि इन्हीं के द्वारा सर्वशक्तिमान परमेश्वर का निर्देश हो रहा है। हिन्दू लोगों में जिस शालिग्राम बटिया की पूजा होती है, यह वहीं सवितृमडल-मध्यवर्ती हिरण्यमय-वपु पुरुष हैं। विष्णु का चक्र सूर्य के इसी गोलाकार परिधि का परिचायक है। गायत्री-उपासना भी सूर्य की तेजस्विता की ही आराधना है।[५]

ऋग्वेद में भी ऐसा ही एक प्रसङ्ग है—"आकाश, पृथ्वी अथवा देवताओं से भी पहले, वह गर्भाण्ड रूपी वस्तु क्या थी, जो सर्वप्रथम जल पर स्थित हुई थी और जिसमें सभी देवता वर्तमान थे? जल पर वही गर्भाण्ड ठहरा हुआ था, जिसमें सभी देवता विद्यमान थे, और जो सबका आधार-स्वरूप था। वह विचित्र-वस्तु अजन्मा की नाभि पर स्थित थी, जिसके भीतर सभी जीव थे।[६] मनु के कथनानुसार, ईश्वर की प्रथम सृष्टि जल है।[७] इसी कारण 'वारि' का नाम है 'नारा' और इसी जल को आश्रय करके ईश्वर रहते हैं, अतएव उनका नाम 'नारायण' है।[८] इसी जल पर गर्भाण्ड अवस्थित माना गया है। जिसे आगे चलकर 'ब्रह्मा' की पदवी दी गई है। वह अजन्मा, जिसकी

---

१. "अर्ली हिस्ट्री आव दी वैष्णव संक्ट" डा० रायचौधरी पृ० १६

२. एतरेय-ब्राह्मण (अग्निर्वैदिवानामवयो विष्णुः परमाः)

३. तैत्तिरीय आरण्यक (१०-११)

४. छांदोग्यउपनिषद (१, ६, ६)

५. 'उच्च विषयक लेखमाला' ले० श्री नलिनी मोहन सान्याल एम० ए० पृ० ६१।

६. परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्दयस्ति।
कंस्विद् गर्भ प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यंत विश्वे ॥५॥
तमिद गर्भ प्रथम दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छंत विश्वे।
अजस्यनाभा वध्येकर्मापतं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थु ॥६॥
—ऋग्वेद, मं० १०, सू० ८२

७. "आप एव ससर्जादौ"—मनु

८. "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेनं नारायणः स्मृतः।"—मनु

नाभि पर ब्रह्मा स्थित है, वही नारायण है। नारायण शब्द के द्वारा सृष्टि-विषयक भावना भी स्पष्ट हो जाती है।[१] शतपथ-ब्राह्मण में वर्णन है कि—"पुरुष नारायण ने, एक बार, स्वयं यज्ञ-स्थान पर निवास करके, वसुओं, रुद्रों तथा आदित्यों को कहीं अन्यत्र भेज दिया और तब यज्ञ-सम्पादित करके वे सर्वव्यापी हो गये।[२] तैत्तिरीयक आरण्यक में भी नारायण की ऐसी ही विभूतियों का वर्णन है।[३] शतपथ'ब्राह्मण में भी पुरुष नारायण के द्वारा, पंचरात्र सत्र करके, सर्वश्रेष्ठ बन जाने का वर्णन है। इस प्रकार नारायण या पुरुष नारायण, परमात्मा के समान ही सर्वोच्च माने गये हैं। इन्हीं ब्राह्मण युग के नारायण को, आगे चल कर विष्णु के साथ सम्मिलित कर दिया गया है।

परन्तु 'पुरुष' के समान 'नारायण' शब्द का अर्थ हकीं भी नहीं किया गया है। पुरुष को सर्वश्रेष्ठ और विष्णु माना गया है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में, अत्यन्त विशदरूप से, पुरुष की प्रशंसा करते हुए कहा गया है :—"दृश्यमान ही पुरुष है; जो भूत और भविष्य है; उसी से सबका जन्म हुआ है। देवता-लोग अपना बलिदान उसी को देते हैं और उसी बलि-यज्ञ से पुरुष प्रकट हुआ है और तब उससे समस्त देवता, प्राणी, भूत और विभिन्न जातियाँ प्रकट हुई हैं। पृथ्वी और आकाश सभी उससे उत्पन्न हुए हैं। वह स्रष्टा और पालक हैं। उसी से अमृतत्व प्राप्त होता है। वही मोक्ष का प्रदाता है"[४].

शतपथ-ब्राह्मण में पुरुष को ही नारायण माना है।[५]. पुरुष सूक्त को आगे बढ़ाते हुए कहा है कि पुरुष-नारायण ने पंचरात्रि-यज्ञ किया और तब सब वस्तुओं की उत्पत्ति हुई।[६]. यह पंचरात्रि पांच रूपों में मानी गई है :—अर्चा, अन्तर्यामिन्, विभव, व्यूह और पर।[७]. पाणिनी ने नारायण और नर की जो परिभाषा की है, उसे सबने

---

१. डा० भांडारकर "वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स" पृ०४३।

२. शतपथ-ब्राह्मण (१२-३-४)

३. तैत्तिरीय आरण्यक (१०-११)

४. 'ए हिस्ट्री आव इन्डियन फ़िलोसफ़ी"—डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त भाग २ पृष्ठ ५३५-३७।

५. पुरुषम् हि नारायणम् प्रजापतिरुवाच। शतिपथब्राह्मण १४-३, ४।

६. पंचरात्राणाम् यज्ञ कृतम्।

7. Worship, Innercontroller, Lordly Power, Successive Highest God.

एक-सम्मत हो कर नहीं माना है।[1]. मनु ने नर की उत्पत्ति नारायण से ही मानी है।[2]. महाभारत मनु की व्याख्या को मानता है और नारायण को सर्वोपरि-देव भी माना है।[3]. तैत्तिरीय आरण्यक में नारायण को वासुदेव और विष्णु माना है।[4],

नारायण का वर्णन महाभारत के नारायणीय खण्ड में हैं। इस भाग का उल्लेख शंकराचार्य जी ने भी किया है। यह शान्ति-पर्व के अन्तर्गत है। शतपथ ब्राह्मण में नारायण को परमात्मा से उत्पन्न कहा गया है। इन्ही नारायण ने पंचरात्र को जन्म दिया है। महाभारत के वन पर्व में नर और नारायण दोनों को ऋषि कहा गया है, जो एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं दोनों में कोई अन्तर भी नहीं है और जो भगवान नर हैं तथा हरि हैं वही नारायण हैं।[5] नारद जी बदरिकाश्रम में नर-नारायण के दर्शनों को गये थे।[6]

इस मान्यता से पूर्व, विष्णु का सम्बन्ध अधिकतर यज्ञ से था और नारायण सृष्टि के मूलाधार-मात्र समझे जाते थे। धीरे-धीरे विकासोन्मुख-भावना में विष्णु और नारायण समानता प्राप्त करने लगे। दोनों का एकीकरण हो गया। ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु सबसे बड़े देवता माने गये तो ईश्वरता के भाव नारायण में अधिक प्रस्थापित हुए। विष्णु प्रायः वैदिक देवता रहे तो नारायण ब्राह्मण-कालीन और आगे चल कर वासुदेव कृष्ण पौराणिक होगये। पंचरात्र का सम्बन्ध वासुदेव से हो गया। नारायण अवतार नहीं रहे, विष्णु के स्वरूप में परिवर्तित हो गए। यथा समय इन

---

१. पाणिनी ५-१, ९९।

२. महाभारत ३—१२, ९५२। १५—८१९। १३—१३, १६८

३. नारायणम् अयानच चापिततो नारायणम् स्मृतः ५--२, ५६८

४. नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहितन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। तै० आ० पृष्ठ ७००। आनंदाश्रम प्रेस, पूना, १८९८ ई०।

५. नरस्त्वमसि दुर्द्धर्ष हरिर्नारायणे ह्यहम्।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नर-नारायणावृषी॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वतश्चरहं तथैव च।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ॥ १२। ४६-४७.

६. महाभारत। शांतिपर्व। नारायणीय अध्याय।

नारायण का भागवत, वासुदेव तथा कृष्ण के साथ विलीनीकरण हो गया। गीता में वर्णित विश्वरूप विष्णु का ही रूप है।[३]

इस प्रकार सूर्य, विष्णु और नारायण सभी 'एक' में सन्निहित हो गये और वैष्णवधर्म का उन्नयन हुआ।

३. आदित्यानामहं विष्णु ज्योतिषांरविरंशुमान्। १०-२१
"दृष्टाहित्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृति न विन्दामि शमं च विष्णो।"
"तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्रः प्रतपन्ति विष्णो॥"
११-२४। ११-३०.

वैष्णव-धर्म का विकास

यह तो हमने आरंभ में ही स्पष्ट कर दिया है कि वैष्णव-धर्म का नाम-करण चाहे जब किया गया हो, उसकी मूल-भावना तत्कालीन वर्ग में अन्तर्निहित थी। "वैष्णव" शब्द सबसे पहले महाभारत में प्राप्त होता है;[१] जिसमें कहा गया है कि—"महाभारत के पठन-मनन और अध्ययन से वही पुण्य-लाभ होता है, जो अष्टादश पुराणों के पारायण से होता है।" इससे यह तो प्रमाणित हो जाता है कि महाभारत से पूर्व, पुराण काल के आरम्भ में ही, 'वैष्णव' शब्द की उत्पत्ति हो गई थी।

वैदिक विष्णु का सम्बन्ध 'यज्ञ' से माना गया है; उनकी उपासना में 'भक्ति' को प्रधानता नहीं दी गई है।[२]

वैष्णव-धर्म तो प्रेम और भक्ति का धर्म है—फिर ?

कतिपय आलोचकों का मत है कि भक्ति की भावना विदेशी लोगों से ग्रहण की गई है; विशेषरूप से ईसाई सन्तों से—अब यह तर्क मृतप्रायः सिद्ध हो चुका है, अतएव इस पर विचार करना आवश्यक नहीं है।[३]

वैदिक-काल में 'श्रद्धा-सहित-यज्ञ' की महत्ता को सर्वोपरि माना गया है। इसी श्रद्धा मूलक भक्ति से, आर्यों का बहुदेव-वाद एकदेववाद में परिणत हो गया। यह तो सामान्य-सत्य है कि भक्ति की कोई भी भावना अनेक की अपेक्षा एक की ओर ही अग्रसर होती है। तात्पर्य यह है कि इतस्ततः विशृंखल विचार-धाराओं का सम्मिलन हुआ और वे त्रिवेणी-संगम बनकर प्रवाहित हुईं। अनेक देवों को एक ही रूप-स्वरूप में देखा जाने लगा।

कहा गयाः—"हे अग्निदेव ! तुम्ही वरुण हो, तुम्ही मित्र हो, तथा तुम्ही इन्द्र भी हो, और तुम्ही अर्यमा होकर स्वामिवत् भी कार्य किया करते हो।"[४]

यही भक्ति, आगे चल कर, प्रसादस्वरूपिणी मानी गई और इसे अनुग्रह तथा पुष्टि का नाम भी दिया गया।

---

१. महाभारत २८, ६, ९७,

2. Early History of the Vaishnava Sect. p. 18.

३. डा० गोस्वामी 'दि भक्ति कल्ट इन एन्श्येन्ट इंडिया' पृ० ६.

४. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं माहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।
—ऋग्वेद, (मं० ५, सू० ३, मंत्र १ व २)

दाक्षिणात्यों में, वैष्णव धर्म का अनुशीलन बड़े यत्न और अध्यवसाय से हुआ। यह दाक्षिणात्य भक्त लोग 'आलवार' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी भक्ति मार्गीय वैष्णवधर्म से भागवत् धर्म का जन्म हुआ और उसी का दूसरा रूप सात्वत् धर्म माना गया—इन दोनों ही धर्मों के मूल-संस्थापक श्रीकृष्ण माने गये हैं। किस प्रकार ? इसका वर्णन अन्यत्र किया गया है।

आरंभ में, विस्तार से, हमने यह प्रकाश डाला है कि भक्ति का विकास कैसे हुआ। यहाँ तो केवल इतना ही निवेदन है कि वैष्णवधर्म के प्रसार और प्रचार में भक्ति का सहयोग मुख्य रहा है। भक्ति वैष्णव धर्म का मूल है। वैष्णव लोग विष्णु को प्रेम और करुणा का आधार समझ कर, उनसे प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करते हैं! वैदिक धर्म में जीवात्मा और परमात्मा के भीतर हृदय का सम्बन्ध विरल है।

तो, भक्ति के आश्रय में वैष्णवधर्म का विशाल वट-वृक्ष पर्याप्त फला-फूला और उसने कोटि-कोटि संतप्त प्राणों को मधुरता, करुणा, स्नेह और सौन्दर्य प्रदान किया।

भागवत धर्म का अभ्युदय

याज्ञिक विधि-विधानों के प्रपञ्च से छुटकारा पाकर जब वैष्णव-धर्म भक्ति की ओर उन्मुख हुआ तो विष्णु प्रेम और करुणा के आधार तथा अवतार मान लिये गये। वैष्णवधर्म प्रेम और भक्ति का धर्म हो गया।" योषा जारमिव प्रियम्"[1] कुछ-कुछ "कामिहिं नारि पियारि जिमि" जैसा हो गया। ऐसा भी माना गया है कि बहु-देववाद की परिणति एकदेववाद में हो गई। यद्यपि अन्तिम धारणा भ्रमात्मक है, क्योंकि भारतीय-वाङ्मय में बहुदेववाद की भावना कभी नहीं रही। ऐसा जान पड़ता है कि अंग्रेजी में प्रयुक्त 'पालिथीज्म' के आधार पर 'बहुदेववाद' की सृष्टि कर ली गई है; जैसे संस्कृति को 'कल्चर' के समान माना जाता रहा है। परन्तु 'पालिथीज्म' से 'एक ऐसे देवता-विधान का वोध होता है, जिसमें बहुत से छोटे-बड़े देवता, जिनका पद गौरव और मर्यादा तथा छोटा-वड़ा भाव निश्चित हो चुका रहता है, एक महा-देवता के अधीन होते हैं। ग्रीस का बहुदेवता-विधान ऐसा ही है। वैदिक बहुदेववाद ग्रीक, रोमन, यूराल-अल्ताई अथवा अमेरिकन-अफ्रीकिन विधानों से निश्चय ही भिन्न हैं।"[2] वैदिक विधान में, जो देवता जिस समय उपासित होता है, वही बड़ा माना जाता है। इसीलिए कभी इन्द्र सर्वोपरि हैं, तो कभी विष्णु; तो कभी अग्नि, तो कभी वरुण और कभी कृष्ण। मैक्समूलर ने 'पालिथीज्म' के स्थान पर 'हेनोथीज्म, या एकैकवाद को समाहृत किया है परन्तु ज्योतिपाचार्य डा० हज़ारीप्रसाद जी द्विवेदी इस परिवर्तन या परिवर्द्धन को संगत नहीं मानते।

वैदिक ऋषियों के दृष्टिकोण से, चर्म-चक्षुओं से दिखाई देने वाला चरम ही परम नहीं है। इसके पीछे एक तेजोमय भी है। वही 'देव' है। उसी की शक्तिदात्री सत्ता व्यापक है। समस्त तेजोमय, एक महान सत्ता की शक्ति से शक्तिमान है, इसलिए न कोई देवता बड़ा है, न छोटा है। वे तो सभी एक परम-देवता के रूप हैं। विद्वान् लोग उसे विभिन्न नामों से कहें-सुनें तो होना क्या है—"एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।" तात्पर्य यह है कि वैदिक ऋषियों ने एक तत्त्व को मान्यता प्रदान की है।[3] यही पर—

१. ऋग्वेद (६, ३२, ५)— तुलसीदास।

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत "मध्यकालीन धर्म साधना" पृष्ठ ५६-५७

३. "मध्यकालीन धर्म साधना" डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी तथा "सूरदास" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० ७।

मात्वतत्त्व है और इसी विचार-धारा के द्वारा ब्रह्माण्ड को मौलिक सत्ता की एकता प्रतिपादित हुई ।

क्रमशः श्रद्धा से बढ़ कर वैष्णवधर्म की प्रगति भक्ति की ओर हुई । प्रिय अथवा उपास्य का सामीप्य उसका लक्ष्य बन गया । सौन्दर्य्य-भावना, शुद्ध अनुराग, सहृदयता, भावुकता के साथ ही साथ बाहर-भीतर दोनों ओर ब्रह्म को देखना ही पूर्णोपासना मानी गई । भारतीय-भक्ति मार्ग ने इसी पद्धति को अपनाया (और श्रीकृष्ण को पूर्णावतार माना)[१] इस भक्ति-सम्प्रदाय ने सगुण-निर्गुण दोनों का समन्वय स्वीकार कर लिया—विशुद्ध तत्त्व-ज्ञान के लिए निर्गुण तथा उपासना के लिए सगुण । इसी भक्ति- मार्ग का नाम भागवत-धर्म पड़ गया जिसमें वासुदेव की उपासना मुख्य मानी गई ।

वैष्णवधर्म के सर्वमान्य पद्म-तन्त्र में, भागवत-धर्म के विषय में लिखा हैः—
"कुरिः सुहृद भागवतः पञ्चकालवित् । एकान्तिक स्तन्मयश्च पञ्चरात्रिक 'इत्यपि ।"

भागवत् धर्म लोक में कैसे चला तथा भक्ति-मार्ग की परम्परा का उल्लेख महाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में मिलता है । इस आख्यान में बताया गया है कि इस कल्प के पहले ही भागवत-धर्म का उपदेश भगवान् ने नारद को किया थाँ । महाभारतकार ने भीष्म के मुख से कहलाया है कि इस भागवत धर्म प्रवर्त्तक चित्रशिखंडीगण (मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ) तथा स्वायंभुव मनु थे । इस धर्म का रहस्य विवस्वान् (सूर्य) ने मनु को बताया, मनु ने इक्ष्वाकु को ।[२] बहुत काल बीतने पर जब यह धर्म लुप्त प्रायः हो गया तो 'अभ्युत्थान' के हेतु[३] कृष्ण ने अपने सखा अर्जुन को बताया ।

---

१. पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते (ऋग्वेद १-२।१६४-६४)

अंतर्जामिहुतें बढ़ बाहरजामी हैं राम जो नाम लियेतें ।
पैज परे प्रहलादहु के प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिये तें-तुलसीदास

२. इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवाहनमव्ययम् ।
विवस्वान मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
एवं परम्परा प्रांप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तपः ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमन्-गीता ४ । १-३

३. यदायदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

'भगवत्' से 'भागवत' की उत्पत्ति हुई है। 'भग' संज्ञा की परिभाषा में, ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य, इन छहों गुणों की समष्टि मानी जाती है।[1] यह छहों गुण जिनमें सर्वथा सर्वदा और पूर्णरूप से विद्यमान रहते हैं, उन्हीं का नाम भगवान है।

भगवत्ता अपरिच्छेद्य अर्थात् असीम वस्तु है तथापि उसके भीतर दो प्रकार की गुण-राशियाँ मानी गई हैं; एक ऐश्वर्यपक्षीय और दूसरी माधुर्यपक्षीय। जिसके ज्ञान से गौरव, संकोच, मर्यादा, भय प्रभृति का उदय हो, वह ऐश्वर्य है और जिससे चित्त में आकर्षण, स्नेह, दर्शनोत्कंठा आदि उदित हों, वही माधुर्य है।

शास्त्रों में भगवान में चौंसठ गुणों की अवधारणा की गई है। इनमें से पचास गुण तक तो जीवों में भी यदा-कदा प्राकाशित होते रहते हैं। इनके अतिरिक्त पाँच गुण और है जो रुद्रादि में प्रगट होते हैं। अन्य पांच गुण श्रीयति तक में आविर्भूत हैं, परन्तु शेष चार अर्थात् लीलाधिक्य; प्रेम से प्रियाधिक्य; रूपमाधुरी और वेणु-माधुरी; यह केवल नंदनन्दन श्रीकृष्ण में ही प्रकाश पाते हैं। इसीलिए जीव-तत्त्व मधुर-रस की उपासना से प्रभु का साक्षात्कार केवल श्रीकृष्ण स्वरूप में ही कर सकता है—जैसा कि गोपियों ने लाभ प्राप्त किया।

इसी भक्ति-तत्त्व की प्रधानता के कारण भगवत्धर्म को पाँचरात्र अथवा एकान्तिक अथवा सात्वत् की उपाधि से भी विभूषित किया गया। महाभारत में पाँच प्राचीन मतों का उल्लेख है।[2] सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद तथा पाशुपत। पाञ्चरात्र और पाशुपतमत सगुणोपासना व्यापक हैं, इसके मूलाधार नारायण हैं और साधना का मार्ग एकान्तिक भक्ति है।[3] इसमें चतुर्व्यूह की कल्पना की जाती है, जिसमें निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ भगवान वासुदेव हैं और जब उनका अवतार जीव-रूप में होता है तो वे संकर्षण कहे जाते हैं, और जब संकर्षण के द्वारा मन-रूप में अवतार होता है तब प्रद्युम्न से उत्पन्न

---

१. ऐश्वर्य = सबको वश में करने का सामर्थ्य, सर्ववशीकारिता। वीर्य = मंत्रादि के प्रभाव के समान प्रभाव। यश = वाणी, मन एवं शरीर का सद्‌गुण विशिष्ट होना। श्री = सर्वविधि सम्पत्ति। वैराग्य = संसार के सारे पदार्थों में अनासक्ति। ज्ञान = सर्वज्ञता।

२, ३, 'मध्यकालीन धर्म साधन" डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी।

अहंकार का नाम ही ईश्वर है जिसे अनिरुद्ध पुकारते हैं। गीता भागवतों का सर्वमान्य ग्रन्थ है। उसमें 'वासुदेव' को परम देवता परब्रह्म माना गया है।[1].

महाभारत के नारायणीय पुराण में एकान्तिक-मार्ग का जो वर्णन है वह अत्यन्त परिष्कृत और स्पष्ट है। एकान्तिक-भक्ति का मार्ग अति प्राचीन है।[2].

'पाँचरात्र' की 'लक्ष्मी संहिता' में छह प्रकार की प्रपत्तियों का वर्णन किया गया है :—[3]. (१) आनुकूल्य का संकल्प। आत्मा-परमात्मा को सर्वत्र व्याप्त जानकर जीवमात्र के अनुकूल होना। (२) प्रातिकूल्य का त्याग-प्राणिमात्र की हिंसा तथा प्रतिकूल न होना। (३) विश्वास-कि भगवान ही रक्षक हैं। (४) कृयावन्त—भगवान् से संसार निवृत्ति पूर्वक अंगीकार करने की प्रार्थना करना। (५) आत्म-निवेदन-अपना कर्म-धर्म सभी तथा आत्मा का समर्पण। (६) अहंकार का नाश तथा दीनता के भाव धारण करना। कालान्तर में, यही प्रपत्तियाँ पुष्टि-मार्ग की जन्मदात्री हुईं, जिसकी छत्र-छाया में कृष्ण-काव्य पल्लवित प्रस्फुटित तथा विकसित हुआ। सूरदास की रचनाओं में यह सभी अंग विद्यमान हैं।[4]. उन्होंने आत्मदोष तथा अपनी अकिंचनता के प्रकाश-

---

१. अवतारवाद के दृष्टिकोण से भगवान के पुरुशावतार, गुणावतार तथा लीलावतार माने जाते हैं। पुरुशावतार भी तीन है, महत्तत्व के सृष्टा प्रथम पुरुष संकर्षण, अन्तर्यामी द्वितीय पुरुष प्रद्युम्न, व्यष्टि जगत के अन्तर्यामी अहंकार अनिरुद्ध। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चारों में प्रथम पुरुष अवतारी श्रीकृष्ण हैं शेष उनके पुरुषावतार हैं। गुणावतारी भी तीन हैं, सतोगुणावतार से ब्रह्मा, रजो गुणावतार से विष्णु तथा तमोगुणावतार से रुद्र। लीलावतार चौबीस हैं, चतुः सन, नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयशीर्ष, हंस; ध्रुवप्रिय, ऋषभ, पृथु, नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, राम, व्यास, बलराम, बुद्ध और कल्कि। श्रीकृष्ण की गणना नहीं करते क्योंकि वे स्वयं भगवतस्वरूप हैं। वे अवतारी हैं।

२. महाभारत, शान्तिपर्व, ३४९ अध्याय।

३, आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्म निक्षेपकवार्पण्ये षड्विध्न शरणागतिः।

—पाञ्चरात्र लक्ष्मीतंत्र संहिता, साधनाङ्क, 'कल्याण' अगस्त् सन् १९४० ई० में उद्धृत 'लेखाभ्यास-विद्या' पृष्ठ ६०।

४. "अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय" लेखक डा० दीनदयाल जी गुप्त पृष्ठ ६७१

नार्थ तथा अभिमान के परित्यागहेतु, दीनता और आत्मनिवेदन सहित शरण प्राप्ति के लिए आर्त्त विनय-संयुक्त पदों की रचना की है।

गीता में तो भागवत्-धर्म के अन्तर्गत भक्ति को बहुत महत्व दिया गया है और पाँचरात्र में तो सर्वोपरि माना है। इसी को सात्वतधर्म का नाम भी दिया है, जो निष्काम भक्ति का मार्ग माना गया है।[1] एकान्तिक का अर्थ निष्काम-भक्ति-मार्ग ही वरण किया गया है।[2]

भागवत को भी एकान्तिक-मत प्रिय है।[3] इस प्रकार की भक्ति-साधना के हेतु अवतार की कल्पना अवश्यंभावी होने से भगवान् के विविध नामों का उद्भव हुआ और अवतारों के द्वारा वैयक्तिक सम्बन्धों की पुष्टि हुई। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण को भी पुष्टि-मार्ग आदि सम्प्रदायों में अवतार ग्रहण करना पड़ा। इतना ही क्यों, विभिन्न महात्माओं तक को अवतार-कोटि में रखा गया। कबीर और गोरखनाथ भी अवतार माने गये।

पाञ्चरात्र के उपासक भागवत कहे जाते हैं। इस मत का सर्वमान्य ग्रन्थ 'पद्म-तन्त्र' है।[4] इस मत में २१० तक संहिताएँ मानी जाती हैं। इनका काल-निर्णय बड़ा कठिन है। ईस्वी सन् से पूर्व भी कई संहिताओं का अस्तित्व था। यह संहिताएँ वैष्णवों की कल्पसूत्र मानी जाती हैं। यह मत, जैसा कि बताया जा चुका है चतुर्व्यूह-सिद्धान्त को मानता है।[5] भागवत-धर्म या वैष्णव भक्ति-मार्ग की साधना का आधार मानव की सहज रागात्मिका-वृत्ति है।[6]

इस प्रकार भागवत धर्म, पांचरात्र, सात्वत अथवा एकान्तिक नामों को ग्रहण करता हुआ, वैष्णव-धर्म की पृष्ठभूमि को साथ लेकर विकसित तथा पल्लवित हुआ, जिसे श्रीकृष्ण की गीता ने पुनरुत्थित किया।

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३४८

२. डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का अभिमत।

३. न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता एकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥
भागवत स्कंध ११, अध्याय २०।

४. श्रेडरकृत 'इन्ट्रोडक्शन टु दि पाँचरात्र एण्ड आहिर्बुध्न्य संहिता' पृष्ठ २२।

५. वासुदेव से संकर्षण (जीव), संकर्षण से प्रद्युम्न (मन), और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार)

6. Psychology of human emotions.

श्रीकृष्ण

धार्मिक भावना से प्रवुद्ध-भारत ने श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता-अनैतिहासिकता के प्रति कभी किसी शंकाशील दृष्टिकोण को स्थान नहीं दिया। परन्तु पाश्चात्य-विद्वानों ने अकारण ही इसे एक समस्या का स्वरूप प्रदान किया और विवेचनात्मक-प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया। कुछ आलोचकों का मत है कि भारतीयों के धार्मिक विश्वास को शतधा खण्ड-खण्ड करने के हेतु यह राजनैतिक-प्रवीणता का पहला प्रहार था। दूसरे पक्ष वालों ने इसे मसीही-मान्यता की सर्व-श्रेष्ठ स्वीकृति के हेतु विफल-षड़यन्त्र माना है।

श्रीकृष्ण का अस्तित्व (Existence)

इस दिशा में, एक वर्ग उन आलोचकों का है, जो यह कहते हैं और सिद्ध करने की क्षमता का दावा भी करते हैं कि श्रीकृष्ण नाम का कोई व्यक्ति, कभी अस्तित्व में आया ही नहीं। यह तो एक भावना है जो ईसा से प्राप्त हुई है और भक्ति-मूलक होने के कारण प्रस्फुटित तथा पल्लवित हो गई तथा आगे चल कर भावना-विभोर कवियों और धार्मिकों ने उसका रूप निर्धारित कर दिया है।

लासेन महोदय का तो यह मत है कि अन्धकार का नाम ही कृष्ण है। यह सब रूपक मात्र है।[1]

प्रसिद्ध फ्रान्सीसी लेखक बोरनफ (Bournouf) का कथन है कि बौद्ध-शास्त्र में कृष्ण का नाम कहीं-नहीं आया है, अतएव बौद्ध उपासना के पश्चात् ही कृष्ण की भावना का आविर्भाव हुआ है।[2]

अन्य आलोचकों में ग्रियर्सन, कैनेडी और वैवर आदि प्रमुख हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि इन आलोचकों की जिज्ञासा श्रीकृष्ण की वास्तविकता के उद्घाटन के प्रति सात्विक नहीं रही; बल्कि 'धूल उड़ाने' की प्रवृत्ति बलवती रही है; चाहे इसका कारण कुछ भी हो। वैष्णव धर्मावलम्बियों ने, भक्ति-भावना की प्रमुखता के कारण श्रीकृष्ण नाम की उद्भावना कर ली है—ऐसा मत है इन योरोपीय विद्वान् आलोचकों का।

---

१. प्रसिद्ध जर्मनी विद्वान्। "कृष्ण चरित्र" पृष्ठ ३८।

२. "कृष्ण चरित्र" पृष्ठ ४९

यह कहना कि "कृष्ण नाम का कोई व्यक्ति कभी हुआ ही नहीं है;" निराधार और भ्रम-मूलक जान पड़ता है; क्योंकि जो कभी हुआ ही नहीं, उसके विषय में वार्त्ता-विवाद की संभावना ही नहीं हो सकती है। ईश्वर के सम्बन्ध में दार्शनिकों का यही मत है कि जब ईश्वर है ही नहीं तो उसकी चर्चा कैसे हो सकती है—अतः प्रमाणित हुआ कि ईश्वर है। उसे खोजना और पाना यह जिज्ञासु अथवा अर्थार्थियों का प्रयत्न और प्रयास होना चाहिए।

फिर भी, आज के बौद्धिक-युग में, जब तक प्रबल प्रमाण उपस्थित न किये जाएँ, मानव किसी सिद्धान्त को मान्यता नहीं देता है। इसी हेतु हम उन्ही पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार की धारणा के उद्‌घाटक हैं।

श्रीकृष्ण का वृत्तान्त 'महाभारत' में विशदरूप से पाया जाता है। एक प्रकार से वही अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है, जिसे साक्षी-रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यों तो इसे पाण्डवों का इतिहास कहा जाता है परन्तु इसमें कृष्ण का वर्णन भी मुख्य रूप से किया गया है।

महाभारत इतिहास ही है।[1] इसे इतना प्राचीन माना गया है कि वह विश्व का पहला इतिहास कहा जाता है। केवल पद्य में होने के कारण ही उसे 'महाकाव्य' कहकर नहीं छोड़ा जा सकता। पाणिनी के सूत्रों में 'महाभारत' शब्द आया है और युधिष्ठरादि के नाम भी हैं।

श्री लासेन ने यह माना है कि महाभारत में ऐतिहासिकता है। सर्व श्री वेबर, सर मोनियर विलयम्स तथा रमेशचन्द्रदत्त भी ऐसा ही मानते हैं।[2] श्रीटलबोयज ह्वीलर भी किसी अंश तक ऐसा ही मानते हैं कि महाभारत में थोड़ी बहुत ऐतिहासिकता है।[3]

---

१. धर्म्मार्थ काम मोक्षाणाम उपदेश समन्वितम।
पूर्व्ववृत्तकथा युक्तम् इतिहासं प्रचक्षते॥

२. "कृष्ण चरित्र" पृष्ठ ४१।

3. The adventures of the Pandvas in the Jungle and their encounters with Asuras and Rakshasas are all palpable fictions, still they are valueable as traces which have been left in the minds of the people of the primitive wars of the Aryans against the Aborigines."—Talboys wheeler.

सो, 'महाभारत' में कृष्ण चरित्र होने से इस शंका का समाधान हो जाता है। कृष्ण का अस्तित्व था। इतना तो प्रमाणित होता ही है कि कृष्ण थे, और वे पाण्डवों के सहायक थे।

दूसरा प्रमाण। ऋग्वेद संहिता में कृष्ण का नाम अनेक वार आया है और प्रो० कीथ इस संहिता का समय ईसा से पूर्व ८००-६०० वर्ष मानते हैं।[1]

तीसरा प्रमाण। ऋग्वेद में ईसा से साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व की ऋचाएं होना संभव है।[2] और ऋग्वेद में कृष्ण का वर्णन है।

इस प्रकार यह तो प्रमाणित हो जाता है कि कृष्ण नामक व्यक्ति का अस्तित्व था।

ऐतिहासिक श्रीकृष्ण—

इतिहास ऐसे ग्रन्थों को कहा जाता है जिनमें पुरावृत्त अथवा प्राचीन काल में जो कुछ हुआ हो, उसका वर्णन किया जाय और जिन-जिन व्यक्तियों का वर्णन हो या विवरण दिया गया हो, वे ऐतिहासिक कहे जाते हैं। इस परिभाषा के अनुसार महाभारत एक इतिहास है, जिसमें पाण्डवों के प्रिय सहायक-सखा श्रीकृष्ण का उल्लेख सविस्तार किया गया है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ऐतिहासिक प्रमाणित हो जाते हैं।

फिर भी, इस तत्त्व को सत्य की कसौटी पर कसने के हेतु, हम उन आक्षेपों पर भी विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं, जो श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते हैं। इनमें पाश्चात्य तथा पौरस्त्य दोनों ही आलोचक-विद्वान् सम्मिलित हैं।

सिल्यूकस (Seleucus) का यवन राजदूत मैगस्थनीज, सम्राट चन्द्रगुप्त के दरबार में ईसवी सन् से लगभग ४०० वर्ष पूर्व आया था। ईस्वी सन् से ३३३ वर्ष पूर्व यूनानी बादशाह सिकन्दर ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की थी और उसके छह वर्ष पश्चात् अर्थात् ईस्वी सन् ३२७ पूर्व उसका देहान्त हो गया। तभी सिल्यूकस निकातर (Nixator) उसका उत्तराधिकारी हुआ और फारस देश की युफ्रटीज (Euphrates)

---

1. The most that can he said is that they tend to support the period 800–600 B. C. as a reasonable date for the period of the Civilisation of the Brahmanas. 'Cambridge History of India Vol. I. pp. 149.

२. "भारतीय संस्कृति और अहिंसा" स्व० धर्मानद कोसाम्बी पृ०३५।

नदी से लेकर सिन्धु नदी तक समस्त प्रान्त पर राज्य करने लगा। उसने भारत के चक्रवर्ती सम्राट चन्द्रगुप्त के यहाँ अपना राजदूत भेजा-यह परम ऐतिहासिक तत्त्व है। मैंगस्थनीज यहाँ वर्षों तक रहा और भारत के विषय में उसने जो भी कुछ लिखा, उसका संरक्षण-प्रकाशन ऐरियन (Arrian) ने किया हैं।[1] मैंगस्थनीज ने लिखा है :—"वह भारतीय हैराक्लीज अर्थात् श्रीकृष्ण शारीरिक एवं आत्मिक बल में सबसे बढ़ा-चढ़ा था। उसने सारी पृथिवी और समुद्रों को पाप-शून्य कर दिया था। कई नगर वसाये थे। उसके इस संसार से चले जाने के बाद लोग उसे ईश्वर की भाँति पूजने लगे। भारतवर्ष की शौरसेनी (यादव) जाति के लोग उस हैराक्लीज की विशेषरूप से पूजा करते हैं। मथुरा और क्लीसोबरा नामकी दो बड़ी नगरियों पर इस जाति का आधिपत्य हैं और इन दोनों के बीच में जोहारीज अर्थात् यमुना नदी बहती है।[2]"

प्लिनी (Pliny) नामक यूनानी इतिहास-लेखक ने क्लीसोबरा को कृष्ण-पुर (कृष्ण की नगरी) का विकृत रूप माना है। हो सकता है यह द्वारिका का नाम हो।

जर्मनी-विद्वान् प्रो० लैसन (Lassen) की धारणा है कि भारतीय हैराक्लीज के नाम से मैंगस्थनीज ने श्रीकृष्ण का ही निर्देश किया है। प्रो० विल्सन का मत है कि यूनानी लेखकों ने 'हैराक्लीज' शब्द का प्रयोग श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम के लिये किया है।[3]

भारतीय हरकूलीज के सम्बन्ध में कप्तान विलफर्ड ने लिखा है—"सिसेरो (cicero) नामक यूनानी इतिहास लेखक के मत में भारतीय हरक्यूलीज का नाम बैलस था। यही श्रीकृष्ण के बड़े भाई बल थे। इन दोनों भाइयों की मथुरा में साथ ही पूजा की जाती है। यही नहीं, वास्तव में इन दोनों को मिला कर ही भगवान् विष्णु का अवतार

---

1. Arrian's Anabasis of Alexander and India, Translated by E. J. Chinnock. Page 408.

2. "He, The Indian Heracles, excelled all man in strength of body and spirit, he had purged the whole earth and sea of evil and founded many cities ; and after his death divine honours were paid. This Heracles is specially worshipped by the Sourasenians, an Indian Nation in whose land are two great Cities Mathura and Cleisobara, and through it flows the navigable river Johares (Jumna)".

3. Anacalypsis by Higgins.

मानते हैं। 'वल' के विषय में यह लिखा है कि वे अत्यन्त बलिष्ठ थे और अपने पास हल-मूसल रखते थे। उन्हें वलराम भी कहते हैं। विष्णु अर्थात हरि के अवतार होंने से वे सचमुच हरि-कुल अर्थात् हरिक्यूलीज थे।[१]

संस्कृत में 'हरि' का अर्थ है 'उद्धारक' और कुल का अर्थ है वंश। अतः हरि-कुलस का अर्थ हुआ "हरि के कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष।" हिगिन्स का मत है कि यह शब्द न तो यूनानी का है और न लैटिन का।[२]

जो भी हो, यदि मैगस्थनीज का हैराक्लीज शब्द भी वलराम के लिए समझ लिया जाए तो भी श्रीकृष्ण की अनैतिहासिकता सिद्ध नहीं हो पाती है।

ऐरियन ने लिखा है कि सिकन्दर ने उन नगरों और राज्यों को देखा, जिन पर श्रीकृष्ण के वंशज शूरसेन नामक क्षत्रियों का आधिपत्य था।[३]

"ऐरियन और स्ट्रैबो इन दोनों विद्वानों का मत है कि भगवान् श्रीकृष्ण की प्राचीन काल में मथुरा-नगरी में पूजा होती थी, जो यमुना-नदी के तट पर बसी हुई है। और वहाँ अब भी उनकी पूजा होती हैं; किन्तु इस देवता के चिन्हों और गुणों का पाश्चात्य जगत की पौराणिक गाथाओं में समावेश हो गया है।"[४]

---

2. "The Indian Hercules, according to Cicero, was called Belus. He is the same as Bala, the brother of Krishna, and both are Conjointly worshipped at Muttra; indeed, they are cosnidered as one Avatar or Incarnation of Vishnu. Bala is represented as a stout man with a club in his hand. He is called also Balarama. As Bala, springing from Vishnu or Hari, he is certainly Heri-cula, Heri-culas, Herecules." Captain Wilford (कल्याण श्रीकृष्णाङ्क ३५३)

1. Anacalypsis Vol. I, p. 329.

2. Monumental Christianity p. 151-152

3. "Both Arrian and Strabo assert that the God Krishna was anciently worshipped in Mathura on the river Jumna, where he is worshipped at this day, but the emblems and attributes essential to this deity are also transplanted into the mythologies of the west."

एक दूसरे प्रसिद्ध अंग्रेज-विद्वान् तथा पूरातत्त्व-विशारद सर गॉडफ्रे हिगिन्स ने पर्याप्त अनुसंधान और विवेचना के पश्चात् यह प्रमाणित किया है कि श्रीकृष्ण का जन्म "पीतल के युग" के अन्त में हुआ था।

"श्रीकृष्ण ने अत्यन्त विलक्षण एवं असाधारण भक्तिमय जीवन व्यतीत किया। अत्याचारी कंस से इनका जीवन छिपा कर रखा गया था। क्योंकि उसे किसी ने यह बात कह रखी थी कि अमुक समय में उस कुल में उत्पन्न होने वाला पुरुष तुम्हारे अर्थात् तुम्हारी सत्ता के नाश का कारण होगा।"[१].

यूरोपियन इतिहास-लेखकों ने हमारी ही भाँति सृष्टि को कई भागों में विभाजित किया है। आरंभिक (आदिम) युग को वे 'पत्थर का युग' (Stone-Age) मानते हैं, जिसमें मानव ने पत्थर के उपकरणों का प्रयोग सीखा। इससे आगे 'तांबे का युग' (Copper Age) आता है, जब कि तांबे के उपकरणों का प्रचार हुआ। तदन्तर "पीतल का युग" (Bronzen Age) माना जाता है। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार सत युग और त्रेता के पश्चात् यह तीसरा युग द्वापर ही ठहरता है—इसी युग के अन्त में श्रीकृष्ण का अवतार लेना माना जाता है।[२].

पाश्चात्य विद्वानों में सर विलियम जोन्स पहले व्यक्ति थे जिन्होने संस्कृत का अध्ययन किया था। भारतवर्ष में कई वर्ष रहने के पश्चात् उन्होंने लिखा है कि :— "हमें इस बात का निश्चय है कि हमारे प्रभु (ईसामसीह) के जन्म से बहुत पहले और कदाचित् यूनान के आदि कवि होमर से भी पूर्व (जिनका काल ईस्वी सन् ९०० से पूर्व माना जाता है) श्रीकृष्ण का नाम और उनके जीवन का स्थूल वृत्तान्त भारतीयों को विदित था।"[३].

---

1. "He passed a life of the most extra-ordinary and in comprehensible devotion. His birth was concealed from the tyrant Kansa, to whom it had been predicted that one born at that time and in that family would destroy him, i.e. his power"—Sir Godfrey Higgins "Anacalypsis".

2. "Great Saviours of the World" by Swami Abhedananda.

3. "That the name of Chrishna and the general time of the history were known in India long anterior to the birth of our saviour and probably to the time of Homer (900 B. C) we know very certainly.' Sir William Jones "Asiatic Researches" Vol. I p. 273.

यह तो हुई योरप वालों की बात। भारतीय-साहित्य का सिंहावलोकन करते हुए यह दृष्टिगोचर होता है कि जैनधर्म की परंपरा के अनुसार श्रीकृष्ण, उनके २२ वें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि अथवा नेमिनाथ के समकालीन थे और यह नेमिनाथ उनके २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के समय अर्थात् ईसा से पूर्व ८१७ वें वर्ष से भी पूर्व हो चुके थे [1].

(भूपाल से लगभग २५-२६ मील पर 'भेलसा' स्थान है, यहाँ) वैसनगर में जो शिलालेख है, वह ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी का है। [2]. इसमें उत्कीर्ण है कि ग्रीक राजा आंतालकिदस के दूत श्री हेलियोदोरस ने, जो भागवत धर्मानुयायी थे, वासुदेव की प्रीति के लिए गरुड़ की मूर्त्ति से संयुक्त एक ध्वज-स्तम्भ स्थापित किया था। [3]

इससे कुछ ही पूर्व एक दूसरा शिला-लेख भी प्राप्त है, जिसमें गोतमी-पुत्र के द्वारा प्रसादोत्तम-मंदिर में गरुड़ मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। इसी समय के आस-पास का एक शिला-लेख और भी मिला है, जिसमें मकरध्वज की मूर्त्ति बनी है, जो वासुदेव श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का ध्वज-चिन्ह था। इससे भी पूर्व के उत्कीर्ण राजपूताना के उदयपुर प्रान्त के अन्तर्गत घसंडी के लेख से ज्ञात होता है कि एक पाषाणमय प्राचीर (लूडर नं० ६) निर्मित्त हुआ था। [4] ईसा से पूर्व नानाघाट के शिलालेख में संकर्षण अथवा वासुदेव की स्तुति अंकित पाई गई है। [5] (ईसा २०० वर्ष पूर्व)

पौराणिक श्रीकृष्ण

विभिन्न पुराणों में श्रीकृष्ण का वर्णन है। पुराण का अर्थ है—"जिसमें पूर्व काल की परम्परा कही गई हो।"

सूतों का काम पुराणों में वर्णित प्राचीन राजाओं का वर्णन करना था। मागध लोग थोड़े ही समय पूर्व मरे हुए शूर-वीरों का गुणगान करते थे और युद्ध में विजयी

---

१. "अर्ली हिस्ट्री आव दि वैष्णव संक्ट" डा० राय चौधरी पृ० २२ व २९

२. लूडर नं० ६६९ Epigraphia Indica, vot x Appendix Vogel' Asl, 1908-9, 126-29, Besnagar ancient Vidisa, is in Eastern Malwa.

३. "अर्ली हिस्ट्री आव दि वैष्णव सैक्ट" पृ० २२-२३.

४. लूडर नं० ६ Ind. Ant. 1932, 203 ff. राजपूताना (वर्तमान राजस्थान) में उदयपुर के नागरी नामक स्थान से घोसुंडी छह मील दूर पर स्थित है।

५. लूडर नं० १११२, नानाघाट दक्षिण में है।

जीवित राजाओं और वीर-पुरुषों की कीर्ति का वर्णन वंदियों द्वारा होता था। इस कारण पुराणों का वर्णन विशेषतः सूतों के द्वारा ही हुआ है। इससे यह जान पड़ता है कि आर्य-जाति के आरंभ-काल से ही पुराणों की सामग्री प्रस्तुत होने लगी थी। मत्स्य-पुराण में लिखा भी है—"ब्रह्मा ने सब शास्त्रों से पूर्ण 'पुराण' कहा (एक वचन देखने योग्य है)......आदिकल्प में पुराण एक ही था, पर क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सौ करोड़ श्लोकों का हो गया, तब उस सामग्री में से चुनकर सत्यवती-सुत व्यास जी ने चार लाख श्लोकों के १८ पुराण रचे। उनके पश्चात् महाभारत बनाया........। १. "सभी शास्त्रों के पहले ब्रह्मा से पुराण की उत्पत्ति हुई।"[२]

'सुत्त नियात' बौद्ध धर्म का ग्रन्थ है। इसका समय ईसा से ३५०. वर्ष पूर्व है। इसमें भी पुराण शब्द आया है।

श्री मेकडानल मानते हैं कि पुराणों में बहुत सी सामग्री पुरानी है और जो बात पुराणों में और महाभारत अथवा मनु में समान रूप से हैं, वे महाभारत या मनु से उद्धृत हों, ऐसा सदैव आवश्यक नहीं हैं।[3]

श्री विलसन भी ऐसा ही मानते हैं—"बहुत से पुराणों का बहुत विशेष भाग और सब पुराणों का कुछ मात्र असल और पुराना है।"[४]

---

१. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्राह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥ ३ ॥
पुराणमेकमेवासीत्सदा कल्पांतरेऽनघ।
त्रिवर्ग साधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरं ॥ ४ ॥
चतुर्लक्षमिदं प्रोक्तं व्यासेनाद्भुतकर्मणा।
अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ॥
भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपवृंहितं ॥ २९ ॥ मत्स्यपुराण अ० ५३

२. प्रथमं सर्व शास्त्राणां पुराणं स्मृतं
अनन्तरश्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।—१—५८ ब्रह्माण्डपुराण

3. "Nevertheless they contain much that is old and it is not always possible to assume that the passages they have in common with the Mahabharat and Manu have been borrowed from these works" History of the Sanskrit Literature by Macdonald.

4. "A very great portion of the contents of many, and some portions of the contents of all, is genuine and old" —Vishnu-Puran.

विष्णु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड और पद्म पुराणों की सर्ग-प्रक्रिया समान है।

श्री विन्सेन्ट स्मिथ और श्री पार्जीटर पुराणों को अति प्राचीन मानते हैं।[१] पुराणों में श्रीकृष्ण का वर्णन दिया गया है। इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

१. ब्रह्म पुराण—अध्याय १७९-२१२ ऋषियों ने भारतवर्ष और पुरुषक्षेत्र के माहात्म्य के पश्चात् व्यास जी से बल्देव और श्रीकृष्ण के अवतरण की कथा-प्रवचन का अनुरोध किया और तब अध्याय १८१ से कथारम्भ होता है। (आनन्दाश्रम संस्करण)

२. विष्णु पुराण—अंश ५, अध्याय १-३८। अन्यान्य राजाओं के वंश-विवरण के पश्चात् मैत्रेय ने श्री पराशर से निवेदन किया कि वह यदुवंश में विष्णु के अंशावतार की कथा कहें। श्री विल्सन के मतानुसार ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण दोनों के वृत्तान्तों में अति साम्य है परन्तु विष्णु पुराण में किंचित आधिक्य है।[२]

३. पद्म-पुराण—उत्तरखंड, अध्याय २७२-३७९। भगवान रुद्र के द्वारा शक्ति पार्वती को रामचरित्र सुनाने के पश्चात् श्रीकृष्ण वासुदेव का जीवन-विवरण कहा जाता है। (आनंदाश्रम संस्करण १८९४ ई०)

४. हरिवंश पुराण—अध्याय ४१-१९०। देवताओं के द्वारा भगवान विष्णु को निद्रोत्थित किया जाता है। पाण्डव-कौरव इस समय तक प्रादुर्भूत हो चुकते हैं। नारद देवताओं की सभा में उपस्थित होकर कंस के अत्याचारों की कथा सुनाते हैं और भगवान विष्णु से अवतार लेने की प्रार्थना करते हैं। विष्णु ब्रह्मा से विचार-विनिमय करते हैं और तब श्रीकृष्ण वासुदेव अवतार लेते हैं। (कलकत्ता संस्करण)

५. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण—"श्रीकृष्ण जन्म खण्ड"। श्रीदामा के द्वारा राधा को शाप दिया जाता है कि वह ग्वालिन के रूप में जन्म धारण करे और राधा के संरक्षणार्थ श्रीकृष्ण अवतार लेते हैं। पृथ्वी की प्रार्थना, आदि प्रकरण अध्याय ४ से, आरंभ होती है। (अति प्राचीन संस्करण जिसका मुखपृष्ठ नहीं है—भंडारकर रिसर्च इन्सटीट्यूट पूना)

---

1. Dynasties of the Kali Age तथा Ancient Indian Historical Traditions by Mr. Pargitor.

2. Edition printed at the Vrttalipa Press, by Visvanath Bhaskara Bhaganata ; text with commentang Vaisnavakuta Candrika by Sri Ratnajasbha Bhattacarya.

६. भागवत पुराण—स्कन्द १०-११। भगवान् के पूर्णावतार श्रीकृष्ण के जन्म और लीला आदि के सम्बन्ध में शुकदेव जी राजा परीक्षित को बताते हैं। (कुंभ-कोणम् संस्करण)

७. वायु पुराण—अध्याय ६६। अध्याय ६४ से यदुवंश का परिचय चलता है तथा श्लोक ३० में सम्यमन्तक-मणि की कथा से सम्बद्ध कृष्ण और बलराम का तथा उनके जन्मादि का विवरण है। (आनंदाश्रम संस्करण)

८. देवी भागवत पुराण—स्कन्ध ४, अध्याय १८-२५। व्यास तथा जनमेजय का वार्तालाप। जनमेजय अध्याय १७ में कृष्ण तथा राम की कथारंभ करते हैं और वासुदेव श्रीकृष्ण के विषय में बताते हैं। (लेले का संस्करण, मराठी अनुवाद)

९. अग्नि पुराण—अध्याय १२। अग्नि के द्वारा विष्णु के विभिन्न अवतारों में राम तथा श्रीकृष्णावतार का वर्णन किया जाता है—"हरि वंशम् प्रवक्ष्यामि" (अ० १२ श्लोक १) (आनंदाश्रम संस्करण)

१०. लिङ्ग पुराण—अध्याय ६०। सात्वत वंशावली के वर्णन में कंस के साथ ही यह वर्णन है कि वसुदेव तथा देवकी ने श्रीकृष्ण को जन्म दिया (कलकत्ता संस्करण, श्री जीवानंद विद्यासागर द्वारा अनूदित)

११. महाभारत—पाण्डवों और श्रीकृष्ण दोनों की कथाएँ मिश्रित रूप में उपस्थित की गई हैं। भारत में युवा श्रीकृष्ण का परिचय प्रधान है। आदिपर्व (१, ६४, १४१-१४६) में अंशावतारों का विवरण देते हुए श्रीकृष्णावतार का भी उल्लेख है। (कुंभकोणम् संस्करण)

जैन हरिवंश पुराण—लेखक श्री जिनसेन। समय शकाब्द ७०५। इस पुराण में जैनियों के तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ जी का वर्णन ही प्रधान है परन्तु श्रीकृष्ण और पांडवों की कथा भी दी गई है। यद्यपि कहीं-कहीं कथा में वैविध्य जान पड़ता है परन्तु शेष भाग अन्य पुराणों के समान ही हैं। (शोलापुर संस्करण का हिन्दी अनुवाद)

ब्रह्मपुराण की कथा विष्णुपुराण से भी प्राचीन जान पड़ती है। पद्मपुराण, अग्निपुराण, भागवत पुराण तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणों में विशेष अध्यायों में श्रीकृष्ण चरित्र का वर्णन है। वायु-पुराण और लिंग पुराण में यादव-वंशवृत्त में श्रीकृष्ण का विवरण है। अग्निपुराण में बाणासुर संग्राम के समय श्रीकृष्ण का विवरण दिया गया है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में श्री राधा की महत्ता को महत्त्वपूर्ण मान्यता देते हुए, उनके जीवन से सम्बद्ध श्रीकृष्ण का चित्रण है। हरिवंश पुराण एक प्रकार से महाभारत का पूरक है। भागवत पुराण नितान्त पुराण है।

ब्रह्म तथा विष्णुपुराण को छोड़ शेष सभी पुराणों की कथा में विविधता है परन्तु कृष्ण का विवरण सभो पुराणों में है।

महाभारत में श्रीकृष्ण चरित्र की प्रधानता होनी इसलिए आवश्यक भी नहीं है कि उसमें पाण्डवों का इतिहास-वृत्त प्रधान है। श्रीकृष्ण की जीवनी का अवशिष्ट अंश ही हरिवंश पुराण में वर्णित है।[1]

महाभारत के श्रीकृष्ण

महामना पं० मदनमोहन जी मालवीय ने यह उद्घोषित किया है कि महाभारत हिन्दू-जाति का सच्चा इतिहास है।

कुछ आलोचकों की मान्यता है कि महाभारत तो केवल पाण्डवों का ही इतिहास है, इसलिए उसमें यदि श्रीकृष्ण का वर्णन विस्तार से न किया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। वास्तविकता ऐसी नहीं है। महाभारत में श्रीकृष्ण का वर्णन पर्याप्त मात्रा में उपस्थित है। वे पाण्डवों के प्रमुख सहायक के रूप में दिखाये गये हैं। यदि श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व महाभारत से पृथक कर दिया जाय तो उसमें कुछ भी शेष नहीं रह जाएगा। वे उसके सूत्रधार हैं, जो कथानक और घटनाओं को प्रवहमान करते हैं।

महाभारत के द्वारा, हमें श्रीकृष्ण के अनेक रूपों में दर्शन होते हैं। वे पाण्डवों का सन्धि-सन्देश ले जाने वाले शान्ति-दूत श्यामसुन्दर भी हैं, तो गीता में कर्मयोग की प्रधानता स्थापित करने वाले कर्मनिष्ठ श्रीकृष्ण भी हैं। भारत की समाप्ति पर वे कुशल-नियोजक के रूप में राजसूय यज्ञ में दिखाई देते हैं और अन्त में, हमारे सामने उनका वह रूप ही आता है जो एक दूरदर्शितापूर्ण विचारक का माना जाता है। यदुवंश के पतन की आशंका से वे उसका परित्याग कर देते हैं।

गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि मेरा जन्म दिव्य है, अलौकिक है। इसकी दिव्यता को जानने वाला करोड़ों में कोई बिरला ही होगा।[2]

---

1. The internal evidence is strongly indicative of a date considerably subsequent to that of the major portion of the Mahabharata"—Horace Hayman Wilson's Essays Analytical, Critical, Philosophical on subjects connected with Sanskrit Literature Vol I, DR. Reinhold Rost's edition.

२. जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देह पुनर्जन्म नेति मामेति सोऽर्जुन॥
गीता। अ० ४—श्लोक ९।

द्रौपदी-स्वयंवर से पूर्व श्रीकृष्ण का कोई विवरण महाभारत में नहीं मिलता है। सबसे पहले मदनमोहन स्वयंवर में दिखाई पड़ते हैं। यहाँ वे छद्मवेशी पांचों पाण्डवों को पहचान लेते हैं और बलरामजी से भी कह देते हैं।[1] स्वयंवर में झगड़ा होने पर वे पांडवों की सहायता करते हैं और विवाहोत्सव पर पांडवों को बहुमूल्य आभूषण तथा धन-धान्य भेंट में देते हैं। इन्द्रप्रस्थ में स्वतंत्र राज्य की स्थापना भी कराते हैं। इसके पश्चात् वे सभी प्रकार से पांडवों की सहायता में तत्पर दिखाई पड़ते हैं।

महाभारतकार ने श्रीकृष्ण को पाण्डवों का परम हितैषी, धर्माचारी और न्यायानुमोदित पथ का प्रदर्शक माना है। उनको अर्जुन की बुद्धि भी बताया गया है। पाण्डव लोग श्रीकृष्ण पर पूरा भरोसा रखते थे और उन्हीं की प्रेरणा से वे इतने विशाल युद्ध में प्रवृत्त हुए।

श्रीकृष्ण समता के मूर्तिमान रूप थे। याचना करने पर, दुर्योधन को उन्होंने अपनी नारायणी सेना प्रदान करदी। वह दुर्योधन, जो श्रीकृष्ण के मित्र पाण्डवों का प्रबल विरोधी और शत्रु था, माधव के समक्ष साधारण ही रहा। आपने शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा करके अर्जुन का सारथित्व ग्रहण किया, जो उस काल में गौरवपूर्ण नहीं माना जाता था। परन्तु श्रीकृष्ण तो अधर्म-पक्ष के दलन के हेतु तथा धर्म संस्थापनार्थ ही धराधाम पर अवतीर्ण हुए थे। अतएव उनकी दृष्टि में अगौरव कुछ भी नहीं था।

महाभारत में, उनसे सम्बद्ध कितनी ही चमत्कारिक घटनाओं का भी उल्लेख है। इनमें द्रौपदी-चीर-हरण का प्रसंग परम भावनात्मक तथा अलौकिक है। रजस्वला पाण्डव-पत्नी को वस्त्र-विहीन करने की आज्ञा देना, दुर्योधन का जघन्य पाप था और उससे भी भीषण दुस्साहस किया दुःशासन ने जो उसे नग्न करने की चेष्टा में बल प्रयोग करता रहा। परन्तु श्रीकृष्ण की कृपा से "दस हजार गज बल थक्यो, घट्यो न दस गज चीर।" अप्रत्यक्ष रूप से, अधम प्राणियों को यह दिखला दिया गया कि समय पड़ने पर भगवान द्वारा धर्म की रक्षा होती है।

महाभारत में श्रीकृष्ण के शौर्य-वीर्य का प्रशस्त दिग्दर्शन है। जीवन के प्रत्येक प्रसंग पर धर्म की विजय कराने में वे संघर्परत दिखाई पड़ते हैं। महाभारत उनके राजनैतिक नेतृत्व का अनुपम उदाहरण है। किस स्थल पर कैसी नीति काम में लाई जानी उचित है, इसे वे ही निर्धारित करते थे। बड़े-बड़े गंभीर तथा चिन्ताजनक अवसरों पर पाण्डवों को जिस कुशलता और प्रक्रिया से श्रीकृष्ण ने सहायता प्रदान की है, वह

---

१. एषोऽर्जुनो नात्र विचार्यमस्ति यद्यस्मि संकर्षण। वासुदेवः।

अतुलनीय है। अभिमंन्यु और घटोत्कच की मृत्यु पर पाण्डवों को साहसहीन होते देखकर उनका परित्राण श्रीकृष्ण ने ही किया। वे सर्वथा प्रसन्नमुख दिखाये गये हैं। किंचितमात्र भी दुख की आभा उनकी मुसकान को मलिन नहीं बना पाती हैं। वे आसक्तिरहित, फलाभिसन्धिशून्य, समतापरायण और विरक्त कर्मयोगी के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

वस्तुनः श्रीकृष्ण का वास्तविक रूप तो महाभारत में ही उपलब्ध होता है, जहाँ उनके ज्ञान, विज्ञान और प्रखर बुद्धि की प्रभा से समस्त क्षेत्र आलोकित है। महाभारत के श्रीकृष्ण देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत इन तीनों परिच्छदों से रहित हैं।

अल्पकाल के लिए, यदि हम उनको केवल मानव मानकर ही चलें तो कह सकते हैं कि महाभारत के श्रीकृष्ण आदर्श मानव हैं। उनके द्वारा शान्ति संस्थापन की प्रबल चेष्टा इस बात का प्रमाण है कि वे व्यक्ति की अपेक्षा विश्व को अधिक महत्ता देते हैं। कौरवों की ओर जाते समय द्रुपद-नंदनी ने मुक्त-केशों की रुक्षता की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि,—'दुःशासन की उद्धत भुजाओं के द्वारा परिपीड़ित इन केशों को मत भूलना माधव !"[१] तब भी शान्त मुद्रा से श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को सांत्वना प्रदान की। शिशुपाल के द्वारा भर्त्सना किये जाने पर भी वे शिष्टाचार और सभ्यतानुकूल निश्चित-सीमा तक मौन ही रहे। अन्त में शिशुपाल को दंडित किया गया। यह उनकी महत्ता और अनुशासनप्रियता का द्योतक है।

महाभारत के रचयिता महर्षि वेद व्यास जी ने श्रीकृष्ण में भगवद् तत्त्व का आरोप भी किया हैं और उनके ईश्वरतत्त्व का निर्देष भी किया है।

भागवत में श्रीकृष्ण के बालरूप का वर्णन है तो महाभारत में उनके युवा स्वरूप का दर्शन है। दोनों ही रूपों में वे अद्भुत कर्मा हैं।

श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण

हमारा विषय मुख्यतः श्रीकृष्ण की जीवनी के उस भाग से सम्बद्ध है, जिसे किशोर माना जा सकता है। अतएव श्रीकृष्ण के बाल्यकाल का परीक्षण और निरीक्षण करने के हेतु हमें श्रीमदभागवत की शरण लेनी पड़ती है, क्योंकि इस पुराण में उनको जीवन-चर्या विस्तृत रूप से वर्णित है। महाभारतादि में जो विवरण है, उस पर हमने संक्षेप में प्रकाश डाल दिया है।

---

१. अयं ते पुण्डरीकाक्षः दुःशासन करोद्धत।
स्मतर्व्यं सर्व कार्मेषु परेषां सन्धिमीच्छति॥ (महाभारत)

यों तो भागवतपुराण में अन्य अवतारों की भी कथा है परन्तु मुख्य रूप से श्रीकृष्ण चरित्र की ही प्रधानता है । यह अपने ढंग का अद्वितीय पुराण है, साहित्यिक और सरस ।[१]

इसमें १२ स्कंध हैं । दसवें स्कंध में केवल श्रीकृष्ण-चरित्र ही है । यह सबसे बड़ा स्कंध है । लगभग समस्त पुराण का एक चौथाई भाग है । इसके भी दो भाग हैं । पहले में ४९ अध्याय हैं और दूसरे में ४१ अध्याय हैं । पहले भाग में श्रीकृष्ण की वृन्दावनीय तथा मथुरा की लीलाएँ वर्णित हैं, दूसरे में श्रीकृष्ण की तदुत्तरीय जीवनी हैं; जिसका सम्बन्ध द्वारिका से है । इस प्रकार इन ९० अध्यायों में श्रीकृष्ण से सम्बद्ध विशद् वर्णन है ।

भागवत् केवल पुराण ही नहीं है, वरन् साहित्य है; और है भावपूर्ण, गहन, आकर्षक, दर्शनयुक्त, रहस्यात्मक और संस्कृत साहित्य में अद्वितीय । इसमें गीतों की परम्परा भी है जो गोपियों ने विभिन्न अवसरों पर गाये हैं । इनमें से ३१ वें अध्याय में गोपी-गीत है, जो अत्यन्त मधुर तथा आकर्षक हैं । श्रुतिगीत ८७ वें अध्याय में है । यह व्यास जी की समाधि-भाषा है ।[२] इस दिशा में श्रीभागवत् को निर्दोष प्रमाण माना गया है ।[३] भागवत् का अर्थ है "कल्याणमय तथा परमानंद प्रदायक ।"[४] कुछ सज्जनों ने तो उसे ऋग्वेद से भी प्राचीन माना है । धारणा चाहे जो भी और जैसी भी रही हो परन्तु भागवत में श्रीकृष्ण का परम-आकर्षक रूप चित्रित किया गया है ।

'भागवत्' शब्द का अर्थ है—जो भगवान का हो । इसे "सत्यवतीनन्दन व्यास ने महाभारत और सत्रह पुराणों की रचना के पश्चात् अपनी मानसिक-शान्ति के लिए रचा है ।"[५]

वर्णन की दृष्टि से भागवत का विभाजन चार भागों में किया जा सकता है—घटनात्मक, उपदेशात्मक, स्तुत्यात्मक और गीतात्मक । इसमें भविष्य का वर्णन भी है ।

---

१. विद्यावतां भागवते परीक्षा ।

२. वेदाः श्रीकृष्णानि वाक्यानि व्यास सूत्राणि चैवहि ।
समाधि-भाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्च तुष्टयम् ।।

३. श्रीमद्भागवतं प्रमाण ममलम् (Spotless authority)

४. Blissful and happy.

५. दशसप्त पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ।
नासवान्मनस्तोषं भारतेनापि भामिनि ।।
चकार संहितामेतां श्रीमद्भागवतीं पराम् ।।—पद्मपुराण ।

महात्मा-गांधी ने कहा है कि—"भागवत ऐसा ग्रन्थ है, जिसे पढ़कर धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है।"[१]

दशम स्कंध भगवान् के द्वारा पृथ्वी को आश्वासन, वसुदेव-देवकी के विवाह और कंस के द्वारा छह पुत्रों की हत्या से आरंभ किया गया है। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण का गर्भ प्रवेश, देवताओं द्वारा स्तुति, प्राकट्य, योगमाया की भविष्यवाणी, गोकुल में श्रीकृष्ण जन्म-महोत्सव, पूतना-उद्धार, शकट-भंजन और तृणावर्त्त-वध, नामकरण-संस्कार तथा बाल-लीलो, ऊखल-बंधन, यमलार्जुन उद्धार, गोकुल से वृन्दावन जाना तथा वत्सासुर और बकासुर का संहार, अघासुर-वध, ब्रह्मा जी का मोह नाश, स्तुति, धेनुक तथा काली-मर्दन, दावानल-पान, प्रलम्बासुर-वध, वर्षा तथा शरद वर्णन, वेणुगीत, चीर-हरण, यज्ञपत्नियों पर कृपा, इन्द्रयज्ञ निवारण, गोवर्धन-धारण, कृष्णाभिषेक, वरुण लोक से नंद-मुक्ति, रासलीला, कृष्ण-विरह में गोपियों की दशा, गोपिका-गीत, गोपियों को दर्शन, महारास, सुदर्शन और शंखचूड़ उद्धार, युगल-गीत, अरिष्टासुर उद्धार और कंस के द्वारा अक्रूर को व्रज भेजना, केशी तथा व्योमासुर का वध, नारद के द्वारा स्तुति, अक्रूर की व्रजयात्रा, श्रीकृष्ण-बलराम का मथुरागमन, अक्रूर के द्वारा कृष्ण की स्तुति, मथुरा प्रवेश, कुब्जा पर कृपा तथा धनुष-भंग, कुवलयापीड़ संहार तथा रंग-भूमि में प्रवेश, चाणूर, मुष्टिक आदि पहलवानों तथा कंस का वध, वसुदेव देवकी मोक्ष, कृष्ण-बलराम का यज्ञोपवीत तथा गुरुकुल प्रवेश, उद्धव की व्रजयात्रा, उद्धव और गोपियों की बात-चीत तथा भ्रमर गीत, कृष्ण का कुब्जा तथा अक्रूर के घर जाना, अक्रूर का हस्तिनापुर गमन,—यहाँ पूर्वार्ध समाप्त हो जाता है।

जरासंध से युद्ध तथा द्वारकापुरी निर्माण, कालयवन का भस्म होना, मुचुकुन्द की कथा, द्वारकागमन, बलराम का विवाह, कृष्ण के पास रुक्मिणी का संदेश, रुक्मिणी-हरण, रुक्मी की पराजय तथा रुक्मिणी-परिणय, प्रद्युम्न का जन्म और शम्बरासुर-वध, सम्यन्तकमणि की कथा, जामवन्ती और सत्यभामा के साथ विवाह, सम्यन्तकहरण; शतधन्वा उद्धार और अक्रूर को पुनः द्वारका बुलाना, अन्य विवाहों की कथा, भौमासुर उद्धार तथा सोलह हज़ार एक सौ राजकन्याओं से विवाह, कृष्ण रुक्मिणी संवाद, सन्तति का वर्णन, अनिरुद्ध के विवाह में रुक्मी की मृत्यु, ऊषा अनिरुद्ध मिलन, कृष्ण-बाणासुर-युद्ध, नृगराजा की कथा, बलराम का व्रजगमन, पौण्ड्रक तथा काशि-राज उद्धार, द्विविद उद्धार, कौरवों पर बलराम का कोप तथा साम्ब का विवाह, नारद का कृष्ण की गृहचर्या निरीक्षण, कृष्ण की नित्यचर्या, जरासंध के कैदी राजाओं के

१. कल्याण भागवतांक पृष्ठ ७५।

दूत का आना, कृष्ण का इन्द्रप्रस्थ जाना, पाण्डवों के राजसूय यज्ञ का आयोजन और जरासंध उद्धार, जरासंध के यहाँ बन्दी राजाओं की मुक्ति, कृष्ण का इन्द्रप्रस्थ लौटना। श्रीकृष्ण की अग्रपूजा तथा शिशुपाल उद्धार, यज्ञ-पूर्ति तथा दुर्योधन का अपमान, शाल्व के साथ यादवों का युद्ध, शाल्व-उद्धार, दन्तवक्त्र और विदूरथ का उद्धार तथा तीर्थयात्रा में बलराम के द्वारा सूत-वध, बल्वल-बध और बलराम की तीर्थयात्रा, कृष्ण द्वारा सुदामा का स्वागत, सुदामा को ऐश्वर्य-प्राप्ति, कृष्ण-बलराम से गोप-गोपियों की भेंट, पटरानियों से द्रौपदी की वार्ता, वसुदेव का यज्ञोत्सव, वसुदेव जी को ब्रह्मज्ञानोपदेव तथा देवकी के छहों पुत्रों का लौटा लाना, सुभद्रा-हरण, मिथिला में राजा जनक तथा श्रुतदेव ब्राह्मण के यहाँ जाना, वेदस्तुति, शिव का संकटमोचन, भृगु द्वारा त्रिदेवों की परीक्षा और मृत ब्राह्मण-बालक की पुनर्प्राप्ति, कृष्ण का लीला-विहार—इतना उत्तरार्ध में वर्णन है।

एकादश स्कंध में यदुवंश को ऋषियों का शाप, वसुदेव जी के पास नारदागमन, अवतारों का वर्णन, देवताओं द्वारा श्रीकृष्ण से स्वधाम पधारने की प्रार्थना, यादवों का प्रभास क्षत्रागमन, अवधूतोपाख्यान, भक्ति, वर्णाश्रम आदि का निरूपण है। अन्तिम तीसवें अध्याय में यदुवंश का विनाश तथा इकतीसवें अध्याय में श्रीकृष्ण का स्वधामगमन वर्णित है।

महाभारत में श्रीकृष्ण के सहयोग का कोई विवरण भागवत में नहीं है। पुनरुक्ति के कारण ही यह संभव है। महाभारत में, जहाँ पाण्डवों-कौरवों का विस्तृत अंकन है, वहीं श्रीकृष्ण के साहाय्य का दिग्दर्शन उचित भी जान पड़ता है—ऐसा हमारा मत है, पुनः भागवत में उसके पिष्टपेषण की कोई आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती है। जिस प्रकार महाभारत में जन्म तथा बाल-लीलादि का विवरण नहीं है उसी प्रकार भागवत में गीतोपदेश आदि प्रसंगों का समावेश नहीं किया गया है।

कतिपय आलोचक इसी कारण "द्वारकावासिन् श्रीकृष्ण" तथा "गोकुल-निवासी बालकृष्ण" में वैषम्य निर्धारित करते हैं। परन्तु जब भागवत में भी द्वारका का वर्णन है, द्रौपदी और गोपियों आदि के द्वारा श्रीकृष्ण दर्शन-लाभ करने का विवरण है, तब ऐसी धारणा निर्मूल और भ्रांति-पूर्ण ही जान पड़ती है।

इस विषय पर हम "वासुदेव और श्रीकृष्ण" नामक अध्याय में यथासंभव प्रकाश डालेंगे।

———

कृष्ण और क्राइस्ट

कतिपय अंग्रेजों ने यह घोषणा की है कि कृष्ण तो केवल क्राइस्ट का रूपान्तर मात्र है। भक्ति की भावना भी हिन्दू-जाति को मसीही देन है। इसके अतिरिक्त क्राइस्ट के जीवन में जो घटनाएं घटित हुई हैं, उनका साम्य भी अंग्रेजों की धारणा को पुष्ट करता है। बंगाल में कृष्ण को क्रिस्टो कहते हैं। यूनान तथा रोम-निवासी भी क्राइस्ट का उच्चारण (christos) कृष्टॉस करते हैं। ईसा का जन्म अश्वशाला में हुआ और किसी को पता नहीं चला, श्रीकृष्ण का जन्म भी इसी प्रकार अज्ञात रूप से कारागार में हुआ। श्रीकृष्ण के माता-पिता वसुदेव-देवकी को आकाशवाणी ने कहा कि तुम्हारा पुत्र ऐसे राज्य का अधिपति होगा जिसका प्रभाव मानव-जाति पर अनन्तकाल तक रहेगा। ईसा के जन्म से पूर्व ऐसी ही बात देवदूतों ने कही थी। ईसामसीह को हैराड (Herod) नामक नृशंस राजा से बचाने के लिए मिश्र देश पहुँचा दिया गया। कृष्ण को भी मथुरा से गोकुल ले जाया गया। दोनों के उपदेशों में भी अविरोध है। बाइबिल की वर्जिल और भागवत की पूतना में भी साम्य है। एक बार ईसामसीह अपने शिष्य पीटर और जॉन को एक पहाड़ी पर ले गये और उनके सामने अपना रूप बदल दिया। उनका मुख देदीप्यमान हो गया और उनके वस्त्र अत्यन्त श्वेत दिखाई देने लगे। अर्जुन की प्रार्थना पर श्रीकृष्ण ने भी अपना विराट् रूप प्रदर्शित किया। क्राइस्ट ने क्रास पर चढ़कर प्राणोत्सर्ग किया तो श्रीकृष्ण के पाद-तल में व्याध ने बाण से आघात किया।

ऐसा अनुपम साम्य देखकर ईसाई प्रचारकों ने यहाँ तक कह डाला कि शैतान को उनके पैगम्बर का हाल मालूम था कि ईसामसीह अवतरित होंगे इसलिए उसने ईसा के जन्म से पूर्व ही उनके धर्म के समान एक दूसरा धर्म यहाँ स्थापित कर दिया। इस प्रकार कृष्ण को शैतान की सृष्टि बताया गया है।

परन्तु यह सब क्यों हुआ? ऐतिहासिक खोज करने पर हमें पता चलता है कि ईसाई लोग सबसे पहले मदरास प्रान्त में उतरे और वहाँ के भक्त आलवर लोगों के सम्पर्क में आये। इन लोगों में भक्ति-पूर्ण उपासना पद्धति उपस्थित थी। यह बारह

बताये जाते हैं, जिनमें एक आण्डाल नामक महिला भी थी।[१]. इनमें से कम से कम नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं।[२]. इनमें से अधिकांश अस्पृश्य थे। दक्षिण में उस समय भी जाति-भेद अत्यन्त जटिल अवस्था में था। यही वैष्णव-मतवाद भक्ति आन्दोलन का मूल है। उत्तर भारत में प्रतिष्ठापित भक्ति का केन्द्र दक्षिण में चला गया। यह घटना ईसा से पूर्व पहली शताब्दी की है। 'चिलप्प-थिकरम्' नामक प्राचीन तामिल काव्य में कृष्ण-बलराम की उपासना के लिए मंदिरों के निर्माण का प्रसंग है।[३] ये आलवार भक्त कृष्णावतार की प्रशंसा में सहस्रकंठ होते थे। इनकी उपासना आवेग की तीव्रता के लिए प्रसिद्ध है।[४]. इन लोगों ने हज़ारों भजन लिखे हैं।

यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि मदरास में पधारने वाले ईसाई-उपदेशकों ने वहाँ एक लघु-पर्वत पर एक मन्दिर भी निर्माण कराया तथा उसमें ईसा की मूर्ति की प्रतिष्ठापना भी की-वे भजन भी गाते थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो यही है कि आज भी ईसाई-पादरी लोग 'खंजड़ी' पर "ईसामसीह मेरे प्राण बचइयो" आदि गीत गाते हैं और ख्रीष्ट धर्म का प्रचार करते हैं।

इस विषय में, मैंने कई ईसाई-मिशनरियों से भी विचार-विनिमय किया कि घटनाओं में ऐसा साम्य क्यों है, तो उनका दृष्टिकोण मुझे नितान्त सम्प्रदायवादी ही लगा। वे अपनी मान्यता से थोड़ा भी नीचे उतरने को प्रस्तुत नहीं थे, अतएव किसी भी धरातल पर मेरी सन्तुष्टि नहीं हो सकी। उदाहरण के लिए बाइबिल में लिखा है कि प्रभु ईसामसीह के जन्म से कुछ काल पूर्व ही छह देवदूत पूर्व-दिशा से उनके जन्म स्थान पर पहुँचे और उन्होंने 'ईश्वर-पुत्र' का स्वागत किया। इन 'महापुरुषों' ने अपने यौगिक-बल से यह पता लगा लिया था कि अमुक अक्षांश पर अमुक स्थान है और वहाँ किसी आदर्श महात्मा का जन्म होने वाला है। सर्वाश्चर्यमयी बात तो यह है कि यह

---

१. पोयगइ, भूतत्तर, पेय, तिरुमलिशइ, नम्म या संत सद्गोप, मधुर कवि, कुल शेखर, पेरिय, आण्डाल, तोंडर डिप्पोडि, तिरुप्पाण तथा तिरुमंगइ आलवार।—'उच्च विषयक लेख माला—श्री नलिनी मोहन सान्याल पृष्ठ ८२।

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका—ले० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी "भक्तों की परम्परा" में पृष्ठ ४५।

3. V, Kanaksabhai's Tamil's Eighteen hundred years Ago; pp. 13-26.

४. इसी को उर्दू में 'हाल' कहते हैं। भक्त मूर्छित हो जाता है।

देवदूत पूर्व (भारत) से पधारे। उनका ज्ञान-विज्ञान किस सीमा तक उन्नत था, यह दृष्टान्त उसका सबल और सशक्त प्रमाण है। पुनः, पश्चिम से कोई देवदूत प्रभु यीशु के स्वागतार्थ अथवा दर्शनार्थ नहीं पहुँचा—ऐसा क्यों? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि भारत उस समय भी यौगिक क्रिया-प्रक्रियाओं में अग्रगण्य था और तत्कालीन असभ्य गौर-वर्ण जातियाँ बर्बरता की ओर उन्मुख थीं।

पूना में 'वॉयस् आफ प्रॉफेसी' (Vice of prophecy) नामक संस्था है जो बाइबिल तथा ईसाई धर्म के सम्बन्ध में जन-साधारण को ज्ञान प्रदान करती है। निखिल विश्व में ऐसी ही अनेकानेक संस्थाएं हैं। मैं उसका सदस्य बना और उसके द्वारा आयोजित-नियोजित दो परीक्षाएं भी उत्तीर्ण कर चुका, परन्तु मेरी इस समस्या का समाधान नहीं हुआ। इस सस्था के दो-एक पदाधिकारी भी मेरे यहाँ पधारे परन्तु दुर्भाग्य से लाभ नहीं प्राप्त हुआ।

यह कहा जाता है कि ईसा बहुत दिनों तक भारतीय योगियों के सम्पर्क में रहे और क्रास पर चढ़ाये जाते समय प्राणायाम-समाधि के द्वारा उन्होंने अपनी प्राणवायु को ब्रह्माण्ड में स्थिर कर लिया। पश्चात् पुनर्जीवन-लाभ करके वे भारत लौटे और यहाँ यौगिक-क्रियाओं में दक्षता प्राप्त की। हमारा यह सब लिखने का तात्पर्य किसी भी रूप में प्रभु ईसा के महत्त्व को लांछित या प्रवंचित करना नहीं है। यह तो एक सत्य है और सत्य कटु होता ही है।

हमारी मान्यता तो यह है कि ईसाई प्रचारकों ने मदरास-प्रान्त में ऊर्जस्वित जाति-भेद से लाभ उठाकर अपने धर्म के प्रचारार्थ सर्वप्रथम तो कृष्ण-धर्म को शैतान द्वारा संस्थापित घोषित करके उसकी मान्यता को शतधा खंड-खंड करने की चेष्टा की और पश्चात् मन्दिर निर्माण करके, भजनों के द्वारा जनता को आकर्षित करना चाहा। चूंकि आलवार परम भागवत थे अतएव श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बद्ध रोचक घटनाओं का आरोप उन्होंने ईसा के जीवन में कर दिया। प्रतिफल यह हुआ कि वहाँ ईसाई धर्म का जयजयकार होने लगा।

सन्त-महात्माओं के जीवन और कार्य-कलाप में साम्य होना असंभव नहीं है। श्रीकृष्ण और बुद्ध दोनों ने अहिंसा को प्रधानता दी है। महात्मा गांधी का 'अनासक्ति-योग' गीता-धर्म का निखरा हुआ रूप ही तो है। गांधी जी का देहावसान क्या ईसा और श्रीकृष्ण से मिलता-जुलता नहीं है? श्री राधेश्याम कथावाचक ने तो उनकी

तुलना श्रीकृष्ण के साथ की है।[१] कौन जानता है कि सौ-दो-सौ वर्षों के पश्चात् "गांधी-धर्म" की स्थापना नहीं हो जाएगी और उनका नाम बुद्ध के पश्चात् लिया जाता रहेगा।

जहाँ तक क्राइस्ट शब्द का सम्बन्ध है, क्रिस्टो या कृष्ण के साथ उसका जोड़-तोड बिठाना ठीक नहीं हैं। ईसा का नाम तो यीशु या जीजस (Jesus) ही है। उनको ईसाई धर्म का संस्थापक माना गया है। यह भी माना गया है कि "न्यूटेस्टामेन्ट" तथा अन्य पत्रादिक में जो कुछ प्राप्त है वह 'गोस्पेल' में नहीं है। "अपोक्राइफल गास्पेल" में जो विवरण है वह अविश्वसनीय है।[२] सर्वत्र ही उनका नाम "जीजस" लिखा कहा गया है

---

१. वह विख्यात बृजबिहारी थे, तो ये गुजरात बिहारी हैं।
वह चक्रसुदर्शन- धारी थे, तो यह भी तकलीधारी हैं॥
वह काली कमली वाले थे, यह खादीमय दिखलाते हैं।
वह वंशी मधुर बजाते थे, यह चरखा खूब चलाते हैं॥
वह प्रकटे कारागृह में थे, यह काराग्रह के वासी हैं।
वह माखन चोर कहाये हैं, यह नमक चोर कहलाये हैं॥
तब भी यह भारत निर्भय था, अब भी यह भारत निर्भय है।
इस कारण राधेश्याम कहो, सब मोहन मोहनदास की जै॥

1. Four documents dating from the second half of the 1st century the "Gospels,' give some account of the life of Jesus, chiefly confined to his brief public work and death. Beyond what they give little is known as to his history. Some of other important facts are referred to in other writings of the New Testaments. "Apocryphal Gospels" purpost to give additional information, but they are fictions and worthless." The Encyclopedia America Vol. XVI—pp. 41.

उदाहरण—जीजस ने पूछा—"मैं तुम्हारे लिए क्या हूँ ?" तो सब की ओर से प्रवक्ता पीटर ने कहा—'आप क्राइस्ट हैं।' और तब क्राइस्ट की भाँति उन्होंने जातीय संगठन किया।[1]

क्राइस्ट का अर्थ है—"मसीहा।" ईसाई लोग इसी धारणा से जीजस को 'सेवियर' अथवा 'लोकरक्षक' की उपाधि से स्मरण करते हैं। 'क्राइस्ट इन आर्ट' का तात्पर्य लिया जाता है—"लोकरक्षक का प्रतिनिधित्व करने वाली कला।"[2]

एक स्थान पर स्वयं यीशु ने कहा भी है—"मैं क्राइस्ट नहीं हूँ।"[3]

श्री वेब्स्टर कृत 'इन्टरनेशनल डिक्शनरी' में पृष्ठ ३९२ पर 'क्राइस्ट' शब्द की यही परिभाषा दी है, जो हम ऊपर दे चुके हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि 'क्राइस्ट' तो ईसा की उपाधि थी उनका वास्तविक नाम तो 'जीजस' ही था, अतएव क्राइस्ट, क्रिस्टो और कृष्ण की समानता या तुलना करना मात्र भ्रम-भेद-बुद्धि को बढ़ाना ही है।

इसी स्थान पर आलवार भक्तों का संक्षिप्त परिचय देना असंगत नहीं होगा, क्योंकि उन्हीं की प्रेम-साधना का प्रतिफल 'भ्रमर-गीत' का आधार हो सकता है।

"आलवार" तामिल शब्द है। इसका तात्पर्य है "वह महात्मा जिसने ईश्वरीय प्रेम-सागर में अवगाहन या निमज्जन कर लिया हो।" इन भक्तों की आध्यात्मिक मनोवृत्ति समान थी। वे सम्प्रदायबद्ध नहीं थे। भक्ति-भावना तथा भगवद् आराधन ही उनका ध्येय था। उनकी रचनाओं का संग्रह 'तामिल वेद' कहा जाता है।

गीतों के द्वारा आराधना-साधना करना ही उनका परम लक्ष्य था।

---

1. "Jesus pressed the further question :— "What am I to you ?" and the answer of Peter, one speaking for all, was that he was the 'Christ.' The Encyclopedia America Vol XVI. pp. 45.

2. "Christ in Art"—The representations of the person of the saviour. Enc. A. Vol. VI pp. 597.

3. "I am not the Christ." John i'20.

नासिक में प्राप्त 'नानाघाट' के शिलालेख से स्पष्ट है कि 'भागवत धर्म' मथुरा से चलकर ईसा से पूर्व दक्षिण भारत में पहुँच गया था। कृष्णा जिले में 'चाइना' नामक शिलालेख से भी यहीं प्रकट होता है। इस समय दक्षिण भारतीय अत्यन्त शिक्षित तथा सभ्य थे ?[१]

इस प्रकार हम निष्कर्ष पर आते हैं कि कृष्ण और क्राइस्ट का 'नामों' के रूप में कोई सामंजस्य नहीं है और ईसाई-पादरियों की यह धारणा निर्मूल भ्रान्त तथा 'प्रोगेन्पैडात्मक' ही है।

1—Early History of Vaisravism in Sorth India" by Dr. Krishnaswami Ayyangar pp. 89. 91

बेबीलोनिया के आभीर और भारतीय गोयाल

हिन्दी-जगत में, श्री नलिनी मोहन सान्यास एम० ए० के द्वारा यह प्रसारित हुआ है कि "आभीर नामक एक जाति ईस्वी सन् के बहुत पहले ही उत्तर भारत में बस गई थी और भारतीय जन-समूह में मिल गई थी। मथुरा प्रान्त इस जाति का केन्द्र था और इसकी एक शाखा पाण्ड्य राज्यवंश के साथ तामिल देश में पहुँची थी.। इस जाति के उपास्य देवता 'गोप कृष्ण' थे। यही जाति पीछे दाक्षिण में फैलो थी और अपने साथ श्रीकृष्ण के बाल्य जीवन की कहानियाँ ले गयी थी। सम्भवत: इन कहानियों के आधार पर भक्तिमार्ग की साधना का उस देश में विशेष विकास हुआ था। आलवार लोग श्रीकृष्ण के उपासक थे।"[1]

गुजराती के एक दूसरे विद्वान् स्व० श्रीधर्मानंद जी कोसाम्बी ने तो यही सिद्ध किया है कि भारतीय संस्कृति तो बेबीलोनिया की देन है। बेबीलोनियन, आर्य तथा दास तीनों लोगों की संस्कृति के मिश्रण से वैदिक संस्कृति की रचना हुई और सप्तसिन्धु प्रदेश में वह दृढ़ हुई।"[2] इस प्रकार कोसाम्बी जी की मान्यता है कि आभीर जाति बेबीलोनिया से आई और अपने साथ गोपाल कृष्ण को भी लाई। यही गोपाल कृष्ण उत्तर भारत में समर्थ सिद्ध हुए और उन्होंने सप्तसिन्धु के प्रथम सम्राट इन्द्र को परास्त किया।

इसका अर्थ तो यह हुआ कि कृष्ण का मथुरा में जन्म, कंस-राज्य, महाभारत आदि सभी कपोलकल्पित हैं। परन्तु कोसाम्बी जी ऐसा मानते हैं कि कृष्ण को पाण्डवों का समकालीन मानना भारी भूल है। कुरु देश में कौरवों-पाण्डवों का राज्य हो और उसी समय कंस भी राजा हो यह अशक्य है। महाभारत में कौरवों और कंस का सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है। पौराणिक काल में कृष्ण और पाण्डवों की कथा का मिश्रण कर दिया गया है—परन्तु यह भी विश्वसनीय नहीं है।[3]

---

१. "उच्च विषयक लेखमाला" पृष्ठ १४७

२. "आ रीते बाबिलोनियन, आर्य अने दाए त्रण लोकोनी संस्कृतिना मिश्रण थी वैदिक संस्कृतिनी रचना थई अने सप्तसिन्धु प्रदेश मां ते दृढ़ थई।" हिन्दी संस्कृति अने अहिंसा पृष्ठ ३३।

३. हिन्दी संस्कृति अने अतिसा पृष्ठ ३३।

पहली बात तो यह है कि दोनों विद्वानों में से किसी ने भी यह प्रमाणित नहीं किया है कि आभीर जाति कब और कैसे आई तथा उसका पूर्व-इतिहास क्या था। यह माननीय हो सकता है कि मथुरा के आभीर दक्षिण में चले गये हों, परन्तु हम इस मान्यता के सन्मुख शिरसावनत होने को प्रस्तुत नहीं कि कृष्ण को बेबीलोनिया से लाया गया है और भारत से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

कोसाम्बी जी ने अन्यत्र लिखा है—"नेमिनाथ नामक जैन तीर्थङ्कर कृष्ण के गुरु थे, ऐसा उल्लेख जैन ग्रन्थों में अनेकानेक स्थानों पर मिलता है। तो क्या नेमिनाथ और घोर आंगिरस एक ही थे ?—ऐसी शंका उत्पन्न होती है।"[१]

कोसाम्वी जी की यही मान्यता उसकी पूर्व-धारणा को खंडित कर देती है। यदि मान लिया जाय कि जैनों का ऐसा उल्लेख सत्य है तो कृष्ण का भारतीय होना प्रमाणित हो जाता है। यद्यपि 'जैन हरिवंश पुराण' में श्रीकृष्ण को नेमिनाथ जी का समकालीन माना है और जिस प्रकार कोसाम्वी जी ने अपनी इस पुस्तक में 'श्रमण-संस्कृति' को महान् सिद्ध करते हुए 'वौदिक संस्कृति' को अपदस्थ प्रमाणित करने की चेष्टा की है—वैसे ही जैन लोगों ने भी श्रीकृष्ण को भू-पतित करने के लिए वैसा उल्लेख किया हो तो क्या आश्चर्य है।

आगे चलकर कोसाम्वी जी ने यह माना है कि गोपियों के साथ क्रीड़ा करने वाले कृष्ण को मैं नहीं मानता हूँ वरन् धेनु-वृषभ-रक्षक गोपाल कृष्ण का अस्तित्व वैदिक काल में था।[२]

परस्पर विरोधी मान्यताएँ ही यह सिद्ध कर देती हैं कि बेबीलोनिया से गोपाल नहीं आये बल्कि वे व्रजविहारी श्रीकृष्ण भारतीय विभूति ही थे।

हमारी धारणा यह है कि भारत उस समय अत्यन्त उन्नत था और सप्तसिन्धु में इन्द्र का सुदृढ़ साम्राज्य था। पशु यज्ञ की प्रथा का विरोध कृष्ण ने किया तथा सांस्कृतिक असहयोग के द्वारा उन्होंने इन्द्र को पराजित किया। गो-वंश का वर्द्धन किया और कृषि-प्रधान भारत को समृद्धिशाली बनाया। उनका माहात्म्य और महत्ता वायु के समान प्रगतिशील रूप में धावित हुई और उसे बेबीलोनियों के भावुक भक्तों ने ग्रहण

१. वही। पृष्ठ ३९

२. वही। पृष्ठ १४०

या वरण कर लिया। वें मथुरा आए। गोपाल के परम उपासक बने और प्रचारक भी सिद्ध हुए।

अन्त में, हमारा निवेदन यही है कि विश्व-बन्धुत्व की भावना से तो श्रीकृष्ण समस्त विश्व के हैं परन्तु वे किसी विदेश-परदेश से आये-लाये नहीं गये हैं। वे तो विशुद्ध भारतीय हैं, न किसी का रूपान्तर है और न किसी का प्रतिरूप।

आध्यात्मिक श्रीकृष्ण

'एकान्तिक'—'पांचरात्र' अथवा 'भागवत् धर्म' के उन्नायक श्रीकृष्ण ही माने जाते हैं। नाम-जप के सम्बन्ध में भी पर्याप्त बल दिया जाता है। इस सम्प्रदाय की धारणा है कि श्रीकृष्ण परात्पर परब्रह्म हैं, साक्षात् गो-लोक-वासी विष्णु के अवतार हैं और सोलह-कला के पूर्णावतार हैं।[1].

नाम का अर्थ

श्रीकृष्ण' शब्द पूर्ण, शुद्ध, -नित्ययुक्त, -चिन्तामणि-स्वरूप है। मुक्तिदाता होने के कारण राम-नाम को 'तारक' कहते हैं तो प्रेमदाता होने से कृष्ण नाम को 'पारक' मानते हैं—जिससे प्रेम भक्ति प्राप्त होती है।[2]. 'राम' नाम में मोचकता शक्ति अधिक है तो 'कृष्ण' नाम में मोक्ष-सुख-तिरस्कारी प्रेमानन्द-दातृत्व शक्ति की प्रबलता है।[3]. प्रभास-पुराण में श्रीनारद-कुशध्वज संवाद में श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है:—"हे परंतप ! सब नामों में मेरा कृष्ण नाम ही सर्वश्रेष्ठ है।"

निर्वचन के द्वारा कृष्ण शब्द का अर्थ भूमि को सुख पहुँचाने वाला होता है।[4]. कतिपय समालोचकों ने अर्थान्तर भी किया है परन्तु काँची मठाधीश्वर श्री अनन्ताचार्यजी ने पहला अर्थ ही श्रेयस्कर माना है।

भूमिदेवी की प्रार्थना का परिणाम ही तो कृष्णावतार है। भागवत में भी ऐसा ही निर्देश है कि असुर-राक्षस, दुष्ट-क्षत्रिय-पीड़ित भूलोक-वासी जन 'समुदाय का दुःख

---

१. पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
(Absolute and All-round perfection)

२. "तारकाज्जायते मुक्तिः प्रेमभक्तिस्तु पारकादिति।"

३. "श्री कृष्णसन्दर्भः"—कल्याण श्रीकृष्णांक पृष्ठ १५।

४. कृषिर्भूवाचकश्शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः ॥

श्रीकृष्ण ने उन दुष्टों का संहार करके दूर किया है। अतएव 'भूमि' शब्द से भूलोक-वासियों का अर्थ ग्रहण करने से कृष्ण शब्द की उत्पत्ति होती है।[1]

कृष्ण का धार्मिक महत्व

सगुणोपासक भक्तों के समक्ष श्रीकृष्ण परब्रह्म भगवान के पूर्णावतार हैं। वे भागवतधर्म के पुनरुद्धारक हैं।[2]

निर्गुण, निर्विशेष और अमूर्त ब्रह्म का श्रीकृष्ण के साथ ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा प्रभा का प्रभाकर के साथ है।

दक्षिण से चलकर भक्ति की यह धारा उत्तर भारत तक आई और उसने समस्त ब्रजमंडल को आप्लावित कर दिया। श्री वल्लभाचार्य जी ने भक्ति-सरिता में अवगाहन-निमज्जन किया और तभी कालिन्दी-कूल पर 'अष्ट-वीणाओं' के स्वर गूंज उठे। सरस कृष्ण-काव्य की मन्दाकिनी, कृष्णा कालिन्दी और भक्ति सरस्वती तीनों के संगम से पावन त्रिवेणी का तीर्थ वृन्दावन हो गया।

धार्मिक दृष्टिकोण से, जनता गहरे अंधकार में थी। राजनैतिक अनाचार-अत्याचार उन्मूलन में व्यस्त थे। अतएव श्रीकृष्ण के नाम और महत्व ने जनता को वल प्रदान किया। इस प्रकार सहज ही में भारतीय धर्म-साधना योगेश्वर कृष्ण के कर्म-योग की ओर आकर्षित हो गई।

ब्रह्मत्व की भावना

सगुणोपासकों ने अपनी वाणी और विद्या के द्वारा श्रीकृष्ण के परब्रह्म होने की घोषणा कर दी और उसे सिद्ध भी किया तथा प्रसिद्ध भी किया। उनके पूर्ववर्ती कवि, विचारक तथा लेखक इसी सिद्धान्त में विश्वास करने वाले थे।

भागवत ने स्पष्ट छहों गुणों का आरोप श्रीकृष्ण में किया।[3]

---

१. भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः ।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥(भागवत)

२. यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्

गीता अ० ४ श्लोक

३. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिण ॥

भागवत । स्कंध १० ।

कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण पूर्ण, सत और ज्ञान शक्ति प्रधान हैं। द्वारका और मथुरा में पूर्णतर, चित और क्रिया-शक्ति प्रधान हैं तथा वृन्दावन में पूर्णतम, आनन्द और इच्छा-शक्ति प्रधान हैं। परमेश्वर के विविध प्रकाश उनमें स्पष्ट हैं।

ब्रह्माण्ड पुराण में यही कहा गया है कि :—"जो वैकुंठ में चतुर्भुज नारायण (महाविष्णु) हैं, जो श्वेतद्वीप-पति (विष्णु) हैं, जो नारायण ऋषि हैं, वही वृन्दावन-विहारी नंदनदन श्रीकृष्ण हैं।"[१]

श्रीकृष्ण में माधुर्य आदि गुणों का प्राचुर्य होने से भगवान का यह रूप ही श्रेष्ठ है, ऐसा भक्तों ने माना है।

जो भी हो, भारतीय-भावना में श्रीकृष्ण को भगवान का पूर्णावतार माना जाता है। यह क्यों है और ऐसा क्यों है, इस विषय का मंथन करने के लिए सैद्धान्तिक, धार्मिक वेदान्तिक तथा साम्प्रदायिक सभी प्रकार के उद्देश्यों और मान्यताओं का विशद विवेचन अपेक्षित है। इसके साथ ही साथ अवतारवाद की पुष्टि भी आवश्यक है। यह हमारा विषय नहीं है और पुनः यह एक स्वतन्त्र विषय भी है, अतएव हम अवतारवाद के खंडन-मंडन और पूर्णावतार के विवाद या विग्रह में पड़ कर लक्ष्य-भ्रष्ट की उपाधि प्राप्त करने की इच्छा नहीं करते हैं।

———

१. यो वैकुन्ठे चतुर्बाहुर्भगवान् पुरुषोत्तमः।
य एव श्वेत द्वीपेशो नरो नारायणश्च यः॥
स एवं वृन्दावन भू- विहारी नन्दनन्दनः।
—ब्रह्माण्ड पुराण

श्रीकृष्ण की जन्म-तिथि

श्रीकृष्ण का जन्मतिथि के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। अत्यन्त धार्मिक लोग तो आज से हज़ारों वर्ष पूर्व उनका आविर्भाव मानते हैं तो कतिपय अँग्रेज आलोचक ईसा से एक-दो शताब्दि पूर्व ही कृष्ण-युग की अवधारणा करते हैं। हमारी विनम्र सम्मति में दोनों के प्रमाणों की पृष्ठभूमि कल्पना पर निर्भर है। इसलिए सर्वप्रथम हम कतिपय मान्यताओं को लेते हैं।

भारतीय धर्म-ग्रन्थों से जो साधन उपलब्ध हैं, उनके अनुसार श्रीकृष्ण को पाँच हज़ार वर्षों से अधिक समय हो जाता है। पुराणों के अनुसार सृष्टि का समय लगभग २ अरब वर्ष पूर्व है; परन्तु रेडियम के आविष्कारक इसे मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। विज्ञान-वेत्ताओं के अनुसार आज से पाँच सहस्राब्दि पूर्व हिम-युग की सीमा थी। यह प्रलय काल ही माना जाता है। इसका निर्देश महाभारत में भी है।[१] नदियाँ उलटी बहने लगीं, उनका जल रक्तिम होगया, मिट्टी मिल जाने से कुओं का जल फेनिल होगया और उनमें से बैलों के रँभाने का-सा शब्द निकलने लगा, उल्कापात होने लगा। हिमालय से बड़े-बड़े हिमखंड सहस्रों भागों में विभक्त होकर टूटने लगे। उस महाभूकम्प में चारों ओर से समुद्र के द्वारा पृथिवी क्षुभित होने लगी। आँधियों ने वृक्षों को उखाड़ दिया। द्वारका में श्रीकृष्ण ने उद्धव से इसी प्रकार भूकम्प का वर्णन किया कि हे उद्धव ! आज के सातवें दिन समुद्र इस द्वारका को जल-मग्न कर देगा।[२] यह भूकम्प हस्तिनापुर तथा द्वारका दोनों में हुआ।

---

१. प्रतिस्रोतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः।
फेनायमाणाः कूपाश्च कूर्दन्ति वृषभा इव ॥
पतन्त्युल्का सनिर्घाताः शक्रा शनिसमप्रभाः।
कैलाशमन्दराभ्यान्तु तदा हिमवता विभो ॥
सहस्रो महाशब्दाः शिखराणि पतन्ति च।
महाभूता भूमिकम्पे चत्वारो सागराः पृथक् ॥
वेलामुद्वर्तयन्तीव क्षोभयन्तो वसुन्धराम्।
वृक्षानुन्मूल्स्य वात्युग्राः वाताः शर्करवर्षिणः ॥

२. समुद्र सप्तमेऽह्न्येतां पुरीञ्च प्लावयष्यति ॥ भागवत ११।७।३.

ईराक में बसरा नगर से सौ मील दूर पश्चिम दिशा में युफ्राटीस नदी के कूल पर स्थित 'उर' नामक नगर था। इसका वर्णन बाइबिल में भी है। वैबीलोनियन जनता यह मानती है कि प्रलय के बाद उर-पुर की स्थापना हुई। यहाँ 'क्यूनिफार्म' लिपि में एक शिलालेख प्राप्त है जो ईसा से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व का उत्कीर्ण है। इसमें भी प्रलय का वर्णन है। उर नगर के प्रथम नरेश की कब्र खोदने पर जो आभूषणादि प्राप्त हुए हैं, उनको अमेरिकन अन्वेषकों ने ईसा से तीन हज़ार वर्ष पूर्व का माना है। यह आभूषण सोने-चाँदी के हैं। ईराक में सोने चाँदी की खानें नहीं हैं। इस खुदाई में ३० मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं जिनमें से एक पर हाथी चित्रित है तथा दूसरे पर यज्ञीय स्तम्भ से बँधे बैल का चित्र है, जैसा कि मोहनजोदड़ो में प्राप्त हुआ है। अतएव यही प्रमाणित होता है कि आभूषणादि भारत से गये थे। शिलालेख तथा खुदाई से यह प्रमाणित हो जाता है कि ईसा से ३००० वर्ष पूर्व यहाँ भूकम्प हुआ था। इसके अतिरिक्त हस्तिनापुर तथा बगदाद दोनों एक ही अक्षांश पर स्थित हैं अतएव एक साथ भूकम्प होना प्राकृतिक है।

इसी प्रकार अमेरिका के उपनिवेश मैक्सिको में मय जाति निवास करती है। इस जाति का संवत् ५००० वर्षों से कुछ पूर्व ही माना गया है।[१] यह प्रदेश द्वारका के अक्षांश पर स्थित है। यहाँ भी उसी काल में भूकम्प हुआ। यह बात वहाँ के अन्वेषकों ने 'स्मृति-भवन' की खुदाई के पश्चात् कही है।

वर्तमान काल में संवत्सर का प्रारम्भ चैत्र मास से होता है; परन्तु कृष्ण-काल में मार्गशीर्ष से आरम्भ होता था। अमरकोषकार ने भी ऐसा ही माना है।[२] इसी को आग्रहायणिक अथवा अगहन भी कहते हैं। काल माधवकार ने भी इसी मत की पुष्टि की है।[3] मंगशिर से लेकर तीन ऋतुओं वाला छह महीनों का समय उत्तरायण होता है। पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी में मृगशिरा नक्षत्र से युक्त पूर्णमासी को मंगशिर की पूर्णिमा को, आग्रहायणी कहा है।[४] श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता में इसी का प्रतिपादन किया है।[५] अतएव यह सिद्ध होता है कि महाभारत-युग में वर्षारंभ मार्गशीर्ष से होता था।

---

1. "National Geographical Magzine" America August 1959.

२. मार्गशीर्ष सहामार्ग आग्रहायणिकश्च सः।

३. मार्गमासादिकैस्त्रिभिर्ऋतुभिः कल्पितः काल षठामासात्मकमुत्तरायणम्

४. आग्रहायण्य श्वत्थाट्ठक (४।२।२२) पाणिनी

५. "मासानाम् मार्गशीर्षोऽहम्" गीता अ० १०

मार्गशीर्ष में बसंन्त-सम्पात शकारंभ के पहिले लगभग ४००० वर्ष पूर्व था।[1] शकारंभ से लगभग तीन हज़ार वर्ष पहले जब कृत्तकादि नक्षत्रों की गणना होती थी तब वर्षारंभ मार्गशीर्ष से होता था।[2]

तो वर्तमान शक संवत् में ३००० वर्ष और जोड़ दिये जायें तो १८७५ + ३००० = ४८७५ वर्ष होंगे।

ज्योतिष का दूसरा प्रमाण लीजिये। शुकदेव जी ने राजा परीक्षित से कहाः— "तुम्हारे जन्म के समय और आज भी सप्तर्षि मघा नक्षत्र में स्थित हैं।"[3]

सप्तऋषि एक नक्षत्र पर १०० वर्ष रहते हैं और सम्पूर्ण नक्षत्र सत्ताइस हैं अतएव नक्षत्रों का पूरा चक्कर १०० × २७ = २७०० वर्ष में पूरा होता है। आजकल सप्त-ऋषि कृत्तिका नक्षत्र पर हैं। मघा से कृत्तिका नक्षत्र २१ वाँ है, अतएव यहाँ तक आने में २१०० वर्ष लगे। सो यह तो ईसवी-संवत् ही हुआ। अतः जान पड़ता है कि वे नक्षत्र शुकदेवपरीक्षित संवाद तक मघा से मघा तक की एक परिक्रमा पूर्ण कर चुके थे। २१०० + २७०० जोड़ देने से ४८०० वर्ष हो जाते हैं। इस प्रकार यह धारणा सत्य सिद्ध हो जाती है। आज से २२३४ वर्ष पूर्व गर्ग नामक एक विद्वान् ज्योतिषी वर्तमान थे। उन्होंने लिखा है कि युधिष्ठिर संवत् के आज २५६६ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इसका समर्थन भागवत भी करता है।

प्रयाग के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य पं० इन्द्रनारायण द्विवेदी ने गणित से बताया है कि आजकल सप्तर्षिमण्डल उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में हैं। परीक्षित के समय से आज तक मघा से मघा तक पूरी दो परिक्रमाएं हो चुकी हैं। उनके मत से २७०० + २७०० + १०० = ५५०० वर्ष होते हैं।

श्री बद्रीप्रसाद जी मिश्र ने भी श्री हरिनन्दन मिश्र नामक ज्योतिषी का मत दिखाते हुए (संवत् १९७२ में) पुलह तथा क्रतु नामक तारों के मध्य से रेखा खींच कर सिद्ध किया कि सप्तर्षि पुनर्वसु नक्षत्र पर हैं। अतएव २७०० + २७०० = ५४०० वर्ष हो जाते हैं।

मेगस्थनीज ने माना है कि हरक्युलीस (बलराम या श्रीकृष्ण) डायोनिसियस से १५ पीढ़ी पश्चात हुए हैं। चन्द्रगुप्त और डायोनिसियस में वे १५३ पीढ़ी का अन्तर

---

१. "भारतीय ज्योतिःशास्त्र" लेखक श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित :— "मार्गशीर्षान्त बसन्त सम्पात शक पूर्वी सुमारे ४००० वर्षे या कालीं होत।"

२. भा० ज्यो० शा० पृष्ठ ३४

३. "तेत्ववीये हिजाः काल अधुना चाश्रिता मघाः।

मानते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण और चन्द्रगुप्त में १३८ पीढ़ी का अन्तर आता है। यदि पीढ़ी को २० वर्ष का ही मान लें तो १३८×२०=२७६० वर्ष होते हैं। चन्द्रगुप्त का समय ईसा से पूर्व ३२६ वर्ष है। २७६०+३२६+१९५३=५०३९ वर्ष होते हैं।

श्री वंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय महाभारत युद्ध को ईसा से १२६३ वर्ष पूर्व मानते हैं। इसकी सिद्धि के हेतु उन्होंने विभिन्न प्रमाण दिये हैं। यदि इसे ही माना जाय तो भी १२६३+१९५३=३२१५ वर्ष हो जाते हैं और भारत-विग्रह के समय श्रीकृष्ण कम से कम ६० वर्ष के तो रहे ही होंगे—इस प्रकार भी उनका काल ३२७५ वर्ष ठहरता है।

जिस दिन पितामह भीष्म का शरीरान्त हुआ उस दिन माघ मास, उत्तरायण सूर्य, शुक्ल पक्ष, अष्टमी तिथि तथा रोहिणी नक्षत्र था।[१] महाभारत में भी यही माना गया है।[२] श्री दीक्षित शंकर बालकृष्ण ने प्रमाणित किया है कि वह समय ईसा से ३१३९ वर्ष पूर्व ही हो सकता है। इस प्रकार ३१३९+१९५३=५०९२ वर्ष होते हैं।

आर्य भट्ट ने (२३ वर्ष की अवस्था में अर्थात् संवत् ५४६ में) कलियुग का आरम्भ अपने से ३६०० वर्ष पूर्व माना है। इस प्रकार संवत् २०१०+५४६+३६००=५०५४ वर्ष होते हैं।

लोकमान्य तिलक ने 'भागवत धर्म का उदय और गीता' नामक निबन्ध में कृष्ण का समय ईसा से १४०० वर्ष पूर्व माना है जो बंकिमचन्द्रजी की धारणा से मिलता हैं।

मेकडानल के अनुसार, कृष्ण का समय ईसा से पूर्व ६०० वर्ष आता है।[३] जैन धर्मानुसार श्रीकृष्ण नेमिनाथ जी के समकालीन थे, जो ईसा से पूर्व ८१७ वें वर्ष से भी पहले हो चुके थे। इस प्रकार कृष्ण का समय ईसा से नवीं शताब्दी पूर्व ही आता है।[४] प्रसिद्ध विद्वान् चिन्तामणि विनायक वैद्य का अनुमान है कि महाभारत, हरिवंश, मेगस्थनीज के लेख अथवा प्रचलित परम्पराओं के आधार पर श्रीकृष्ण का जन्म-काल ईसा के पूर्व ३१८५ वें वर्ष में तथा मृत्यु ३०७२ वें वर्ष में मानना उचित है। इस गणना से उनकी आयु राजसूयज्ञ के समय ७१ वर्ष आती है। महाभारत-विग्रह के समय ८४ तथा मृत्यु के समय लगभग ११३ वर्ष ठहरती है, जो अनुचित

---

1. "The Age of Sankara" by Srinarayan Shastry.
२. महा० शान्ति ४६।५, ४.
३. डा० मैकडानल "History of Sanskrit Literature" पृ० २२६
४. प्रो० रायचौधरी 'अर्ली हिस्ट्री आव दि वैष्णव सेक्ट' पृ० ३९

अथवा असंभव नहीं जान पड़ती।[१] इस प्रकार श्रीकृष्ण जन्म शक संवत् से ३२६३ वर्ष पूर्व अथवा ईस्वी सन् से ३१८५ वर्ष पूर्व भाद्रपद कृष्ण अष्टमी (दक्षिणीय गणना के अनुसार श्रावण कृष्ण ८) को अर्थात् अगस्त मास में हुआ।[२] सिकन्दर के समय में जो यूनानी यात्री भारत में आये उन्होंने लिखा है कि उस समय देश में ऐसे व्यक्ति विद्यमान थे जिनकी आयु १५०-२०० वर्ष की थी। अतएव श्रीकृष्ण का ११३ या १२० वर्ष की आयु प्राप्त करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

चालुक्य-नरेश पुलकेशिन द्वितीय शक संवत् ५५६ में अर्थात् ईस्वी सन् ६३४-३५ हुआ है। उस समय के 'एहोल' नामक उत्कीर्ण से सिद्ध है कि उस समय महाभारत युद्ध को ३७३५ वर्ष हो चुके थे। इस प्रकार भारत-विग्रह काल ३१०२ ईसा से पूर्व ठहरता है परन्तु मि० फ्लीट इसे अमान्य समझते हैं।[३] दूसरी ओर वृद्ध गर्ग, वराहमिहिर तथा कल्हण आदि मानते हैं कि कलि के आरम्भ से ६५३ वें वर्ष में भारत युद्ध हुआ अर्थात् २४४९ ईसा से पूर्व या शक-संवत् से २५२६ वर्ष पूर्व।[४]

पुराणों में से मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु तथा भागवत पुराण में जो वर्णन है उसमें साम्य ही अधिक है। महापद्म नंद तथा परीक्षित के जन्म का अन्तर १०१५ वर्षों का माना गया है।[५]

श्री गेगर (Geiger) के अनुसार नंद के राज्याभिषेक की तिथि ईसा से ३४३ वर्ष पूर्व है। ३४३ + १०१५ = १३५८ ईसा से पूर्व परीक्षित की जन्म तिथि ठहरती है। इससे कुछ ही वर्ष पूर्व महाभारत हुआ। डा० हेमेन्द्रराय चौधरी पौराणिक तथा ज्योतिष गणना की सत्यता में सन्देहशील हैं। इतना वे मानते हैं कि श्रीकृष्ण महात्मा बुद्ध से पहले हुए हैं क्योंकि कृष्ण का छांदोग्यउपनिषद में वर्णन है, जो प्रांग-बौद्धिक रचना है।[६] उनके गुरु घोर आंगिरस का वर्णन भी कौशकीति-ब्राह्मण (३०।६) में है। जो प्राग-बौद्धकालीन रचना है। ऋग्वेद में वृष्णि अथवा सात्वत वंश का विवरण नहीं है—कृष्ण इसी वंश में उत्पन्न हुए थे।

१. वैद्य 'एपिक इंडिया' पृ० ४१८-४२०

२. वैद्य "महाभारत मीमांसा"

3. JRAS, 1911, pp. 479 ff. pp. 675 ff.

४. वृहत संहिता १३।३, राजतरंगिणी १।४८-५६

५. यावत् परीक्षितोजन्म यावन्नन्दाभिषेकनम्।
इवाम् वर्ष सहस्रन्तु ज्ञेयम् पंचदशोत्तराम्।
पर्जीटर—"डायनैस्टीज आफ दि कलि एज" पृष्ठ ५४

६. "अर्ली हिस्ट्री आव दि वैष्णव सैक्ट" पृष्ठ ६४

श्री वाशवर्न हापकिन्सन यह तो मानते हैं कि पाणिनी और आंश्वलायन के समय में महाभारत था परन्तु यह नहीं मानते कि वह महाभारत यही था, जो व्यास कृत है। उनका यह मत नितान्त हठधर्मी पर ही आधारित है; क्योंकि वे किसी दूसरे महाभारत का प्रमाण उपस्थित नहीं कर सके हैं। डा०रायचौधरी ने यह भी माना है कि श्रीकृष्ण से सम्बद्ध पुराणों का रचना-काल ईसा से पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी ही हो सकता है, उनको किसी भी रूप में पाँचवीं शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं मान सकते हैं। आपने स्वीकार किया है कि जो भी हो श्रीकृष्ण ईसा से ६०० वर्ष पूर्व थे—अर्थात् उनका समय ६०० + १९५३ = २५५३ वर्ष ठहरता है।

कैप्टेन विलफर्ड ने यह माना है कि पाराशर और कृष्ण दोनों युधिष्ठिर के समकालीन थे, जो ईसा से पूर्व ११८० में थे।[1] ज्योतिषविशारद डेविस तथा कोलब्रुक का विश्वास है कि श्रीकृष्ण ईसा से १३९१ वर्ष पूर्व थे। डब्ल्यू ब्रेनार्ड का मत भी यही है।[2]

बंकिमचन्द्रजी ने १४३० ईसा से पूर्व कृष्ण जन्म माना है।[3] ईसा से ११०० वर्ष पूर्व पाणिनी ने अपने व्याकरण में वासुदेव श्रीकृष्ण का वर्णन किया है।[4]

डा० सीतानाथ जी प्रधान ने भी यही माना है कि कुरुक्षेत्र का युद्ध ११५० और ११५२ के मध्य ईसा से पूर्व हुआ था, जिसमें कृष्ण अर्जुन के सारथी थे।[5]

महाभारत युद्ध लगभग १४४७ ईसा से पूर्व हुआ। सूर्य-वंशी राजा वृहद्बल इस महायुद्ध में मारे गये थे। वृहद्बल सूर्य से १०७ वीं पीढ़ी पर १५००-१४४७ ईसा से पूर्व में थे—यही समय महाभारत का है।[6].

---

1. "Chronology of the Hindus" by Capt. Wilford.
2. "The received openion however, as before stated, is that Yudhisthira (with Garga and Parasara) lived sometime about 12th or 13th Centuries before the Christian era" W. Brennard in his book" Hindu Astronomy, pp. 119.

३. कृष्ण चरित्र पृष्ठ ८२, ४३-४८।

4. Bliss—Krishna Number pp. 211-17 'Date of Krishna by Swami Abhananda.
5. Chronology of Ancient India by Dr. S. N. Pradhan.

६. 'आर्यदेवकुल का इतिहास" ले० महाराजकुमार दीवान प्रतिपाल सिंह जी पृष्ठ ३९.

कुरु-पांचाल युद्ध के समय से भगवान् बुद्ध तक ३५ राजाओं ने राज्य किया। बुद्ध विक्रम से पूर्व छठी शताब्दी में हुए। (१८८५ ईसा से पूर्व) प्रत्येक राजा के लिए २० वर्ष का राज्य-काल मान लें तो भारत-विग्रह विक्रम की १३ शताब्दी में पड़ेगा।[1].

दुष्यन्त के पुत्र भरत ने अतिरात्रि में यज्ञ किया (आश्वलायन गृह्यसूत्र १०। ५।८।) इसके अनुसार १४८८ (३७२×४) कलि संवत् या १५५६ वि० पू० (३०४४-१४८८) भारत का समय हुआ। 'विष्णुपुराण' में दी हुई वंशावली से युधिष्ठिर भरत की २५ वीं पीढ़ी में हुए। वे १२०३ वि० पू० स्वर्गवासी हुए। भरत और युधिष्ठिर का मध्यकाल २४८ वर्ष का हुआ-प्रत्येक राजा का काल १० वर्ष हुआ (२४८÷२५) कृष्ण युधिष्ठिर के समकालीन थे।[2].

डा० काशीप्रसाद जायसवाल महापद्म के पिता महानंद का सिंहासनारूढ़ाकाल ३५२ वि०पू० मानते हैं। इस प्रकार भारत-विग्रह १३६७ विक्रम से पूर्व (३५२ + १०१५) ठहरता है।

कर्नल बेली ने भारतीय ज्योतिषियों की गणना की मुक्त कंठ से सराहना की है और उसे प्रामाणिक माना है।

आइने अकबरी में अबुलफज्ल ने लिखा है :—"इस युग के आदि में राजा युधिष्ठिर ने विश्व विजय किया और एक युग का अन्त समझ कर अपने राज्य-काल से एक संवत् चलाया। उस समय से आज तक जो कि दीन इलाही का ४० वाँ वर्ष है, ४६९६ वर्ष बीत गये हैं।" यह ४० वां वर्ष ११ मार्च १५५६ ई० को पड़ा था।[3]

ईसाई धर्मावलम्बियों की धार्मिक-मान्यता है कि आर्चविशप अशर तथा हैब्रू-पाठ्य के अनुसार सृष्टि का आरम्भ अक्तूबर २३, ४००४ ई० से पूर्व हुआ।[4] तथा आदम और ईव का जन्म २८ अक्तूबर को हुआ। इस प्रकार यह प्रमाणित हुआ कि अँग्रेजों का कुल संसार ५-६ हजार वर्षों का है, जब कि भारतीय गणक संसार को दो

1. "Civilization of Ancient India" by Dr. Ramesh Chandra (1930) pt. 1 page 10.

२. गवामयन ले० श्याम शास्त्री "वैदिक संवत" पृ० १५५.

3. 'Akbar the great" by Vincent Smith, Oxford (1919) pp. 448-449.

4. "Dictionary of Universal Information"—Chronological table pp 1413. Pub .by W. Kent Co; 23 Paternostic Row E. C. London.

अरब वर्ष पुराना मानते हैं और ऋग्वेद की किसी-किसी ऋचा को ३ लाख वर्ष पुराना मानते हैं।[1] वे यदि कृष्ण को पाँच हजार वर्ष प्राचीन मान लें तो श्रीराम को अति प्राचीन मानना ही होगा।

जो भी हो, कृष्ण के सम्बन्ध में भारत, पुराण तथा अन्य ग्रन्थ ही प्रामाणिक हैं और ज्योतिष गणना की अवहेलना भी नहीं की जा सकती है (जिसके द्वारा ईसा के जन्म-स्थान तथा तिथि आदि का पता भी लगा लिया गया था) अतएव हमारी सम्मति में कृष्ण का समय आज से पाँच हज़ार वर्षों से ऊपर ही मानना उचित है।

---

१. "आर्यों का देश" ले० डा० सम्पूर्णानन्द जी
"वेदकाल निर्णय" श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट पृ० २२३

श्रीकृष्ण का जन्म-पत्र

श्री पं० गंगासहाय जी महाराज ने श्रीमद्भागवत् की एक टीका की है—"अन्वितार्थ-प्रकाशिका" और उन्होंने दशम-स्कन्ध के तीसरे अध्याय की व्याख्या करते समय श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव पर लिखते हुए 'खमाणिक्य' ज्योतिष-ग्रन्थ के आधार पर कृष्ण की जन्म-पत्री के विषय में एक श्लोक दिया है :—

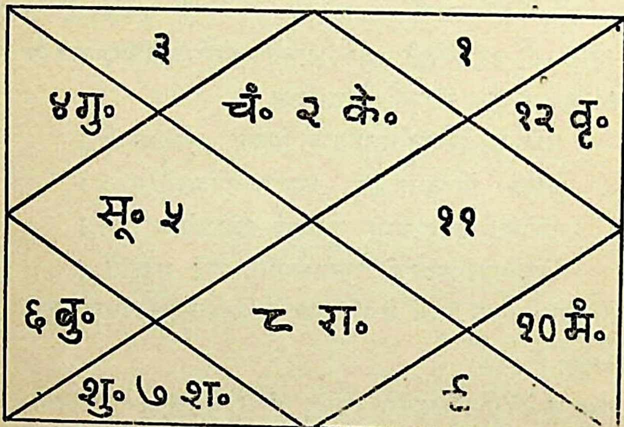
उच्चस्थाः शशिभौमचन्द्रिशनयोलग्नं वृषोलाभगो ।
जीवः सिंहतुलालिषु क्रमवशात्पूषोशनोराहवः ।
नैशीथः समयोऽष्टमी बुधदिनं ब्रह्मर्क्षमत्र क्षणे ।
श्रीकृष्णाभिधमम्बुजे क्षणमभूदाविः परं ब्रह्मतद् ।।

चौरासी वैष्णवों की वार्ता में भी इसी से मिलता-जुलता एक पद्य महात्मा सूर दास जी का मिलता है :—

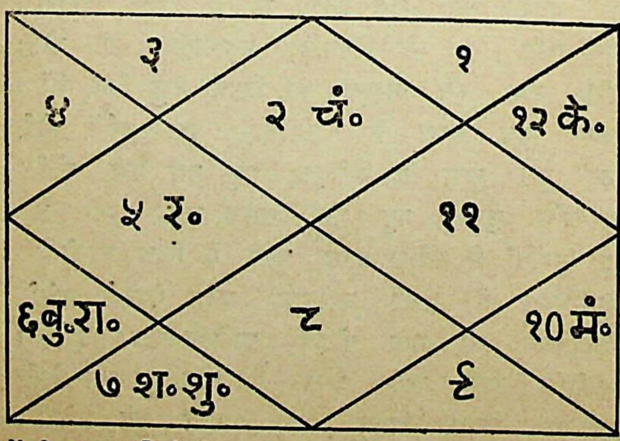
"नन्द जू मेरे मन आनन्द भयो, मैं सुनि मथुरा ते आयो ।
लगन सोधि ज्योतिष को गिनि करि, चाहत तुम्हहि सुनायो ।।
सम्वत्सर 'ईश्वर' को भादों, नाम जु कृष्ण धरयो है;
रोहिणि, बुध, आठैं अँधियारी, 'हर्षन' जोग परयो है ।
वृष है लग्न, उच्च के 'उडुपति', तन को अति सुखकारी;
दल चतुरंग चलै सँग इनके, ह्वै है रसिक बिहारी ।
चौथी रासि सिंह के दिनमनि, महिमण्डल को जीतैं;
करिहैं नास कंस मातुल को, निहचै कछु दिन बीतैं ।
पंचम बुध कन्या के सोभित, पुत्र बढ़ैंगे सोई;
छठएँ सुक्र तुला के सनिजुत, सत्रु बचै नहिं कोई ।
नीच-ऊँच जुवती बहु भोगैं, सप्तम राहु परयो है ।
केतु 'मुरति' में स्याम बरन, चोरी में चित्त धरयो है ।
भाग्य-भवन में मकर मही-सुत, अति ऐश्वर्य बढ़ैगो,
द्विज-गुरुजन को भक्त होइकै, कामिनि-चित्त हरैगो ।
नव-निधि जाके नाभि बसत हैं, मीन वृहस्पति केरी;
पृथ्वी-भार उतारै निहचै, यह मानौं तुम मेरी ।
तब ही नन्द-महर आनन्दै, गर्ग-पूजि ठहिरायो;
असन, बसन, गज, बाजि, धेनु, धन, भूरि-भण्डार लुटायो ।।

बंदीजन द्वारै जस गावैं, जो जाँच्यो सो पायो;
ब्रज में कृष्ण-जन्म को उत्सव, 'सूर' विमल जस गायो ।।

श्लोक और पद दोनों में ग्रह नक्षत्रादिक का अनुपम साम्य है । इसके अतिरिक्त सूरदास जी ने तो ग्रहों का फलादेश भी साथ में सुन्दर रूप से दे दिया है । इस प्रकार जन्म-कुण्डली यह है:—



इसके अतिरिक्त एक जन्म-कुण्डली और भी प्राप्त है । इसे कर्नाटक के प्रसिद्ध विद्वान् ज्योतिषाचार्य श्री बी० एच० वडेर एम० ए० ने प्रकाशित किया है । यद्यपि ग्रहों की स्थिति में थोड़ा सा चलित अर्थात् अन्तर दृष्टिगोचर होता है परन्तु फलादेश में साम्य है । वह इस प्रकार है:—



दोनों ही जन्म-पत्रियों में साम्य है और जहाँ विभिन्नता है भी वह चलित होने के कारण ही है ।

वासुदेव श्रीकृष्ण

कतिपय आलोचकों की सम्मति में गोकुल के बालकृष्ण, महाभारत के योगेश्वर कृष्ण तथा द्वारका के श्रीकृष्ण भिन्न थे और समय चक्र ने उन तीनों को मिश्रित करके एकीभूत बना दिया। "वासुदेव और कृष्ण को दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानना न्यायतः असंभव हो गया।"[1]. वे आगे चलकर विष्णु तथा नारायण से मिलकर एक होगये और तभी वैष्णव धर्म का पूर्ण संघठन हुआ।

महाभारत में वासुदेव शब्द का अर्थ किया है :—"वह वासुदेव इसलिए कहलाता है कि सभी प्राणियों को अपनी माया से अथवा अपनी अलौकिक ज्योति से आच्छादित करता है।"[2].—"सूर्य के रूप में, मैं अपनी किरणों से समस्त विश्व को ढक लेता हूँ और सभी प्राणियों का अधिवास् होने से मेरा नाम वासुदेव है।"[3]. परन्तु दूसरे स्थान पर वासुदेव को 'वसुदेव का पुत्र' भी कहा गया है।[4] एक कृत्रिम वासुदेव का वर्णन भी है जो पौण्ड्र जाति का राजा था। गीता में तो श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि :—"मैं वृष्णियों में वासुदेव हूँ।"[5] इससे यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीकृष्ण का जन्म वृष्णि-कुल में हुआ था। बौद्धों के 'घट जातक' में वासुदेव को "मथुरा प्रदेश के उत्तरी भाग में रहने वाले किसी राजवंश की संतति" बताया है।[6]. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी "वृष्णि संघ" का वर्णन है।[7]

महाभारत के भीष्म पर्व अर्थात् ६५ वें अध्याय में कहा गया है कि ब्रह्मदेव ने पुरुष परमेश्वर से प्रार्थना की कि आप यादव-वंश की अभिवृद्धि कीजिए तथा उनको

१. डा० रायचौधरी 'अर्ली हिस्ट्री आव दि वैष्णव सैक्ट" पृ० १८-१९

2. बसनात्सर्वभूतानां वसुत्वाद्देव योनितः। वासुदेव स्ततो वेद्यः। म० भा० ५।७०।३

३. छादयामि जगद्विश्वंभूत्वा सूर्य इवांशुमि सर्वभूताधिवासश्चवासुदेवस्ततोह्यहम् —महाभारत (१२-३४१-४१)

४. महाभारत (३-१४-८)

५. वृष्णीनां वासुदेवोस्मि (गीता-१०-७७)

६. डा० राय चौधरी पृ० १९

७. अर्थशास्त्र आव कौटिल्य-शामा शास्त्री पृ० १२-१३.

'वासुदेव' नाम से संबोधित भी किया। डा० भांडारकर की सम्मति में 'वासुदेव भक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक का ही नाम था।''[१]. वासुदेव किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय विशेष के उपास्यदेव थे यह बात सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी के एक सूत्र से भी ज्ञात होती है। पाणिनि ईसा से पूर्व ७ वीं शताब्दि में हुए हैं—ऐसा माना जाता है।[२]. पतंजलि ने भी ऐसा ही माना है और दूसरे सूत्र पर भाष्य लिखते हुए कहा है कि "वासुदेव और बलदेव यों दोनों वृष्णि नाम हैं।"[३]. बौद्ध ग्रन्थ 'निर्द्देश' से स्पष्ट है कि ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी में वासुदेव तथा बलदेव के साम्प्रदायिक अनुयायी विद्यमान थे।[४] शतपथ ब्राह्मण (३-१-१-४) में भी वार्ष्णेय शब्द व्यवहृत हुआ है।

महाभारत के आदिपर्व में वासुदेव ने वृष्णिकुल को संबोधित करते हुए कहा—"अर्जुन सात्वतों को लोभी नहीं मानते।" स्वयं वासुदेव को भी सात्त्वत कहा गया है। अतएव सात्त्वत और वार्ष्णेय एक ही हैं। गीता में कई बार अर्जुन ने श्रीकृष्ण को वार्ष्णेय कहा है।[५].

'विष्णु पुराण' में, चतुर्थ अंश के ग्यारहवें अध्याय के अन्त में पराशर ने यदु-कुल का वर्णन किया है।[६]. उसी अंश के बारहवें अध्याय के अन्त में यदु के पुत्र क्रोष्टु के वंश का विवरण भी है। यदु के पुत्र सहस्त्रजित् के वंश में मधुर के पुत्र वृष्णि हुए जिनसे वृष्णिवंश की संज्ञा हुई और यदु के कारण यह यदुकुल कहलाया। क्रोष्टु के कुल में अंश नामक पुरुष हुए, जिनके पुत्र सत्वत थे और तभी वे लोग सात्त्वत कहलाये।

इस प्रकार दोनों ही कुल एक जान पड़ते हैं। सात्वत लोग भगवान को वासु-देव कहा करते थे और भागवत में उनको "सात्त्वतर्षभ" भी कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में सात्त्वत भी वार्ष्णेय की भाँति ही व्यवहृत हुआ है।[७].

'छांदोग्य उपनिषद्' में वर्णन है कि घोर आंगिरस ने देवकी पुत्र कृष्ण को कुछ उपदेश दिये और वे उपदेश गीता में मिलते हैं।

---

१. "वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम" पृष्ठ १३-१४

२. 'वासुदेवार्जुनरभ्याँ वुञ्' (४-३-९८) पर पंतजल्र महाभाष्य ?

३. "ऋष्ण्यन्धक वृष्णि कुरुम्यश्च (४-१-११४)

४. "वै० शै० एण्ड मा० रि० सि०" डा० भांडारकर पृष्ठ ३-४

५. "स्त्री दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः" अ० २

६. वृषस्य पुत्रो मधुर भवत् ।२६। तस्यापि वृष्णि प्रमुखं पुत्रशतमासीत् ।२७। यतो वृष्णि संज्ञा मैतद्गोत्रभवाय ।२८। यादवश्य यदुनामोय-लक्षणाहिति ।३०। विष्णुपुराण (४-११)

७. शतपथ ब्राह्मण (१३-५-४-२१)

भारतीय-जनों के मध्य आज तक कभी भी यह प्रश्न उत्पन्न हुआ ही नहीं हुआ कि नारायण, ईश्वर अथवा वासुदेव कृष्ण परस्पर भिन्न हैं। केवल १९ वीं शताब्दी में पय पाश्चात्य विद्वानों ने इस पर विचार-विमर्श किया और तब से आज तक यह कतिसमस्या विचार-ग्रस्त बनी हुई है।[1].

हिन्दी के क्षेत्र में दो एक धार्मिक-पत्रों को छोड़कर किसी ने भी इस ओर अधिक उत्साह नहीं दिखाया। यदि इसे अतिशयोक्ति या गर्वोक्ति न माना जाय तो हमारा निवेदन है कि इस दिशा में यह हमारा सर्वप्रथम प्रयास है, जो अल्प-स्वल्प होते हुए भी 'पगडंडी' का काम करने वाला तो माना ही जायगा। हमारा मूल विषय तो 'भ्रमरगीत' का विवेचन है इसलिए प्रसंगवशात् श्रीकृष्ण के जीवन और मान्यताओं से सम्बद्ध संक्षिप्त प्रकाश ही डालना उचित जानकर ग्रन्थ का कलेवर नहीं बढ़ाया गया है। इस पर स्वतंत्र रूप से अन्वेषण करने का हमारा विचार है।

वसुदेव के पुत्र होने से श्रीकृष्ण को वासुदेव कहा जाता है, जैसे पराशर के पुत्र पाराशर कहे गये हैं। इसलिए देवकी-पुत्र कृष्ण तथा वासुदेव कृष्ण में अधिक वैषम्य नहीं होना चाहिए। महाभारतादि में कृष्ण के दोनों रूपों का वर्णन है। प्राप्त सामग्री के आधार पर यह तो निश्चित हो जाता है कि श्रीकृष्ण का जन्म यादव-कुल में हुआ, वे घोर आंगिरस के शिष्य थे, उन्होने कंस का वध किया, महाभारत में पाण्डवों को सहायता प्रदान की और पश्चात् द्वारका में निवास किया। वे ही भागवत् धर्म के संस्थापक तथा पुनुरुद्धारक थे और उनके भक्त भागवत् अथवा सात्वत् कहें जाते थे। यही धर्म 'पाँचरात्र' या 'एकान्तिक' भी कहा गया। इसका वर्णन-महाभारत के 'नारायणीय' अंश में प्राप्त है।

परमात्मा को 'वासुदेव' माना गया है। हमारी धारणा है कि श्रीकृष्ण को वासुदेव की उपाधि से विभूषित किया गया होगा जैसा कि ईसा को क्राइस्ट कह कर पुकारा गया। वसुदेव पुत्र होने के साथ ही साथ उनमें वासुदेवत्व तथा ब्रह्मत्व की अवधारणा भी की गई और तब वे ब्रह्मस्वरूप, पूर्णावतार वासुदेव श्रीकृष्ण कहे जाने लगे।

यह कहना कि, गोकुल से मथुरा आना तथा वहाँ से कुरुक्षेत्र तक पहुँचना तो संभव हैं परन्तु कृष्ण ने द्वारका को अपनी राजधानी क्यों बनाया-कोई विशेष शक्तिशाली तर्क उपस्थित नहीं करता है। यह तो कर्मठ-व्यक्ति के कार्य-क्षेत्र और उसकी आवश्यकता पर निर्भर है। गांधी जी पोरबन्दर, काठियावाड़ में पैदा हुए—पहुंचे दक्षिण अफ्रीका और शरीरान्त हुआ दिल्ली में, कोई इसमें विलक्षणता और असमानता मानने लगे तो दोष गांधी जी का नहीं। ऐसी ही बात श्रीकृष्ण के विषय में है।

---

१. एस० एन० ताड़पत्रीकर—"दि कृष्ण प्राब्लम्" बी० ओ० आर० इन्स्टीट्यूट मैन्युअल भाग १० पृष्ठ २७०.

श्रीकृष्ण-कालीन दक्षिणपथ में कर्नाटक आदि पाण्डु-राष्ट्र था और नासिक आदि के आस-पास 'गोप-राष्ट्र' था। इसी से संलग्न श्रीकृष्ण का स्व-राष्ट्र (सौराष्ट्र) था। अतएव पाण्डवों तथा गोपों के साथ ही उनका रहना परम स्वाभाविक जान पड़ता है, इसीलिए श्रीकृष्ण ने द्वारका को मान और महत्त्व प्रदान किया। राजनैतिक दृष्टि-कोण से 'ओखा' उस समय सुन्दर 'जल-स्थान' (बन्दगाह) था। यहाँ से आयात-निर्यात के अतिरिक्त विदेशों से विनिमय का साधन भी सुलभ था।

संक्षिप्त में, हम यह मानते हैं कि गोकुल के बालकृष्ण, कंसापहारी मधुसूदन, गीतोपदेशक घनश्याम और द्वारकानाथ श्रीकृष्ण एक ही व्यक्ति थे।

ब्रजवासी गोपाल श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण का बाल्यकाल अधिकांश में व्रज में ही व्यतीत हुआ। व्रज से तात्पर्य है गोकुल, वृन्दावन और मथुरा से, चाहे इसे अति सीमित ही क्यों न माना जाय। इसके पश्चात् तो उनका जीवन गो-पाल न रह कर लोक-पाल हो गया। वस्तुतः भारतीय-काव्य में श्रीकृष्ण के इसी बाल्यकाल की झाँकियाँ हैं। इसी रूप को लोगों ने "प्राकट्य अथवा प्रकाश प्रत्यक्ष" माना है।[1] अर्जुन को विराट् रूप का दर्शन भयभीत करने वाला था परन्तु माता यशोदा को चकित-विस्मित करने वाला रहा। भक्त इसी रूप का दर्शन चाहते हैं। इसी का नाम तो अन्तर्दृष्टि है।[2] लीलाएँ भी व्रज में सम्पूर्ण हुईं ? नित्य के प्राकट्य का नाम ही तो लीला है।[3] व्रज के भाव में ऐश्वर्य नहीं है, प्रपंच का पता नहीं है, काम का आभास भी नहीं हैं, अनात्म अथवा बाहर की किसी वस्तु का वंधन भी नहीं है। यही स्व-राज्य है (Heart's own kingdom) मथुरा और द्वारका में प्रेम और हृदय तो है परन्तु वहाँ मन और प्राणों की छाया आ गई है, इसी से वहाँ बाधा है (Limitations and Conventions) राधा नहीं है।

साहित्य मानव-जीवन का परिचायक है। वह काव्य है, स्वप्नमय, कल्पनामय (Dreaming and imagining) कृष्ण के जीवन का यह पहला स्तर है, इसी का नाम वृन्दावन है, इसी में किशोरावस्था है। जीवन का दूसरा स्तर है असीम साहसिकता (Daring) स्वप्न इतिहास भी और काव्य इतिहास भी—यही मथुरा और द्वारका है। यही पहला यौवन है। जीवन का तीसरा स्तर है विवेचनामय कर्म और उनकी सिद्धि (Doing, Achievement, Dreaming) स्वप्न, दर्शन और कल्पना, जीवन के यही तीन स्तर हैं, श्रीकृष्ण-लीला के यही तीन भाग हैं। तीसरा स्तर अपूर्ण है—क्योंकि कर्म कभी समाप्त नहीं होता। (गो) इन्द्रियों का, (पाल) पालन इसीलिए किया जाता है।

---

1. God on earth in earthly affairs.
2. They Saw the Universe from within.
3. The infinite playing in the finite.

संस्कृत साहित्य में श्रीकृष्ण

वस्तुतः संस्कृत-काव्य का आरम्भ महर्षि बाल्मीकि से माना जाता है और उनका पहला श्लोक करुणा से पूरित होने के कारण करुणा को ही कविता की जननी माना गया है।[1] इतर कवियों में भवभूति ने भी ऐसा ही स्वीकार किया है।[2] प्रधानतः महाभारत से ही संस्कृत में कृष्ण-काव्य का आरम्भ मानना उचित है। इसके पश्चात् भागवत की गणना की जायगी। महाभारत में श्रीकृष्ण के विषय में कहा गया है किः—"अनादि, अनन्त, जगत्कर्ता, प्रभु, अव्यक्त, अक्षर, ब्रह्म, प्रकृति, त्रिगुणात्मक, आत्मा, अव्यय, प्रधान, जगत के कारण, स्वामी, पुरुष, विश्व-कर्मा, सत्त्वरूप, ध्रुव, अक्षय, अनन्त, अचल, देव, हंस, प्रभु नारायण, धाता, अजन्मा, अनिर्देश्य, परम अविनाशी, केवल, निर्गुण, अनादि विभु, ऐसे उन सर्व प्राणियों के पितामह परमात्मा ने धर्म संस्थापन के लिए लोगों पर दया करके वसुदेव-देवकी के यहाँ जन्म लिया।" ?

इस प्रकार महाभारत में श्रीकृष्ण को परब्रह्म परमात्मा का अवतार माना

---

१. अनादि निधनो देवः स कर्त्ता जगत. प्रभुः।
अव्यक्तमक्षंर ब्रह्म प्रकृति त्रिगुणात्मकम्॥
कैवल्यं निर्गुणं विश्वमनादिमजमव्ययम्।
पुरुषः स विभुः कर्त्ता सर्वभूत पितामहः॥
आत्मानमव्ययं चैव प्रकृति प्रभवं प्रभुम्।
पुरुषं विश्वकर्माणं सत्त्वयोगं ध्रुवाक्षरम्॥
अनन्तमचलं देवं हंस नारायणम् प्रभुम्।
धातारमजमव्यक्तं यस्तहुः परमव्ययम्॥
धर्मसंस्थापनार्थं प्रजज्ञेऽन्धक वृष्णिषु!
अनुग्रहार्थं लोकानां विष्णुर्लोकनसस्कृतः॥
वसुदेवात्त् देवक्यां प्रादुर्भूतो महायशः।
आदिपर्व। अध्याय ६३।

२. एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयंम्।
भागवत १।३।२८

गया है। पुराण-साहित्य में भी इसी प्रकार की उद्भावनाएँ की गई हैं और श्रीमद्भागवत में तो स्पष्ट ही श्रीकृष्ण को लीलावतार परमेश्वर का अंश माना है।

श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा और पूजा उनके भगवत्स्वरूप को मान कर ही अधिकांश में हुई है। इसलिए क्या भवभूति और कालिदास और क्या अन्य कवि सभी ने उनको ईश्वरावतार मानकर अर्चना-वंदना की है। श्री शंकराचार्य और चैतन्य महाप्रभु से लेकर कवि-कुल-कुमुद-कलाधर श्री जयदेव जी ने भी समस्त कार्यों की समष्टि रूप श्रीकृष्ण का वर्णन अपने काव्य में किया है।[1]

आज भी, आस्तिक तथा सगुणोपासक भारतीयों के मध्य श्रीकृष्ण वन्दना का जो श्लोक प्रचलित है, कोई नहीं जानता वह कितना प्राचीन है:—[2]

"वंशी शोभित जिनके कर में मनहर-सी,
अंगों की आभा श्याम नवल-जलधर-सी,
हैं अरुण-बिम्ब से ओष्ठ, पड़ा पीताम्बर-
जगती में कोई नहीं कृष्ण से बढ़कर-
लीला नवीन ब्रजधाम 'श्याम' करते हैं।
उनके चरणों में हम प्रणाम करते हैं॥"

———

१. वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते।
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥
गीतगोविन्द।

२. वंशीविभूषित करान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुण बिम्बफलाधरोष्ठात्
पूर्णेन्दु सुन्दर मुखादर विन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।

हिन्दी काव्य में श्रीकृष्ण

हिन्दी काव्य-क्षेत्र में श्रीकृष्ण को सर्वप्रथम प्रतिष्ठापित करने का श्रेय महाकवि सूरदास जी को ही मिलना चाहिए। यों तो गीति-काव्य की परम्परा के प्राण महाकवि जयदेव और विद्यापति इस मार्ग के प्रदर्शक माने जाने योग्य हैं परन्तु एक तो संस्कृत के कवि होने से पृथक हो जाते हैं और दूसरे इनके सम्बन्ध में पर्याप्त खींच तान है। कुछ लोग विद्यापति को मैथिल-भाषा का कवि होने से हिन्दी से अलग रख देते हैं। कतिपय आलोचक मैथिली को हिन्दी का ही एक स्वरूप मानते हैं। जो भी हो, हम इस विवाद से तटस्थ रहते हुए ही आगे बढ़ना श्रेयस्कर मानते हैं।

भक्ति-युग हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग माना गया है। वस्तुतः सत्य भी यही है कि इस युग में जिस तत्परता-तन्मयता और तल्लीनता से काव्याराधन हुआ, वैसा सुयोग आज तक उपलब्ध नहीं हो सका।

तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति के प्रभाव से और आन्तरिक आध्यात्मिक पुकार से प्रेरित होकर हिन्दी साहित्य की रंगभूमि पर 'बालकृष्ण' अवतीर्ण हुए। श्रीमद्वल्लभाचार्य जी ने "घिघियाने वाले सूर" को अपनी छत्र-छाया प्रदान की और तभी हिन्दी साहित्योद्यान सौरभ से भर गया—"वन्दौं चरण कमल हरिराई" की ध्वनि से वातावरण मुखरित करने वाले सूर ने भागवत् के दशम स्कंध के आधार पर "सूर-सागर" की रचना कर डाली। उनके साथ नंददास, कुंभनदास, छीतस्वामी आदि सात-आठ कवियों ने अपनी काव्य-धारा से भक्ति-उपवन को सरस बना दिया।

मीरा ने गाया—"बसो मोरे नैनन में नंदलाल" तो सूर ने विरह निवेदन किया:—"निसदिन बरसत नैन हमारे।" एक नहीं, अनेकों कवियों ने अमर-रचनाओं के द्वारा इस भंडार को भरा; परन्तु चार-सवैये लिखकर रसखान अमर हो गये:—

> धूरि भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
> खेलत खात फिरैं अँगना, पग पैंजनियाँ, कटि पीरी कछोटी॥
> वा छवि को 'रसखान' विलोकत वारत काम कलानिधि कोटी।
> काग के भाग कहा कहिए, हरिहाथ सौं लैं गयो माखन रोटी॥

मनोरंजनार्थ कतिपय कवियों की भावनाएँ देखिये :—

कजरारी अँखियान में, बस्यौ रहै दिन रात।
प्रीतम प्यारौ है सखि या तें साँवल गात॥

—नागरीदास

लाली मेरे लाल की जित देखूँ उत लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

—कबीरदास।

मुरली लकुट दुराय कै नाथ भये रघुनाथ।
लखि अनन्यता भक्त की जन को कियो सनाथ॥

—तुलसीदास

मरिवे डरौं न बिधिहि बस, पंचभूत करि बास।
पी-वापी मारग मुकुर, बीजन अँगन प्रकास॥

—जमाल

जा थल कीन्हे विहार अनेकन, ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करें।
जा रसना सों करी वहु वातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करें॥
'आलम' जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करें।
नैननि में जो सदा रहते, तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करें॥

—आलम

नंद के कुमार कुरबान ताणी सूरत पैं
हौं तो मुगलानी हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं।

—ताज

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परै स्याम हरित दुति होय॥

—बिहारीलाल।

आधे-आधे दृगनि रति, आधे दृगनि सुलाज।
राधे आधे वचन कहि, स्व-वस किये ब्रजराज॥

—पद्माकर

पाँयन नूपुर मंजु बसैं, कटि किंकिन की धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत, हियै हुलसै बनमाल सुहाई॥
माथे किरीट बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुरत चंद जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक-सुन्दर श्री ब्रजदूलह देव-सहाई॥

—देव

मेवा बई घनी काबुल में, वृन्दावन आनि करील जमाये।
राधिका-सी सुभ बाम विहाय कैं, कूबरी-संग सनेह बढ़ाये॥
मेवा तजी दुरजोधन की, बिदुराइन के घर छोकल खाये।
'ठाकुर' ठाकुर की का कहौं? ठाकुर तौ बावरे होतई आये॥

—ठाकुर

तात्पर्य यह है कि भक्तिकाल और रीतिकाल से लेकर आज तक हिन्दी-साहित्य में श्रीकृष्ण से सम्बद्ध रचनाएँ होती चली आ रही हैं और हमारा विश्वास है कि जब तक सरस्वती-पुत्र शेष रहेंगे प्रेमावतार, योगेश्वर श्रीकृष्ण का गुणानुवाद होता ही रहेगा।

दूसरा अध्याय

श्रीकृष्ण और राधा

युग-युग से 'राधाकृष्ण' की भावना धार्मिक-जनों के आनन्दातिरेक और निर्माण-प्राप्ति का आधार रही हैं। उन्होंने माना है कि 'बिना राधे श्यामसुंदर आधे' हैं।[1]. तात्पर्य यह है कि राधा को श्रीकृष्ण की परम-शक्ति माना जाता रहा है। लेकिन इस सम्बन्ध में सात्विक और तात्विक विवाद भी पर्याप्त है। श्रीकृष्ण जी की आठ पट-रानियों का विवरण मिलता है रुक्मिणी, जाम्बवती, सत्यभामा, कालिन्दी, सत्या, मित्र वृन्दा, भद्रा और लक्ष्मणा। इन में कहीं भी राधा के नाम का उल्लेख नहीं। इसके अतिरिक्त जिन सहस्त्रों रानियों का उल्लेख है उनमें भी राधा की गणना नहीं है। यहाँ तक कि जिस श्रीमद्भागवत को श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है उसमें भी राधा का वर्णन विवरण नहीं है।

भागवत में राधा

एक विद्वान् श्री बालचन्द जी शास्त्री ने श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के चतुर्थ अध्याय से १४ वें श्लोक का उद्धरण दिया हैं :—

नमोनमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूर करष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥

१—'राधेश्याम' पुकारि कहत पहिलैं सब राधे।
बिना जीव ज्यौं देह, श्याम राधे बिनु आधे॥
जल में सीतलता बसतु, ससि मैं सुध निवास।
रोम-रोम गोपी बसें, राधा हिरदै पास॥
श्याम-राधे कहो॥
—"श्यामसन्देश पृष्ठ ७८ पद १००

"सात्वत भक्तों के पालक कुयोगियों के लिए दुर्ज्ञेय प्रभु को हम नमस्कार करते हैं। अहा ! वे भगवान् कैसे हैं ? स्वधामनि वृन्दावन में, राधसा-श्री राधा के साथ, रंस्यते-क्रीड़ा करने वाले हैं। और राधा कैसी हैं ?—जिन्होंने समानता और आधिक्य को निरस्त कर दिया है यानी जिन से बढ़ कर तो क्या, जिनकी बराबरी करने वाला भी कोई नहीं है।" राध् धातु से राधा शब्द बनता है और इसी प्रकार सान्त 'राधस्' शब्द भी राध् धातु से बनता है। आपने अपने समर्थन में पुराण का एक वाक्य भी दिया है—"काचिद्देवताम्यधिका कुतः अनेक कोटिब्रह्माण्डयतियंस्या वशो हरिः। अनेकों या करोड़ों ब्रह्माण्डों के पति श्रीकृष्ण जिनके वश में हैं उन राधा से बढ़ कर या उनके समान कौन-सा देवता है ?"

श्रीमद्भागवत् की श्रीधरी टीका में इसका अर्थ दिया गया है—" सात्वतां भक्तानामृषभाय पालकाय। कुयोगिनां भक्ति हीनानां विदूरा कष्ठा दिगपि यस्य दुर्ज्ञेया येत्यथः तदेवं वैषम्य प्रतीतावपि निर्दोषत्वाया चित्यमैश्वर्यमाह। निरस्तं साश्यमतिशयश्च यस्य यदपेक्षयान्यस्या साम्यमतिशयश्च नास्ति नेत राधसा ऐश्वर्येण स्वधामनि-स्वस्वरूपे ब्रह्मषि रममाणाय।" जो भक्त जनों की रक्षा करने वाले हैं और कुमार्गियों के दृष्टिपथ से सदा दूर हैं, जिनके समान अथवा जिनसे अधिक और किसी का ऐश्वर्य नहीं है तथा जो उस ऐश्वर्य से अपने ब्रह्मधाम में रमण करते हैं उन श्रीहरि को बार-म्बार नमस्कार है। ऐसी ही परिभाषा-व्याख्या अन्य टीकाकारों ने की है। शास्त्री जी ने जो व्युत्पक्ति तथा अन्वय किया है वह उनके शास्त्रीय ज्ञान का द्योतक भले ही हो उसमें सार्थकता बिल्कुल नहीं है। राधस का अर्थ ऐश्वर्य ही है राधा नहीं है।

इस दिशा में आज से लगभग चार-सौ वर्ष पूर्व श्रील श्रीरूप गोस्वामी जी ने 'श्रीवृहद्भागवतामृत' नामक ग्रन्थ लिखा और उसमें राधा-प्रसंग की आलोचना की है। उसमें भागवत के दूसरे दशम स्कंध के २९-३० वें अध्याय में 'रासलीला' के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के अन्तर्द्धान होने का वर्णन है—"उनके उस सौभाग्य-मद और मान को देख-कर, उसे शान्त करने के लिए और उन पर कृपा करने के लिये श्रीकृष्णचन्द्र (उनके बीच से) अन्तर्धान होगये।[१]. टीकाकार श्री विश्वनाथ जी चक्रवती ने लिखा है कि :—"भगवान समस्त गोपियों के साथ साधारण-भाव से क्रीड़ा कर रहे थे, इससे प्रधान गोपी वृषभानुनन्दिनी के मन में सहसा मान जाग उठा और ईर्ष्या के मारे उनके नेत्र लाल हो गये। दूसरी गोपियों को केवल सौभाग्य का गर्व ही हुआ था। इस प्रकार

---

१. तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥

भागवत दशम स्कंध अ० ३० श्लोक ४८

परस्पर विरोधी भावों के उदय होने पर कृष्ण अन्तर्धान हो गये।"[1]. अकेले नहीं—मानिनी राधा को साथ लेकर।[2].

चक्रवर्त्ती महोदय की टीका मूल श्लोक से भिन्न है, क्योंकि मूल श्लोक में न तो कहीं 'राधा' का उल्लेख है और न कहीं 'वृषभानुनन्दिनी' का संकेत है। फिर वृषभानुनन्दिनी राधा ही थी इसका भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। चक्रवर्त्ती महोदय ने भी 'राधा' का समावेश नहीं किया है। संभव है वृषभानुनन्दिनी नाम्नी कोई गोपी रही हो। टीकाकारों ने खींच-तान करके राधा का नाम प्रवेश कराने की जो चेष्टा की है वह मूल के सर्वथा विपरीत है और इसीलिए हम उसे प्रामाणिक मानने को वाध्य नहीं हैं। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। दशम स्कंध के ३० वें अध्याय के २८ वें श्लोक में "अनयाऽऽराधितो" शब्द आया है। टीकाकारों ने स्पष्ट ही इसे 'राधा' मान लिया है।[3]. इसका अर्थ है कि—"अवश्य ही इसने भगवान् हरि की आराधना की होगी, इसीलिए इससे प्रसन्न हो कर श्रीगोविन्द हमें छोड़ कर उसे एकान्त में ले गये है।" 'वह' कौन है ? इसका कोई विवरण भागवत में नहीं है। केवल यही कहा गया है कि यह गोपी अकेली ही भगवान् अच्युत की अधर सुधा का अपहरण करके उसे स्वयं पान कर रही है—इससे हमारे हृदय में बड़ा ही क्षोभ हो रहा है।"[4].

कुरुक्षेत्र में जब सूर्य ग्रहण-पर्व आकर प्राप्त हुआ तो श्रीकृष्ण-बलराम दोनों वहाँ पधारे। यहाँ उनकी भेंट नंद-यसोदा, वसुदेव-देवकी और गोप-गोपियों से हुई।

---

१. ततश्च सर्वासु भगवतः साधारण्येनैव रमणाद् या सर्वमुख्यतमा वृषभानु-कुमारी सा सहसोद्भवदीर्ष्याकषायिताक्षी मानिनी बभूप ततोन्यूना अन्याः सौभाग्यगर्व-वित्यो बभूवुरित्यद्भुते वैमत्ये सति भगवतंव यत्तत्र समाहितं तदाह।"—श्री विश्वनाथ चकवर्त्ती

२. प्रो० श्री रमेशनन्द चक्रवर्त्ती शास्त्री। कल्याण भागवतांक खंड ३। वर्ष १६ अंक ३। अक्टूबर १९४१। पृ० ११९६।

३. अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥
भागवत १०। ३०। २८

४. तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो मुक्तेऽच्युताधरम्॥
भागवत १०। ३०। ३०।

तो क्या यह संभव था कि 'राधा' से उनकी भेंट न होती और उनकी अनन्य आराधिका होते हुए भी वह उनके दर्शनार्थ वहाँ नहीं आतीं ?[१].

वस्तुत कोई स्पष्ट अभिव्यक्ति भागवत में नहीं है कि राधा नाम वाली कोई गोपी थी जिसका सम्मिलन आगे चल कर श्रीकृष्ण के नाम के साथ कर दिया गया।

दूसरा प्रामणिक ग्रन्थ है महाभारत। इसमें भी जहाँ श्रीकृष्ण के जीवन से सम्वद्ध अन्य लीलाओं-कथाओं का वर्णन है वहाँ 'राधा' का कोई विवरण नहीं हैं।

इस प्रकार हम यह मानने को विवश हो जाते हैं कि 'राधा' की उद्भावना या अवतरणा भागवत या महाभारत काल में नहीं हो पाई थी।

---

१. भागवत दशम स्कंध। अध्याय ८२। पृष्ठ ६१८-२३।
गीताप्रेस गोरखपुर संस्करण

राधा की भावना का उदय

जैसा कि हम लिख चुके हैं भागवत में राधा का कोई वर्णन नहीं है। इसके अतिरिक्त महाभारत, हरिवंश पुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में भी राधा का उल्लेख नहीं है। ईसा से एक शताब्दि पूर्व भास के नाटकों में भी राधा का नाम नहीं है। केवल 'पंचतंत्र' में राधा का नाम आया है, जो ईस्वी पाँचवी शताब्दी से पहले की रचना नहीं है ![1]

कुछ लोगों की धारणा है कि "आराधिताः" शब्द से राधा की उत्पत्ति हुई है। "जो आराधना करती है वही राधा है।" वृहद् ब्रह्मसंहिता में राधा शब्द की व्युत्पत्ति यही दी गई है।[2]

अथर्ववेद की गोपालतापनी-उपनिषद में भी एक प्रधान गोपी की कथा है, जिसे कृष्ण अत्यधिक स्नेह करते थे, पर उसका नाम गांधर्वी दिया हुआ है।

तब श्रीकृष्ण के साथ राधा का समन्वय कैसे हुआ ? इस विषय पर विहँगावलोकन करने से पता चलता है कि चौथी पाँचवी शताब्दी तक शिव-पार्वती की पूजा हिन्दुओं में प्रचलित हो गई थी और इससे पूर्व विष्णु-लक्ष्मी का पूजन होता था। विष्णु पुराण में विष्णु के साथ श्री का उल्लेख है।[3] यजुर्वेद में भी ऐसा वर्णन है।[4] एक रूपक के द्वारा यज्ञ-पुरुष विष्णु की दो पत्नियाँ मानी गई हैं, श्री और लक्ष्मी।

इस प्रकार प्रत्येक महा-देव के साथ उसकी आह्लादिनी शक्ति (Raputuring Energy) विद्यमान है। आचार्य निम्बार्क ने इस महत्ता को जाना-पहचाना और श्रीमदभागवत् की 'परमाराधिका' गोपी का नामकरण कर दिया। कृष्ण विष्णु और नारायण के अवतार हैं। इसलिए लक्ष्मो का सम्बन्ध कृष्ण के साथ हुआ। निम्बार्का-

---

१. पंचतंत्र नृसिंहदेवशास्त्री संस्करण १९३२ ई० पृष्ठ १२१-२२

२. त्वया चाऽऽराधितो यस्मादहंकुंज महोत्सवे।
राधेति नाम विख्याता रासलीला विधायिका।
वृहद ब्रह्मसंहिता, द्वितीयपाद अ० ४१ श्लोक पृ० १७४

३. नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्री रनपायिनी
प्रथम अंश अ० ८। १५ विष्णु पुराण।

४. श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ (३१। २२) यजुर्वेद।

चार्य ने उसी को वृषमानुजा, राधा आदि की संज्ञा प्रदान करके उनको श्रीकृष्ण की शाश्वत-पत्नी घोषित कर दिया।

श्री भंडारकर यह मानते हैं कि राधा उन आभीरों की इष्टदेवी थी जो सीरिया से आये थे। उन्होंने भारतीय गोपाल को अपनाया और अपनी राधा उनको प्रदान कर दी। परस्पर स्नेह सम्बर्द्धन से दोनों देवी-देवता स्वीकृत हो गये।

यह तो निश्चित है कि पाँचवी शताब्दी तक राधा की भावना का उदय और उसकी स्थापना हो चुकी थी। भागवत् में एक अनन्य स्नेहशीला गोपी का वर्णन-चित्रण है। उसका नाम अवश्य ही नहीं दिया गया है। आराधिका होने से उसका नाम राधा पड़ गया हो—ऐसी सम्भावना की जा सकती है और हमारी सम्मति में यही उपयुक्त ज्ञात पड़ता है। इसके अतिरिक्त शिव और विष्णु के साथ पार्वती तथा लक्ष्मी का आह्लादिनी शक्ति के रूप में अवतरित होना कृष्ण-भक्तों को रुचिकर नहीं लगा होगा तभी उन्होंने राधा को मूर्त-रूप दे दिया होगा।

ईसा की पाँचवी-छठी शताब्दी में निर्मित देवगिरि और पहाड़पुर की मूर्त्तियों को पुरातत्ववेत्ताओं ने राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं की मूर्त्तियाँ बताया है।[1]

धारा के अमोघ वर्ष के ६८० ई० के शिलालेख में राधा-कृष्ण, प्रिया के रूप में वर्णित है।[2]

मालवाधिपति मुंज के ६७४ और ६७६ ई० के ताम्रपत्रों में राधा से सम्बद्ध मंगलाचरण है।[3] धनंजय के "दशरूपक" में चतुर्थ परिच्छेद में,[4] भोज के 'सरस्वती-कंठाभरण'[5] में क्षेमेन्द्र के "दशावतार चरित" में[6] और आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में राधा का वर्णन है।

---

१. गंगा पुरातत्वांक, पहाड़पुर की खुदाई—श्री के० एन० दीक्षित

२. "गुजरात और उसका साहित्य" लेखक श्री पं० कन्हैयालाल माणकलाल जी मुनशी पृ० १२६।

३. प्राचीन लेखमाला प्रथम भाग—"तद्राधा विरहातुरं मुररियोर्वेल्लदमुः पातुः वः।"

४. केनालीक मिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि।

५. राधायां: सुचिरं जयन्ति गगने बन्ध्याकरः भ्रान्तयः। पृ० २७८

६. तेषां गोपवधू विलास सुहृदो राधारहः साक्षिणाम्।
क्षेमं भद्र कलिन्दराजतनया तीरे यते वेश्मनाम्॥

परन्तु राधा को सबसे अधिक महत्त्व-श्री निम्बर्काचार्य के द्वारा प्राप्त हुआ और श्री वल्लभाचार्य ने तो राधा कृष्ण की अभिन्नता ही स्थापित कर दी। इससे आगे चल कर हिन्दी काव्य में राधा-कृष्ण नायिका-नायक रूप में अवतरित हुए, तो जन-साधारण के हृदयों में अपनी माधुरी-मूर्त्ति बसाकर बैठ गये। किसी ने भी जानने की आवश्यकता नहीं समझी कि राधा कौन है, कहाँ से आई हैं—उसका तो श्रीकृष्ण की सहचारिणी होना ही पर्याप्त था।

———

सम्प्रदाय के अन्तर्गत राधा

अपने अन्वेषण के आधार पर हम यह मानने को बाध्य हैं कि शिव के साथ पार्वती तथा विष्णु के साथ लक्ष्मी को देख कर ही निम्बार्क आचार्य ने श्रीकृष्ण के साथ राधा का समन्वय किया है। उनके पश्चात् श्री वल्लभाचार्य जी ने राधा कृष्ण की उपासना का प्रचलन करते हुए 'पुष्टि मार्ग' की स्थापना की। फिर तो श्री राधा-सम्प्रदाय भी चल पड़ा।

कहा यह जाता है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से पहले कोई मूर्ति या उत्कीर्ण ऐसा नहीं मिलता जो श्रीकृष्ण के जीवन-चरित्र से सम्बद्ध हो। रायबहादुर श्री दयाराम साहानी ने आर्क्यालाजिकल सर्वे की १९२५-२६ की रिपोर्ट में बताया है कि मथुरा में श्रीकृष्ण-जन्म से सम्बद्ध उत्कीर्ण पाया गया है, जो सम्पूर्ण नहीं हैं। चौथी शताब्दी से तो विभिन्न लीलाओं के उत्कीर्ण मिलते हैं। बंगाल के पहाड़पुर की खुदाई में जो उत्कीर्ण मिला है उसमें श्रीकृष्ण एक गोपी के साथ हैं—संभवतः यही राधा हो। श्री डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का यह सुझाव है कि यह मूर्त्ति राधा की है।

प्रेम-विलास और भक्ति रत्नाकर में लिखा है कि नित्यानन्द प्रभु की छोटी पत्नी जान्हवी देवी जब वृन्दावन गईं तो उन्हें यह देखकर बड़ा दुख हुआ कि श्रीकृष्ण के साथ राधा की पूजा कहीं नहीं होती है। घर आकर उन्होंने नयान भास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्त्तियाँ बनवाईं और उन्हें वृन्दावन भिजवाया। जीव गोस्वामी की आज्ञा से यह मूर्तियाँ श्रीकृष्ण के पार्श्व में रख दी गईं और तब से राधा-कृष्ण की उपासना होने लगी।[1] तभी से बंगाल में विष्णु की प्राचीन मूर्तियों और बालकृष्ण की मूर्ति को छोड़कर अकेले कृष्ण की पूजा नहीं होती।

निम्बार्काचार्य ने लक्ष्मी को ही वृषभानुजा राधा कहा है जिनको श्रीकृष्ण की शाश्वत पत्नी माना है।[2]

इस युग में शाक्त मतावलम्बियों का भी पर्याप्त प्रभाव था। इस मत में शक्ति अर्थात् नारी की उपासना को बड़ा महत्त्व दिया जाता था। इस बाढ़ को रोकने के लिए भी राधा की अवतारणा की गई।

---

१. ब्रजबुलि लिटरेचर पृ० ४१०-४८१ प्रो० सुकुमार सेन।
२. 'भारतीय धर्म साधना' डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

निम्बार्क अथवा निम्बादित्य तैलंग ब्राह्मण थे। उनका जन्म निम्बपुर बेलारी क्षेत्र मदरास में हुआ था। पिता का नाम था जगन्नाथ और माता का सरस्वती। वे द्वैताद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। उनका कथन है कि संसार और आत्मा दोनों ही परमात्मा से भिन्न हैं। आत्मा ज्ञान है जो हरि के आधीन है और प्रभु ज्ञेय हैं और ज्ञान भी हैं। निम्बार्क ने वृषभानुजा राधा को श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति माना है और उनसे चलकर यह वेदना-अर्चना की भावना चैतन्य महाप्रभु के युग को आप्लावित करती हुई आधुनिक काल के वैष्णव-कवियों तक निरन्तर चलती चली आ रही है।

इस प्रकार चाहे वह निम्बार्क सम्प्रदाय हो, चाहे वल्लभ सम्प्रदाय हो अथवा विशुद्ध राधामार्गीय हो, सभी सम्प्रदायों में राधा को भगवान की आह्लादनी शक्ति माना गया और सांख्य के अनुसार पुरुष की प्रकृति मानकर उनकी उपासना आरम्भ हुई। वैष्णव-सम्प्रदाय ने तो 'राधा-कृष्ण' का ऐसा एकीकरण किया कि आज का साधारण व्यक्ति यह सुनने और समझने को तैयार ही नहीं है कि राधा चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के भक्तों की अथवा पाँचवीं शताब्दी के आचार्यों की सूझ-बूझ का उदाहरण है।

कतिपय सम्प्रदायों ने राधा को कृष्ण की पूरक शक्ति माना। वे राधा के बिना कुछ नहीं कर सकते। थोड़े समय के बाद नवीन सम्प्रदाय ने इस विचार को भी बदल दिया। श्रीकृष्ण राधा के आधीन हो गये:—

'राधे तू बड़ भागिनी कौन तपस्या कीन।
तीन लोक चौदह भुवन पति तेरे आधीन।।"

राधा का आध्यात्मिक पक्ष

राधा की व्याख्या में कहा गया है कि रेफ कोटि जन्मों के पापों को, आकार मृत्यु को, धकार आयु की हानि को और आकार भव-बंधन को दूर करता है। रेफ से अविचल दास्य भक्ति, धकार से सहवास और अकार से तेज राशि प्राप्त होती है।[1]

वैष्णव आचार्यों ने कृष्ण की अंतरंग और बहिरंग दो शक्तियाँ मानी हैं। बहिरंग शक्ति का नाम माया है और अंतरंग शक्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं: सन्धिनी, संवित और आह्लादिनी। राधा आह्लादिनी शक्ति हैं और गोपियाँ उसका प्रतिरूप हैं।[2] गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपनी दार्शनिक व्याख्या में यही माना है।

ऋग्वेद में लिखा है:—"राधा माधवो देवो माधवेन च राधिका विभ्राजन्ते जनेष्वा।"

स्कन्द पुराण में भागवत के माहात्म्य का वर्णन करते हुए श्री वेदव्यास जी ने कहा है कि श्रीकृष्ण आत्माराम हैं और श्रीराधिका उनकी आत्मा हैं। हम श्री राधिका की दासी हैं, उनके दास्य के प्रभाव से श्रीकृष्ण से हमारा कभी वियोग नहीं हो सकता है।[3] द्वारिका में कालिन्दी जी के प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण की रानियों ने ऐसा कहा। इस प्रकार श्रीराधा को प्रकृति, माया, शक्ति या जीव कहना उचित नहीं जान पड़ता है। उनको तो आत्मा कहा गया है।

वृहदारण्यक के मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मा का लक्षण दिया है कि—'न वा सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मतस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति··" जो कुछ भी मित्र-पुत्रादि, घर, प्रिया और परिवार है वे आत्मा के अर्थ ही प्रिय होते हैं अर्थात् जिसमें

---

१. ब्रह्मवैवर्त पुराण। अ० १३ श्लोक १०५-१०६।

२. श्रुति कन्यास्ततो दक्षे सहस्रायुत संयुता।१४
तत्र गूढ़ रहस्यानि गायंत्य प्रेम विह्वला।।१५
प्रत्यंग रभसा वेशाः प्रधानाः कृष्ण वल्लभाः
ललितायाः प्रकृत्यंशाः मूल प्रकृति राधिका
पद्मपुराण, पाताल खंड अ० ४०। ४

३. आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।
तस्या दास्य प्रभविन विरहोऽस्मान्न संस्पृशेत्।।

प्रियत्व का अतिशय है, जिसकी किंचित-सी झलक मात्र से और सब वस्तु प्रिय होती हैं उस हृदय के हित को आत्मा कहते हैं।

सामवेद-रहस्य में कहा गया है कि—"इस पुरुष ने अपने रमण के लिये अपने स्वरूप को प्रकट किया।"[१] यह पुरुष अनादि और एक है। यही दो प्रकार का रूप धारण कर सब रसों को ग्रहण करता है। यह स्वयं ही नायक रूप होकर आराधना में तत्पर हुआ, इसी से वेद जानने वाले उसे राधा-रसिकानंद कहते हैं। इसी के कारण यह लोक-आनन्दमय है।"

श्रुति ने कहा है—"वह आत्मा द्वैताद्वैत स्वरूप और द्वैताद्वैत विवर्जित है।"[२] श्रीराधा और कृष्ण शुद्ध प्रेमरूपी युगल मूर्तियाँ हैं। इन्द्रियाँ सखी-परिकर हैं, मन श्रीकृष्ण हैं और आत्मा श्रीराधा हैं। इस प्रकार सब मिलकर एक ही हित पुरुष हैं। इसीसे श्रीकृष्ण को मूर्तिमान आसक्ति और भोक्ता कहा गया है तथा श्रीराधा को साक्षात् उदारता और रसरूपा माना जाता है। इस प्रकार राधा और कृष्ण अभिन्न हैं। दोनों मिलकर एक तत्त्व श्रीहित हैं जो कि सब वेदान्तों का हार्द परब्रह्म है।

विष्णु को परम तत्त्व माना गया है। उपनिषदों में भी ऐसा ही वर्णन है।"[३] इस विष्णु के दो रूप हैं, सगुण और निर्गुण। इनके चार अंश हैं, जिनमें से केवल एक ही से समस्त ब्रह्माण्ड परिव्याप्त है। उसी को प्रकृति-पुरुषात्मक रूप कहते हैं।[४] यही भगवान का सगुणरूप है। इसी से रज, सत्व और तम की उत्पत्ति होती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन मूर्त्तियाँ हैं। जो निर्गुण रूप है वही 'अक्षर ब्रह्म' है। ज्ञानियों का लय इसी में होता है। इन विष्णु का निवास गो-लोक में है, जहाँ 'रस' भरा हुआ है। भगवान को तभी तो 'रसो वै सः' कहा गया है। यही राधाकृष्ण हैं। यजुर्वेद के अध्याय ३१ में कहा गया है कि आपकी दो पत्नियाँ हैं। एक तो लक्ष्मी हैं जो वैकुण्ठ में श्रीनारायण के समीप रहती हैं और दूसरी श्री हैं, जिनका नाम राधिका महारानी है।

ऋग्वेद के उपनिषद भाग में राधिकोपनिषद है। उसमें लिखा है—"ॐ

---

१. स एवायंपुरुषः स्वरमणार्थं स्वस्वरूपं प्रकटितवान्

२. द्वैताद्वैतस्वरूपात्मा द्वैताद्वैत विवर्जितः।

३. विष्णोरशितं सर्वेदेवा अश्नन्ति विष्णोः पीतं पिबन्ति विष्णोः घ्रांत जिघ्रन्ति।

४. विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेंकोशेन स्थितोजगत। गीता

"पादोस्य विश्वभूतानि त्रिपादोऽस्यामृतं दिवि"

यजुर्वेद ३१।३

अथोर्ध्वमन्थिन ऋषयः सनकाद्या भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपासित्वोचुः देवकः परमो देवः का वा तच्छक्तयः तासु च का वरीयसी भवतीति सृष्टिहेतुभूता च केति । स होवाच । हे पुत्रकाः श्रुणुतेदं ह्वाव गुह्याद्-गुह्यतरम प्रकाश्यं यस्मै कस्मै न देयम् । स्निग्धाय ब्रह्म-वादिने गुरुभक्ताय देयमन्यथादातुर्महदघं भवतीति । कृष्णो ह वै हरिः परमो देवः षड्विधैश्वर्यपरिपूर्णो भगवान गोपीगोपसेव्यो वृन्दाऽऽराधितो वृंदावनाधिनाथः स एक एवेश्वरः तस्य ह वै द्वे तनुर्नारायणोऽखिल ब्रह्माण्डाधियतिरेकोंशः प्रकृतेः प्राचीनो नित्यः एवं हि तस्य शक्तयस्त्वनेक धा । आह्लादिनी सन्धिनी ज्ञानेच्छाक्रियाद्यावहुविधाः शक्तयः । तास्वाह्लादिनी वरीयसी परमान्तरङ्गभूता राधाः । कृष्णेनाराध्यते इतिराधा । कृष्णं समाराधयति सदेति राधिका गान्धर्वेति व्यपदिश्यत इति अस्या एव कायव्यूहरूपा गोप्यो महिष्यः श्री श्चेति । ये यं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहनैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत् । राधा वै हरेः सर्वेश्वरी सर्वविद्या सनातनी कृष्णप्राणाधिदेवी चेति विविक्ते वेदाः स्तुवन्ति यस्या-गति· ब्रह्मभागा वदन्ति । महिमस्या स्वायुर्मानेनापि कालेन वक्तुं न चोत्सहे । सैव यस्य प्रसीदति तस्य करतलावकलितं परमं धामेति । एतामविज्ञाय यः कृष्णयाराधयित्तु भिच्छति स मूढतमो मूढतमश्चेति । अथैतानि नामानि गायन्ति श्रुतयः—

राधा रासेश्वरी रम्या कृष्णमन्त्राधिदेवता ।
सर्वाद्या सर्ववन्द्या च वृन्दावन विहारिणी ॥
वृन्दाराध्या रमाऽशेषगोपीमण्डल पूजिता ।
सत्यासत्यपरासत्यभामा श्रीकृष्णवल्लभा ॥
वृषभानुसुतागोपी मूल प्रकृतिरीश्वरी ।
गान्धर्वा राधिका रम्या रुक्मिणी परमेश्वरी ॥
परात्परतरा पूर्णा पूर्णचन्द्रनिभानना ।
भुक्ति मुक्ति प्रदा नित्यं भवव्याधिविनाशिनी ॥

इत्येतानि नामानि यः पठेत्सजीवन्मुक्तो भवति । इत्याह हिरण्यगर्भो भगवानिति । सन्धिनी तु धाम, भूषण, शय्यासनादिमित्र भृत्यादिरूपेण परिणता मृत्युलोकावतरणकाले मातृपितृ रूपेण चाऽऽसीदित्यनेकावतार कारण । ज्ञानशक्तिस्तु क्षेत्रज्ञशक्तिरितु । इच्छा-न्तर्भूता माया । सत्वरजस्तमोमयी बहिरङ्गा जगत्कारणभूता सैवाविद्यारूपेण जीवबन्धन भूता ॥ क्रियाशक्तिस्तु लीलाशक्तिरिति । य इमामपनिषदधीते सोऽव्रती व्रती भवति स वायुपूतो भवति, स सर्वपूतो भवति, राधाकृष्ण प्रियोभवति । सा यावच्चक्षुः पातं पंक्ती पुनाति । ॐ तत्सदिति श्रीमदृग्वेदे ब्रह्मभागे परम रहस्येराधिकोपनिषदः ।"[1]

---

१. कल्याण श्रीकृष्णांक पृष्ठ ४८५-८६ । उपनिषदांक पृष्ठ ६६२-६३

एक वार ऊर्ध्वरेता सनकादि महर्षियों ने भगवान श्री ब्रह्माजी की स्तुति करके पूछा—"देव ! सर्वप्रधान देवता कौन हैं ? और उनकी कौन-कौन-सी शक्तियाँ हैं तथा उन शक्तियों में सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ कारण कौन-सी शक्ति है ? यह सुनकर श्री ब्रह्मा जी बोले—"बेटा, सुनो ! किन्तु इस अति गोपनीय रहस्य को तुम किसी से प्रगट न करना—जो स्नेही हों, ब्रह्मवादी हों, गुरुभक्त हों उन्हें अवश्य देना। उनके अतिरिक्त और किसी को देने से महापाप लगेगा। भगवान् हरि श्रीकृष्ण ही परमदेव हैं। ये छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण, गोप और गोपियों के सेव्य, श्रीवृन्दा (तुलसी) देवी से आराधित हैं और श्रीवृन्दावन के अधीश्वर हैं। ये ही एकमात्र सर्वेश्वर हैं। इन्हीं श्रीहरि के एकरूप नारायण भी हैं जो कि अखिल ब्रह्माण्डों के अधीश्वर हैं। ये श्री-कृष्ण प्रकृति से भी पुरातन और नित्य हैं। इनकी आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि बहुत सी शक्तियाँ हैं, उनमें आह्लादिनी सर्वप्रधान हैं। यही परम अन्तरंगभूता श्रीराधा हैं। 'कृष्ण इनकी आराधना करते हैं अथवा ये सर्वदा कृष्ण की आराधना करती हैं, इसलिए ये राधा कहलाती हैं। श्रीराधा को गान्धर्वा भी कहते हैं। इन राधिका के शरीर से ही गोपियाँ, श्रीकृष्ण की महिषियाँ और लक्ष्मी जी हुई हैं। ये राधा और श्रीकृष्ण रससागर श्री महाविष्णु के एक शरीर से ही क्रीड़ा के लिये दो हो गये हैं। ये श्रीराधिका जी भगवान् हरि की सर्वेश्वरी, सम्पूर्ण सनातनी विद्या और प्राणों की अधिष्ठात्री देवी हैं। वेद एकान्त में इनकी ऐसी स्तुति किया करते हैं। इनकी महिमा का मैं अपनी सम्पूर्ण आयु में भी वर्णन नहीं कर सकता। जिस पर उनकी कृपा होती है, परमधाम उसके हाथ में आ जा सकता है। इन राधिका जी की अवज्ञा करके जो श्रीकृष्ण की आराधना करना चाहता है वह महामूर्ख है। श्रुतियाँ इनके इन नामों का गान करती हैं—राधा, रासेश्वरी, रम्या, कृष्ण-मन्त्राधिदेवता, सर्वाद्या सर्ववन्द्या, वृन्दावन-विहारिणी, वृन्दाराध्या, रमा, अशेषगोपीमण्डल-पूजिता, सत्य, सत्य-परा, सत्यभामा, श्रीकृष्णवल्लभा, वृषभानुसुता, गोपी, मूलप्रकृति, ईश्वरी, गान्धर्वा, राधिका, रम्या, रुक्मिणी, परमेश्वरी, परात्परतरा, पूर्णा, पूर्णचन्द्रनिभानना, मुक्ति मुक्तियुदा तथा भवव्याधविनाशिनी। इन २८ नामों का जो पाठ करते हैं, वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं। ऐसा भगवान् ब्रह्मा जी ने कहा है।

भगवान की सन्धिनीशक्ति का विवरण सुनो। यह शक्ति-धाम, भूषण, शय्या और आसनादि तथा मित्रों और भृत्यादि के रूप में परिणत होती है और मृत्युलोक में अवतार लेने के समय माता-पिता के रूप में परिणत हो जाती है। यही अनेक अव-तारों की कारण है। ज्ञान शक्ति को ही क्षेत्रज्ञ शक्ति कहते हैं और इच्छा शक्ति के अन्तर्भूत माया शक्ति है। यह सत्व, रज और तमोगुणरूपा है। बहिरंग और जड़ है। भगवान् की दृष्टि पड़ने से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की रचना करती है तथा यही माया

और अविद्यारूप से जीव का बन्धन करती है। क्रियाशक्ति को ही लीलाशक्ति कहते हैं।

जो इस उपनिषद् को पढ़ते है वे अव्रती भी व्रती हो जाते हैं तथा वे अग्निपूत, वायुपूत, और सर्वपूत हो जाते हैं। वे श्रीराधा-कृष्ण के प्रिय होते हैं और जहाँ तक दृष्टिपात करते हैं, वहाँ तक सबको पवित्र कर देते हैं।"

तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक पक्ष में राधा को श्रीकृष्ण की सर्वोच्च आह्लादिनी शक्ति माना गया है।

नवीन वैष्णव धर्म की राधा अपने मूल रूप में सांख्य की प्रकृति ही है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में 'राधा कृष्ण को एक ही माना है।'[1] सूर ने भी ऐसा ही कहा है;—
"प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायौ।"

यों तो सांख्य के प्रकृति और पुरुष भिन्न हैं। पर शक्तिवाद में शिव-भक्ति, आत्मा और आत्मा की प्रकृति भिन्न नहीं है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में इन दोनों का समन्वय कर दिया गया है, राधा कृष्ण भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं।

ब्रह्मवैवर्त्तकार ने राधा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से मानी है—रास से रा और धा धातु के धा को लेकर राधा बनाया है। रा दानवाचक है तो धा निर्वाणवाचक है, अर्थात् राधा निर्वाण-प्रदात्री है।[2] वृहदारण्यक उपनिषद् में नाम रूप कर्म को अनात्म या माया माना गया है, यही प्रकृति है 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिन तु महेश्वरम्' श्वेताश्वेतर उपनिषद में माया को प्रकृति और महेश्वर को मायाधिपति कहा है। हिन्दी कवियों ने भी उसे शक्ति, प्रकृति, लक्ष्मी, राधा, सीता आदि संज्ञा प्रदान की हैं।

इस प्रकार अध्यात्म-पक्ष में राधा को श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति माना गया है।

---

१. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण। श्रीकृष्ण खंड। अध्याय १५। श्लोक ६६-६८

२. राधेत्येवं च सं सिद्धाराकारो दानवाचकः।
धा निर्वाणश्च तद्दात्री तेन राधा प्रकीर्तिता॥
कृष्ण जन्म-खण्ड अ० १७ श्लोक २२३.
रासे संभय गोलोके साद्धाव हरे पुरः।
तेन राधो समाख्याता पुरोविद्भुः द्विजोत्तम।
ब्रह्मखण्ड अ० ५।२६.

राधा का लौकिक पक्ष

अध्यात्म पक्ष में राधा की स्थिति चाहे जो रही हो, लौकिक पक्ष में उनको श्रीकृष्ण की पत्नी या अर्द्धांगिनी नहीं माना जा सकता है। वस्तु-स्थिति यह है कि 'उनका ऐसा एकीकरण हो गया है जिसमें पार्थक्य का आभास तक दृष्टिगोचर नहीं होता'—सूर ने ऐसा ही कहा हैः—

"राधा माधव भेंट भई
राधा माधव, माधव राधा, कीट-भृंग गति होइ जु गई।
माधव राधा के रँग राँचे राधा माधव रँग रई।"

लोक में 'राधा कृष्ण' का ऐसा ही प्रचलन है। साधारण धार्मिक व्यक्ति इस तर्क से चकित-विस्मित हो जाता है कि राधा कोई ऐतिहासिक गोपी नहीं थी। उसका श्रद्धा-संवलित हृदय इस खंडन के सामने थकित हो जाता है।

रीतिकाल के कवियों ने राधा कृष्ण को नायिका-नायक का रूप-स्वरूप प्रदान करके दोनों की मान्यता को अत्यधिक बल प्रदान किया है। उनकी काव्य-भूमि पर वे प्रेमी-प्रेमिका और पति-पत्नी बनकर नाचे हैं और कुब्जा ने राधा की 'सौत' बनकर वियोग-श्रृंगार को निखार दिया है।

किम्वदन्ती है कि राधा जी वृषभानु नामक वैश्य की पुत्री थीं। 'विश्वकोष' में वृषभानु के विषय में लिखा है कि वे सुरभानु के पुत्र थे। इनकी माता का नाम पद्मावती था। यह नारायण के अंश सम्भूत तथा श्रीराधिका के पिता थे।[1] इसका आधार भी ब्रह्मवैवर्त पुराण ही हैं।[2] जिसमें राधा-कृष्ण के विवाह का भी उल्लेख पाया जाता है।[3]

नाटकादिक अन्य साहित्यक उपादानों में भी राधा और कृष्ण का जो वर्णन है वह या तो परम श्रृंगारिक है अथवा उसमें पति-पत्नी की भावना का मिश्रण है। चित्रकारों ने भी लौकिक पक्ष में इसी मान्यता को प्रधानता दी है। मथुरा और वृन्दावन के मन्दिरों में भी राधा-कृष्ण की युगल-मूर्ति के ही दर्शन होते हैं।

---

१. विश्वकोष। द्वाविंश भाग। ले० श्री नागेन्द्रनाथ वसु। पृष्ठ ५०
२. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण। श्रीकृष्ण जन्म-खण्ड १७।१०७।१३१
३. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण। ब्रह्मखण्ड अ० ५।२६

राधा-कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध कितने ही चलचित्र (मूक तथा सवाक्) निर्मित हुए हैं, उनमें भी इसी मान्यता की पुष्टि की गई है। इसी वर्ष 'नंद किशोर' नामक जो चित्रपट प्रस्तुत हुआ है, उसके लेखक ने नवीन उद्भावना की है। उसने माना है कि राधा विवाहित हैं, एक गोप की पत्नी है और कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति से समन्वित तथा परिपूरित है। पति की ताड़ना और सामाजिक लांछना सहन-वहन करके भी वह कृष्ण-प्रेम से विमुख नहीं होती और अन्त में कृष्ण उसके पति को अपना और राधा का वास्तविक रूप दिखा देते हैं तो वह भी "कृष्णं शरणं गच्छामि" कह देता है। कल्पना नवीन तो है परन्तु श्रीकृष्ण के चरित्र को समुज्जवल बनाने वाली नहीं है।

एक पक्ष ऐसा भी है जो राधा को विवाहिता मानता है और तभी श्री वेंकटेश नारायण जी तिवारी ने 'राधा स्वकीया है अथवा परकीया" ऐसा विवाद 'सरस्वती' में प्रस्तुत किया था।

राधा वृषभानु-नन्दिनी थीं—महाकवि बिहारीलाल ने ऐसा नहीं माना है। वे उनको वृषभानु की लघु-भगिनी ही मानते हैं:—

> चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
> को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।

अनुजा का अर्थ स्पष्ट ही कनिष्ठा भगिनी, छोटी बहिन होता है।[1] इसी शब्द से अनुजन्मा बनता है जिसका अर्थ है—पीछे पैदा हुआ।[2]

बिहारी-सतसई के सभी टीकाकारों ने अनुजा का अर्थ बहिन लिया है और वीर का अर्थ छोटा भाई किया है। तो एक यह भी मान्यता रही है कि श्रीराधाजी वृषभानु की अनुजा थीं।

कुछ आलोचकों का ऐसा भी मत है कि राधा वृषभानु की पुत्री थीं—

वृषभ + अनुजा=वृषभानु + जा=वृषभ की बहिन=गाय, वृषभानु की पुत्री, हलधर के वीर = हलधर = बैल के भाई, हलधर = हल धारण करने वाले=बलराम के भाई = कृष्ण। हम यह भी मानते हैं कि राधा तो श्रीकृष्ण से आयु में बड़ी थीं। यद्यपि उनका जन्म भी अष्टमी को ही माना जाता है परन्तु इसे भाद्रपद मास की शुक्लाष्टमी माना गया है।[3] इससे बड़ा होना कैसे सिद्ध हो गया? कृष्ण-पक्ष पहले होता है अथवा

---

१. विश्वकोष पृ० ४५२

२. अनु पश्चात् जन्म यस्य। विश्वकोष पृ० ४५२

३. विश्वकोष। पृष्ठ ३८९

शुक्लपक्ष ? लेकिन कितनी बड़ी थीं ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। इसके लिए हमें गोपी-प्रसंग का अनुशीलन करना होगा। भागवत में लिखा है कि श्रीकृष्ण ब्रज में ग्यारह वर्ष की अवस्था तक रहे और चीर-हरण के समय उनकी अवस्था दस वर्ष से अधिक नहीं थी और गोपियों को युवती लिखा गया है। इस प्रकार परम आराधिका राधा का युवती होना असंदिग्ध है। सहज में हमें इस निष्कर्ष पर आना होगा कि राधा और कृष्ण की अवस्था में कम से कम दस वर्ष का अन्तर था। इसीलिए श्रीकृष्ण का स्नेह श्रद्धा-संवलित था तो राधा का प्रेम वात्सल्यपूर्ण रहा होगा। तुलसीदास जी ने भी कहा है कि प्रेम और मित्रता बड़े से करो अथवा छोटे से, समान व्यक्ति से नहीं।[१]

"मान्यता जो भी रही आई हो, अथवा प्रचलित हो, यह तो मानने के लिए हम भी बाध्य हैं कि एक गोपी ऐसी अवश्य थी जो श्रीकृष्ण को अत्यधिक प्रेम करती थी, तथा श्रीकृष्ण जिसे अन्तरतम से स्नेह करते थे।[२] इसका नामकरण तो निम्बार्काचार्य ने कर दिया और वल्लभाचार्य आदि ने उसे 'राधा' कहकर प्रसिद्ध किया। संभव है इसी गोपी का नाम उसकी दृढ़ आराधना के कारण राधा रखा गया है।

परन्तु आज का बुद्धिवादी व्यक्ति इस अनैतिहासिक-संभावना पर सहमत होने को तैयार नहीं है। वह तो यही मानता है कि लौकिक-रंगभूमि पर श्रीकृष्ण और राधा आचार्यों अथवा कवियों की अभूतपूर्व कल्पना है।

जहाँ तक वाद-विवाद का प्रश्न है, आजतक तर्क और वितर्क चलते ही रहे हैं। उनकी सत्ता न कभी समाप्त हुई है और न हो सकती है। विचार-विनिमय तो सदैव ही श्रेयस्कर है। अर्थ यदि व्यर्थ तक रहे तब तो कुछ ठीक भी है परन्तु अनर्थ हो जाने पर अत्यन्त अशुभ है। यही बात तर्क और वितर्क के साथ है कि जब वह कुतर्क हो जाता है तो दुख देने लगता है।

हम अनर्थ और कुतर्क से बचकर ही चलते आये हैं। इसलिए हमारा विनम्र निवेदन है कि लौकिक पक्ष में राधा की धारणा हमें शंकास्पद जान पड़ती है। श्रीकृष्ण की जो आठ पटरानियाँ हैं उनमें कहीं भी राधा का नाम नहीं है।

---

१. कै लघु कै बड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोई
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस मिले महाविष होई॥

२ १०, २७—कस्याः पदानि चैतानि यातायानन्द सूनुल
१०, ३६ साचमेने तदात्मानं बरिष्ठंसर्वयोषिताम्
हित्वा गोपीः कामयान्न मामसो भजते प्रियः

परन्तु आस्तिक होने के नाते, विचार-विमर्श के पश्चात् हम इस निर्णय पर आ जाते हैं कि 'आराधयते इति स-राधा" जो भी श्रीकृष्ण तत्त्व की आराधना करता है या करती है वही राधा है। दूसरे शब्दों में, श्रीकृष्ण की भक्ति और उनके अनुग्रह की प्राप्ति का नाम राधा है। जिस प्रकार वे उनके वामाङ्ग में विराजमान हैं, इसी प्रकार से 'सर्वस्व समर्पण' के पश्चात् व्यक्ति वाम-भाग का अधिकारी हो जाता है।

राधा की उपासना के विभिन्न प्रकार

राधावल्लभी सम्प्रदाय में पहले राधा की ओर तब श्रीकृष्ण की पूजा होती है। हितहरिवंश-सम्प्रदाय में गद्दी की पूजा-सेवा ही प्रधान है। वल्लभ-सम्प्रदाय में युगल-जोड़ी का पूजन होता है।

देवी भागवत में राधिका की पूजा और मन्त्रादि का वर्णन है। "मूल प्रकृति-रूपिणी चिन्मयी भुवनेश्वरी जब जगत की सृष्टि कर रही थीं, उस समय प्राण और बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी, दो शक्तियाँ, आविर्भूत हुईं। उनमें से प्राण की अधिष्ठात्री देवी राधा और बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी दुर्गा थीं। यह निखिल चराचर जगत् उसी शक्ति-युगल के आधीन है। बिना इनके अनुग्रह के जीव मुक्ति-लाभ नहीं कर सकता। इस कारण जीवमात्र को इस शक्ति की आराधना करना उचित है। इन दो शक्तियों में से पहले राधिका शक्ति का मन्त्र है—"श्री राधायै स्वाहा" जिसे ब्रह्मा, विष्णु आदि देवगण नित्य जपते हैं। इस षड़क्षर महामंत्र से धर्मादिलाभ होता है। बिना राधिका की पूजा किये कृष्ण-पूजा में अधिकार नहीं होता। जो ज्ञानवान कार्तिक मास की पौर्ण-मासी तिथि में राधाजन्मोत्सव मनाते हैं राधा उन्हें सानिध्य प्रदान करती हैं।

शालग्राम शिला वा घट में राधिका की पूजा करके तत्पश्चात् अंगदेवादि की पूजा की जाती है। देवी की पूजा करके दक्षिणावर्त्त क्रम से अष्टदल पद्म के पुरोभाग में पूर्वदल पर मालावती, अग्निकोण में माधवी, दक्षिणदल पर रत्नमाला, नैऋतदल पर सुशीला, पश्चिमदल पर शशिकला, वायुदल पर पारिजाता, उत्तरदल पर सुन्दरी, पीछे परावती और ईशान दल पर अष्टदल के बहिर्भाग में ब्राह्मी आदि मातृगण की, भूपुर में दिक्पालों की तथा वज्रादि अस्त्रों की पूजा करनी होती है।[1]

हिन्दू नारियाँ राधाष्टमी व्रत करती हैं। इसे अनुष्ठेय व्रत कहा जाता है। भाद्रपद मास की शुक्लाष्टमी को यह व्रत किया जाता है। राधाष्टमी के पूर्व दिन हविष्य खाकर रहते हैं। दूसरे दिन प्रातः काल नैमित्तिक क्रियाओं से निवृत्त होकर स्वस्तिवाचन और संकल्प किया जाता है। पश्चात् पूजादि के बाद सामान्य अर्घ्य स्था-पन और आसनशुद्धि आदि करके गणेशादि देवा पूजा करते हैं। अनन्तर राधिका,

---

१. देवीभागवत ९ । ५०

श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं। इसके पश्चात् भोज्योत्सर्ग करके व्रत की कथा सुनते हैं। संक्षिप्त में वह इस प्रकार है :—

"एक दिन नारद जी ने श्रीभगवान से श्रीराधा के जन्म की कथा पूछी तो उन्होंने कहा :—" किसी समय सूर्यदेव मन्दार पर्वत पर कठोर तपस्या करते थे, उससे प्रसन्न होकर मैंने उनको वर प्रदान किया कि उनको कन्यारत्न की प्राप्ति होगी।

पीछे सूर्यदेव गोकुल में वृषभानु हुए और मैंने कंसादि के वध करने के हेतु देवकी के गर्भ-से जन्म लिया। मेरी प्रियतमा राधा भी वृषभानु की स्त्री कीर्त्तिदा के गर्भ-से भाद्रमास की शुक्ला अष्टमी को उत्पन्न हुई। श्रीराधा के जन्म-दिन पर वृषभानु के घर बहुत उत्सव मनाया गया। पीछे मैंने मथुरा जाकर कंसादि का वध कर श्रीराधा से व्याह किया। श्रीराधा की जन्म-तिथि पर जो विविध उपचारों से हमारी पूजा करते हैं, मैं उन पर बहुत प्रसन्न रहता हूँ। जब तक राधा प्रसन्न नहीं होतीं, मैं प्रसन्न नहीं होता। मेरा एक लाख बार नाम लेने से जो फल होता है वह एक बार 'राधा-कृष्ण' कहने से प्राप्त हो जाता है।

कुछ भक्त लोग तो केवल 'राधा' की ही पूजा-उपासना करते हैं और मानते है कि श्री जी की सिफ़ारिश पर श्रीकृष्ण स्वयं अनुग्रह करेंगे। वृन्दावन आदि धार्मिक स्थानों में प्रातः काल में प्रभाती से लेकर शयनपर्यन्त भजनों के द्वारा उपासना की जाती है। 'नाथद्वारा' (मेवाड़) में तो चांदी की चक्की से केशर पीस कर आलेपनादि करते हैं।

इस प्रकार विभिन्न विधियों और पद्धतियों से श्रीराधा की पूजा-उपासना की जाती है।

————

राधा की आवश्यकता क्यों ?

आठ पटरानियों और कई सहस्त्र रानियों की उपस्थिति में भी 'राधा' की अवतारणा क्यों की गई ? क्या रुक्मिणी, सत्यभामा आदि उस अंग की पूर्ति नहीं कर सकती थीं, जिसका भार राधा को दिया गया ? यह ऐसे मौलिक प्रश्न हैं, जिन पर विचार-विमर्श करना आवश्यक जान पड़ता है।

चौथी शताब्दी से श्रीकृष्ण-लीला की प्रमुख कथाएं अधिक लोकप्रिय हो गईं थीं। मन्सोर मन्दिर के टूटे हुए दो द्वार-स्तंभ प्राप्त हुए हैं, जिनमें गोवर्धन-धारण, माखन-चोरी, शकट-भंग, धेनुक-वध और कालियनाग-दमन की लीलाएं उत्कीर्ण हैं। आलोचकों के मत से इन उत्कीर्णों का समय ईसा की चौथी या पाँचवी शताब्दी ही हो सकता है। मथुरा में एक मूर्ति गोवर्धनधारी की प्राप्त हुई है, जिसे चौथी शताब्दी का ही माना गया है। महाबलीपुरम् में भी गोवर्धनधारी की उत्कीर्ण-मूर्ति मिली है।[1] ऐसा ज्ञात होता है कि उन दिनों में गोवर्धन-लीला जन-प्रिय रही होगी। इनमें से किसी भी उत्कीर्ण में राधा की छबि का अंकन नहीं है।

यह निश्चित है कि आरंभ में श्रीकृष्ण की चर्चा ही प्रधान रही। कंस-वध और गोवर्धन-धारण तो उन दिनों काव्य, नाटक और शिल्प के प्रधान प्रतिपाद्य थे। विष्णु-पुराण में गोपी-प्रेम का विवरण है। भागवत में तो गोपी-प्रणय का रूप पर्याप्त विस्तृत हो गया है। वायुपुराण में श्रीकृष्ण के लालन-पालन का विवरण है। अग्नि पुराण से ज्ञात होता हैं कि गोपियों ने श्रीकृष्ण के प्रति स्नेह-प्रदर्शन किया था।[2] पद्मपुराण में वृन्दावन में होने वाली श्रीकृष्ण की नित्यलीला का वर्णन है और राधा का नाम भी है, परन्तु इस पुराण को अति प्राचीन नहीं माना गया है।[3]

जैसा कि हमने अन्यत्र निवेदन किया है कि राधा का नाम और उनकी चर्चा भागवोत्तर साहित्य में तो पर्याप्त है परन्तु उससे पूर्व कोई विवरण प्राप्त नहीं है। रास-पंचाध्यायी को भागवत का सार माना जाता है, इसमें भी राधा का नाम नहीं आता

---

१. "मध्यकालीन धर्म साधना" डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी। पृष्ठ १२१-२२

२. अग्नि पुराण १२। २२-२३.

३. 'ब्रजबुलि लिटरेचर' प्रो० सुकुमार सेन पृष्ठ ४१०—४८१.

है। भागवत में 'एक गोपी' की चर्चा है, जो श्रीकृष्ण के प्रति अत्यन्त अनुरागमयी है। परन्तु यह गोपी ही राधा थी ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हो पाया है।

केवल ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा को प्रमुख गोपी माना गया है; परन्तु रायबहादुर योगेशचन्द्र राय का अनुमान है कि इस पुराण की रचना १६ वीं शताब्दी में हुई और यह पुराण पश्चिमी बंगाल में कहीं लिखा गया था।[1] पद्मपुराण के विषय में भी ऐसा कहा जाता है कि वह भी बंगाल में लिखा गया है और ब्रह्मवैवर्तपुराण के आस-पास ही उसका रचना-काल है।

पाँचवीं शताब्दी में 'पंचतंत्र,' गाथा सप्तशती और ध्वन्यालोक में राधा का नाम आया है। इससे यह तो प्रकट हो जाता है कि पाँचवीं शताब्दी में या उससे कुछ पूर्व राधा के नाम की उद्भावना हो चुकी थी—परन्तु इसकी आवश्यकता क्यों पड़ी ?

ईसा की चौथी पाँचवीं शताब्दि का युग गुप्त-साम्राज्य का स्वर्ण-युग था। चन्द्रगुप्त का पुत्र विक्रमादित्य अपनी योग्यता, बुद्धि और शासन के लिए प्रसिद्ध था। उसका साम्राज्य अरब सागर तक फैल गया था और सौराष्ट्र उसका एक अँग बन गया। यूरोपीय देशों के साथ भी व्यापार होने लगा और परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति उन देशों में भी फैलने-फूलने लगी।[2]

चीनी यात्री फाह्यान ने इस युग की भूरि-भूरि प्रशंसा की हैं। इसी युग में साहित्य और कला दोनों ही उन्नत हुए और उनकी उन्नति चरम-सीमा तक पहुँच गई। झांसी जिले के देवगढ़ गाँव में गुप्त-काल का बनवाया हुआ एक विष्णु-मन्दिर आज तक खड़ा है। मध्यदेश में नागौद राज्य में भुभरा के समीप गुप्त-काल का एक शिव-मन्दिर मोजूद है। इन मन्दिरों की दीवारों पर मूर्तियाँ खोदकर बनाई गई हैं। उनकी कारीगरी अपूर्व है। भेलसा में उदयगिरि की गुफाओं में विष्णु-वराह, तथा गंगा-यमुना के सुन्दर भित्ति-चित्र हैं। यहीं, पथरी के पास, श्रीकृष्ण के जन्म का चित्र पत्थर पर खोदा गया है। गुप्त-काल की अनेक मूर्तियाँ सारनाथ के अजायबघर में हैं।

गुप्त-काल में ही महाकवि कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, आर्यभट्ट और वराह-मिहिर आदि परम विद्वान् भी हुए हैं।

यह निर्विवाद है कि गुप्तवंशीय सम्राट वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। ब्राह्मण धर्म की प्रधान विशेषता भक्ति थी। फिर भी प्रत्येक धर्मावलम्बी को अपने मत-पालन की स्वतंत्रता थी। शिव, विष्णु, बुद्ध, सूर्य आदि देवताओं की उपासना के लिए बहुत से मन्दिर बनवाये गये थे।

---

१. "मध्यकालीन धर्मसाधना" डा० द्विवेदी पृष्ठ १२२-२३
२. "भारतवर्ष का इतिहास" ले० डा० ईश्वरीप्रसाद। पृष्ठ ६८-६९

इस युग में भगवत्प्रेम और भगवद्भक्ति का भी अत्यन्त उत्कर्ष हुआ। भक्ति-साधना का केन्द्र-बिन्दु प्रेम-लीला को मानते हैं। भक्ति भगवान की प्रिया है और भगवान भक्ति के प्रियतम हैं। प्रेम जितना महान् होगा उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होगा। भक्ति तो पतिव्रता सती के समान है, उसे प्रलोभनों से जूझना पड़ता है। भक्ति का ऐसा आदर्श किस प्राणी में प्रतिष्ठापित किया जाय—यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से भक्तों के लिये हृदय-मंथन करने वाला प्रमाणित हुआ होगा। हमारा अनुमान है कि तभी भागवतकार की 'एक गोपी' उनके सामने आकर उपस्थित हो गई होगीः—

"तस्याः अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम्॥"

अर्थात् एक गोपी बोल उठी—कुछ भी हो, यह जो हम सबके सर्वस्व श्रीकृष्ण चन्द्र को एकान्त में ले जाकर अकेली ही उनके अधर सुधा का पान कर रही है, इस गोपी के उभरे हुए चरण-चिन्ह तो हमारे चित्त में अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न कर रहे हैं।

गोपियों ने अनुमान किया कि श्रीकृष्ण ने उसे कन्धे पर भी चढ़ाया है। वह उनकी प्रिया है, उसके लिए उन्होंने पुष्प चयन भी किये हैं। वह गोपी भी प्रेमगर्विता हो गई और तभी उसने श्रीकृष्ण के कन्धे पर चढ़ कर चलने की कामना प्रकट की। श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये। वह गोपी अचेत हो गई और तब शेष सखियों ने उसे पास आकर देखा।

भागवत में भक्ति के दो पुत्र माने गये हैं—वैराग्य और ज्ञान। यह भी कहा गया है कि वृन्दावन पहुँचकर भक्ति तो तरुणावस्था को प्राप्त हो गई परन्तु ज्ञान-वैराग्य वृद्ध हो गये। इसका कारण यह दिया गया है कि वृन्दावन में ज्ञान-वैराग्य को कोई नहीं पूछता।

तो श्रीकृष्ण की परम-प्रिय गोपी को भक्ति का प्रतीक माना गया। इसका कारण यह भी था कि श्रीकृष्ण को वह अत्यन्त प्रिय थी। उसे मूर्त रूप देना भी आवश्यक हो गया। तब नामकरण का प्रश्न कैसे पीछे रह जाता? जो आराधक है वही राधा है। भागवत की स्नेहशीला गोपी परमाराधिका होने से राधिका हो गई। अन्यान्य देवताओं की शक्तियों की भाँति राधा को भी आह्लादिनी शक्ति स्वीकार किया गया। इस प्रकार कृष्ण के साथ राधा को बिठा दिया गया और 'राधा कृष्ण' की जयजयकार होने लगी।

श्रीकृष्ण की पटरानियों में स्नेह-सौहार्द्र का अभाव नहीं था फिर भी वे राधा का स्थान नहीं पासकीं—इसका कारण उनका 'पति-देवता' होना है। वे पत्नी भी रहीं

और वामाङ्ग की अधिकारिणी भी—श्रीकृष्ण के समस्त कृत्यों में उनका समान भाग था। राधा के समान वे कृष्ण-प्रिया नहीं हो सकीं। राधा तो श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व, प्राण और जीवनाधार मानती थीं। उन्होंने 'आत्मसमर्पण' करके श्रीकृष्ण को प्राप्त किया था। विवाह-बन्धन में बँध कर नहीं, स्नेह के अक्षय पाश में राधा ने श्रीकृष्ण को बाँधा था।

हमारी सम्मति में श्रीकृष्ण की सात्विक और शाश्वत भक्ति का प्रतिनिधित्व करने के हेतु राधा की आवश्यकता प्रतीत हुई और इसी कारण उनकी अवतारणा की गई।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा

इस पुराण में राधा-कृष्ण से सम्बद्ध जो सामग्री है वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। इस अंश का नाम कृष्ण-जन्मखण्ड है जो पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दो भागों में विभाजित है।

पूर्वार्द्ध के आरंभ में ही नारद जी भगवान नारायण से प्रश्न करते हैं :—

> का वा गोपांगना के वा गोपाला ब्राहरूपिणः।
> का वा यशोदा को नंदः किं वा पुण्य चकार ह ॥ १। १३।

ब्रह्मवैवर्तपुराणकार ने श्रीकृष्णावतार का कारण यह बताया है कि जब श्री-कृष्ण गोलोक में राधा को छोड़ कर विरजा के पास चले गये, तो राधा सहेलियों के साथ उन्हें खोजती हुई विरजा के मंदिर में पहुँची। द्वार पर श्रीदामा थे। उन्होंने राधा को रोका। श्रीदामा और राधा ने एक दूसरे को शाप दिया। परिणामस्वरूप दोनों गोप और गोपी के रूप में व्रजधराधाम पर आये।

चौथे अध्याय में गोलोक का और पाँचवे अध्याय में राधा-मंदिर के सोलह-द्वारों का जो ऐश्वर्यशाली वर्णन है वह भागवत में नहीं है। छठे अध्याय में वसुदेव को कश्यप, देवकी को अदिति, नंद को वसु और यशोदा को वसु-कामिनी का अंशावतार बताया गया है। श्लोक २१५ से २१६ तक राधा और श्रीकृष्ण की अभिन्नता बताई गई है। जैसे मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बन सकता वैसे ही राधा-कृष्ण के बिना संसार का निर्माण संभव नहीं है। श्लोक १०५ से १०६ तक राधा शब्द की व्याख्या दी गई है।

अध्याय १५ के प्रारंभिक श्लोकों में कहा गया है कि एक दिन कृष्ण वृन्दावन गये और भांडीर वन में गौओं को चराने लगे। इसी बीच में श्रीकृष्ण ने अपनी माया से आकाश को मेघाच्छन्न कर दिया। झंझावात होने लगा। वृष्टिधारा से पादप कांपने लगे। इतने में राधा वहा आगई और तब नंद ने कृष्ण को घर पहुँचाने के लिए कहा। इसी कथा के आधार पर गीत-गोविन्द का प्रथम श्लोक निर्मित है :—

मेघैर्मेदुरम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः ।
नक्तं भीरु रयं त्वमेव तदिमं राधे ग्रहं प्रापय ।।
इत्थं नंद निदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्व कुंजद्रमम् ।
राधा माधवयोर्जयन्ति यमुन कूले रहः केलयः ।।

इसी बन में ब्रह्मा ने राधा-कृष्ण का विवाह भी करा दिया । अध्याय १६ में राधा को शृंगारी तथा साहित्यिक विशेषणों से अलंकृत किया गया है । अध्याय १७ में राधा-स्तोत है । यहाँ राधा को कृष्ण-पत्नी कहा गया है। अध्याय २७ में अत्यन्त अश्लील रूप में रास-वर्णन किया गया है । अध्याय ५२-५३ में राधा-माधव तथा गोपियों का विहार-वर्णन है । अध्याय ६६ में राधा-कृष्ण की क्रीड़ा का शृंगारिक वर्णन है । अध्याय ७२ में कृष्ण की कृपा से कुब्जा स्वरूपवान हो जाती है । उसे पूर्व-जन्म की शूर्पणखा बताया है । अध्याय ९२ में श्रीकृष्ण प्रवास के पश्चात् विरहिणी राधा का बड़ा कारुणिक चित्र है । राधा की भक्ति और स्नेह से उद्धव भी विकल हो जाते हैं ।

यह पुराण शृंगारिक सम्पत्ति से परिपूर्ण है । जयदेव, विद्यापति, चडीदास और सूरदास सभी ने इसी पुराण के भंडार से शृंगार-सम्पदा को प्राप्त किया है ।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मवैवर्तपुराण में जैसी राधा का वर्णन किया है, वह भोग-विलासिनी है । उसे अपनी सौतों से परम ईर्ष्या है । इस पुराण में राधा के विषय में सभी प्रकार की सामग्री मिल जाती है ।

यह एक कठोर सत्य है कि जयदेव, चंडीदास और विद्यापति ने राधाकृष्ण के जिस भौतिक-शृंगार का वर्णन अपने गीतों में किया है, उतना ही स्थूल, बल्कि कहीं-कहीं तो उससे भी नग्न वर्णन ब्रह्मवैवर्तपुराण में है । इस पुराण का गो-लोक भी रास-विलास से परिपूर्ण है । तात्पर्य यह है कि मोक्ष के पश्चात् भी विषय-भोग से छुटकारा नहीं मिलता है ।

विस्तार-भय से, हम इस विवेचन में अधिक नहीं जाना चाहते, फिर भी संक्षेप में हमारा निवेदन है कि जयदेव की राधा और ब्रह्मवैवर्त की राधा में कोई अन्तर नहीं है, दोनों में समानता ही अधिक है ।

राधा के रूप-यौवन की झलक देखिये । उनको 'बृहन्नितम्ब भारार्ता पीन श्रोणी-पयोधरा ।' कहा गया है । राधा की उत्पत्ति का विवरण भी अत्यन्त मनोरंजक है :—
"वाराहकल्प में सृष्टि के आरंभ में जब समस्त रचना समाप्त हो गई तो गो-लोक के स्वामी श्रीकृष्ण देवताओं के साथ रास-मंडल में पधारे । भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के वामाङ्ग से एक रूपवती देवी प्रादुर्भूत हुई, जिसने शीघ्रता से पुष्प-चयन करके भगवान

के चरण-कमलों में अर्पित कर दिया। उत्पन्न होते ही वे श्रीकृष्ण की ओर झपटीं इसलिए उनका नाम राधा पड़ गया। जन्म से ही वे षोड़शी वाला हैं। अर्चना के पश्चात् राधा एक सिंहासन पर बैठ गईं। तब एकाएक उनके रोम-रोम से १०० करोड़ गोपियाँ उत्पन्न हुईं जो राधा के समान ही लावण्यमयी थीं और श्रीकृष्ण के रोमों से ३३ करोड़ गोप उत्पन्न हुए। यह वर्णन ब्रह्मखण्ड में है।

इसी पुराण के प्रकृत-खण्ड के दूसरे अध्याय में राधा की उत्पत्ति दूसरे प्रकार से कही गई है :—"बहुत काल के उपरान्त श्रीकृष्ण को इच्छा हुई कि सृष्टि की रचना हो। अतएव वे 'स्वेच्छामयः स्वेच्छया' अपनी इच्छा से दो रूपों में विभाजित हो गये। वाम अंश ने स्त्री का रूप धारण किया और दक्षिण ने पुरुष का। श्रीकृष्ण उसे देख कर मोहित हो गये और रासमंडल में क्रीड़ा आरंभ हो गई। अन्त में प्रकृति सगर्भा हो गई। इसी प्रकृति को राधा कहा गया है।

इसके अतिरिक्त राधा के कोप का विशद वर्णन है। वह अपनी सौतों से, श्रीकृष्ण की अन्य पत्नियों से, जिनमें गंगा और सरस्वती भी सम्मिलित हैं, झगड़ती हैं—लड़ती हैं और श्रीकृष्ण को भी ढेरों गालियाँ देती हैं।

इसी पुराण में उनका विवाह भी कराया गया है। वे कलावती के गर्भ से उत्पन्न हुईं और जब बारह-वर्ष में पूर्ण यौवना हो गईं तो उनका विवाह यशोदा के भाई, श्रीकृष्ण के मामा, रायण से कर दिया गया। रायण को गोलोक में श्रीकृष्ण का ही अंश माना है। आगे लिखा है कि चौदह वर्ष व्यतीत होने पर श्रीकृष्णावतार हुआ और तब एक दिन राधा-कृष्ण का विवाह ब्रह्माजी ने भाण्डीर वन में करा दिया।

तात्पर्य यह है कि राधा-कृष्ण विवाहित हुए। परन्तु ऐसा क्यों हुआ इसका कोई कारण नहीं दिखाया गया है। रायाण-पत्नी बन कर भी राधा कृष्ण-पत्नी कैसे बनीं, क्यों बनीं ? ब्रह्मा जी ने एकान्त बन में विवाह क्यों कराया आदि प्रश्न संदिग्ध और बड़े शंकास्पद हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सिद्ध हो जाता है कि राधा श्रीकृष्ण से २६ वर्ष बड़ी थीं। संभवतः इसी आधार पर बंगाल के वैष्णव-कवियों में "परकीयावाद" का प्रचार हुआ। २६ वर्ष की वधू और दो तीन वर्ष का वर ? यह कैसी विडंबना है।"

नग्नता, स्थूलता और अश्लीलता तो इस पुराण के प्राण हैं। आलोचक चाहें तो खींच-तान कर इस पर अध्यात्म की छाप भले ही लगा दें परन्तु यह पुराण हमें तो नितान्त अप्रामाणिक प्रतीत होता है। जयदेव, चंडीदास और विद्यापति के गीतों की प्रतीच्छाया इस पुराण पर भरपूर है। इसके अतिरिक्त प्राचीन पुराणों से इसकी भाषा भी भिन्न है।

चौथी और सोलहवीं शताब्दी के मध्य, श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में लोगों की धारणा बदल चुकी थी। विष्णुपुराण और भागवत में श्रीकृष्ण को विष्णु का अंशांश अवतार" कहा गया है।[1] वे श्रीकृष्ण ब्रह्मवैवर्त में साक्षात् परमेश्वर हो जाते हैं।

भागवत का अन्तिम संकलन ६००-१००० ई० में माना जाता है।[2] तब तक राधा की कल्पना नहीं हुई थी।

राधा को सर्वप्रथम भौतिक गोपी के रूप में लाया गया। पीछे से वे श्रीकृष्ण की आद्याशक्ति हो गईं। ब्रह्मवैवर्तपुराण में तो वे श्रीकृष्ण-स्वामिनी बन बैठीं।

रासलीला का पहले पहल वर्णन विष्णु पुराण में पाया जाता है। इस पुराण के पंचम अंश में, १३ वें अध्याय के अन्तर्गत केवल ५० श्लोकों में समस्त रासलीला हो जाती है। भागवत में इसी को अति-विस्तार से कहा गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण तो रासलीला वर्णन से ओत-प्रोत हैं। गोकुल और गोलोक सर्वत्र ही रासलीला हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में श्रीकृष्ण को नर-तन के प्रलोभनों से पूरित तथा राधा को ईर्ष्या से जर्जरित दिखाया गया है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण की शैली सर्वथा दूषित और निन्दनीय है।

रासलीला का विस्तार क्रमशः होता गया हैं। विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण की रासलीला सात्विक और विशुद्ध है तो भागवत में वह भोग-विलास की सीढ़ी तक उतर आयी और ब्रह्मवैवर्त पुराण में तो उसका नग्नरूप सामने आ गया। इसका कारण है—

सोलहवीं शताब्दी में, सहजिया-सम्प्रदाय और बौद्ध वाम मार्ग समाज में 'पंच म-कार' का प्रवेश करा दिया था। लोग भी उनके अभ्यस्त हो चले थे। अन्धविश्वास की ही जयजयकार थी। बौद्ध महायान का तिषतलोक वैष्णवों का गोलोक बन गया और उनके बोधिसत्व का स्थान श्रीकृष्ण को दे दिया गया। तात्पर्य यह है कि बौद्ध वाममार्ग का हिन्दू रूपान्तर वैष्णवधर्म ही ब्रह्मवैवर्त पुराण का आधार है।

---

१. अवतीर्णोहि भगवानंशेन जगदीश्वर। भागवत १०।३३।२७

२. सरस्वती भाग ३५ अंक ४ श्रीवेंकटेशनारायण तिवारी का लेख "ब्रह्मवैवर्त पुराण की श्रीराधारानी।"

उपर्युक्त विचार-विमर्श के आधार पर हम यह मानते हैं कि बारहवीं शताब्दी के महाकवि जयदेव और चौदहवीं शताब्दी के चंडीदास-विद्यापति आदि के काव्य की छाया पर ही सोलहवीं शताब्दी में, बंगाल के किसी भाग में ब्रह्मवैवर्त पुराण का निर्माण हुआ। अतएव यह पुराण नितान्त अप्रामाणिक है और राधा के अथवा श्रीकृष्ण के विषय में इसमें जो भी कुछ मिलता है वह अत्यन्त भ्रमात्मक तथा संदिग्ध है।

राधा स्वकीया हैं अथवा परकीया

नायिका-भेद के अन्तर्गत "जो नारी अपने पति पर अनुरक्त न होकर अन्य पुरुष पर अनुरक्त होती है वह परकीया नायिका, और जो अपने पति पर अनुरक्त रहती है वह स्वकीया नायिका कहलाती है। अपने पति के साथ मिलने का जो आग्रह होता है, उससे कहीं अधिक परकीया नारी का उपपति से मिलने का आवेश होता है।"[१]

इस विषय पर "श्री वेंकटेशनारायण तिवारी ने भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।"[२]

जैसा कि हम अन्यत्र दिखा चुके हैं श्रीराधा जी यशोदा के भाई, श्रीकृष्ण के मामा रायण की विवाहिता पत्नी थीं। ब्रह्मवैवर्तपुराण में राधा के पिता वृषभानु को वैश्य माना गया है। रायण आभीर-वंशी होने से क्षत्रिय थे, अतएव यह अन्तर्जातीय विवाह ही माना जायगा।

जयदेव का समय ईसा की बारहवीं शताब्दी माना जाता है। इनसे पूर्व वैष्णव सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण का समन्वय नहीं पाया जाता है। श्री निम्बार्काचार्य इन जयदेव जी के सम-कालीन थे। उन्होंने बादरायण के ब्रह्मसूत्रों पर एक भाष्य लिखा है। उस भाष्य में आपने श्रीराधा-कृष्ण की उपासना की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। हमारी मान्यता है कि धार्मिक क्षेत्र में तो निम्बार्काचार्य जी ने राधा को उपस्थित किया और साहित्यिक जगत में महाकवि जयदेव ने राधा का परिचय दिया। इसके पश्चात् ईसा की चौदहवीं शताब्दी में विद्यापति और चंडीदास ने अपने गीतों से राधा-कृष्ण को सर्व-सुलभ बना दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी में महेन्द्रपुरी ने तथा सोलहवीं शताब्दी में चैतन्य महाप्रभु ने तथा उनकी शिष्य-मंडली ने राधा-कृष्ण की उपासना को परम-साधन बना दिया। कवियों और कथा-वाचकों ने इसके प्रचार और प्रसार में समग्र शक्ति लगादी। श्री वल्लभाचार्य जी चैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे। उन्होने पुष्टि-मार्ग का प्रवर्तन किया। सूरदास, नंददास आदि अष्टछाप के कवियों ने इस पुष्टि-सम्प्रदाय को अपनाया, स्वीकार किया और तब राधाकृष्ण की उपासना-आराधना उत्तर-प्रदेश और उसके

१. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ ६५

२. सरस्वती भाग ३५। संख्या १। पृष्ठ ३३। सन् १९३४ ई०

आस-पास के प्रान्तों में चल पड़ी । राजस्थान में मीरा पग घुँघरू बाँध कर नाच उठी—परन्तु गोपाल के सामने अधिक । उनके साहित्य में 'राधा' की स्तुति नहीं के बराबर ही है । इस समय भी महाराष्ट्र के सन्त ज्ञानेश्वर राधा के उपासक नहीं थे । वहाँ तो आज भी रुक्मिणी-रमण ही विठोवा कहलाते हैं । परकीया-उपासना का केन्द्र तो बंगाल ही रहा । इसके साथ ही साथ परकीया-भाव की पूजा बिहार, उत्तर-प्रदेश, गुजरात, काठियावाड़ और राजपूताने तक फैल गई । बंगाल में तो यह परकीया भाव की उपासना इतनी बलवती हुई कि आज बंगाल में अकेले श्रीकृष्ण की पूजा कोई भी नहीं करता है । इस प्रकार को उपासना के शासन का सारा काम वृन्दावन से ही होता रहा ।

शृंगारी कविता का श्रीगणेश भी बंगाल के कवियों ने ही किया । साहित्यिक दृष्टिकोण से हम उस कवि की कल्पना को अत्यन्त सफल मानते हैं, जिसका परिणाम राधा की उत्पत्ति है और वह राधा श्रीकृष्ण के साथ घुल-मिल कर अमर हो गई हैं । वह कवि सृष्टा भी था और दृष्टा भी ।

ईसा की ग्यारहवीं सदी के मध्य में कविवर उमापतिधर हुए हैं । वे बंगाली थे या बिहारी हम इस विवाद में नहीं जाना चाहते । उन्होंने काव्य में सर्वप्रथम राधा का वर्णन किया है:—सकल शरीर कुसुम तुअ सिरजिल, किअ तुअ हृदय पषाने ।" इनके बाद बारहवीं सदी में जयदेव हुए हैं । उन्होंने भी विलासिता-पूर्ण वर्णन किया है ।[1]

परन्तु गीत-गोविन्द में कहीं भी इसकी ध्वनि नहीं है कि श्रीकृष्ण से भेंट होने से पूर्व राधा का विवाह हो चुका था । इस प्रकार जयदेव की राधा तो स्वकीया ही जान पड़ती है । इससे यह भी प्रमाणित होता है कि बारहवीं शताब्दी तक राधा को परकीया रूप नही मिला था ।

चौदहवीं शताब्दी में विद्यापति और चण्डीदास ने राधा को परकीया नायिका बना दिया । एक बिहारी थे, दूसरे बंगाली । दोनों समकालीन भी थे । इस हेतु दोनों का सरस-काव्य रसिकों का कण्ठ-हार बन गया । इन दोनों कवियों ने राधा-माधव-सम्मिलन से पूर्व ही राधा का विवाह सम्पन्न करा दिया । इस प्रकार जयदेव के लगभग १५०-२०० वर्ष पश्चात् राधा परकीया बन गईं ।

---

१. श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति वामाम् ।
पश्यति सस्मित चारुपरामपरामनुगच्छति वामाम् ॥
गीत गोविन्द ।

इस 'परकीयावाद' के फेर में पड़ने का कारण था। बंगाल में उस समय सहजिया-सम्प्रदाय का बोलबाला था, जिसमें नारी-पूजा का प्राधान्य था। जान पड़ता है कि विद्यापति और चंडीदास जैसे वैष्णव-कवि उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

उत्तर-प्रदेश के व्रज-प्रदेश के व्रज-प्रान्त में राधा-कृष्ण की लीला का वर्णन सूरदास ने किया है। उन्होंने माना है कि न तो राधा के पति हैं और न सास है। वे कुमारी थीं और यदा-कदा श्रीकृष्ण के घर खेलने आया करती थीं। यहीं उनका परिचय हो गया।[1] वे कभी-कभी राधा के यहाँ भी आते-जाते थे। महाभारत के युद्ध के पश्चात् सूरदास ने राधा-कृष्ण का विवाह करा दिया। उत्तर-प्रदेश में परकीया-भाव की उपासना जनोचित न जानकर ही सूरदास ने ऐसा किया होगा। इस प्रकार सूर की राधा स्वकीया सिद्ध होती है।

नंददास आदि कवियों ने भी स्वकीया भाव से ही राधा का चित्रण किया है। इसके पश्चात् जन-साधारण की धारणा भी परकीया-भाव से परिवर्तित होकर स्वकीया भाव की ओर आने लगी और धीरे-धीरे लोगों ने राधा-कृष्ण की अभिन्नता कोमना लिया।

अब रह जाता है ब्रह्मवैवर्त पुराण, जिसमें राधा को परकीया ही माना है। उनका विवाह रायण अर्थात् आयनघोष के साथ कराया गया है। उनकी सास का नाम जटिला और ननद का नाम कुटिला रखा गया है।

जैसा हम लिख चुके हैं, ब्रह्मवैवर्त पुराण को हम अत्यन्त आधुनिक तथा अप्रामाणिक मानते हैं। इसलिए उक्त पुराण की नायिका राधा परकीया हों या स्वकीया—हम उनके विषय में विचार करना आवश्यक नहीं समझते।

विद्यापति ने प्रायः अपने काव्य की रचना अपने आश्रयदाता शिवसिंह और लखिमा दे के मनोरंजनार्थ की है। उनका कोई पद ऐसा नहीं जिसमें इन दोनों का नाम न हो। कहीं-कहीं तो विद्यापति ने इन दोनों को राधा-कृष्ण भी बना दिया है। उनके काव्य पर स्पष्ट ही राजाश्रय का प्रभाव है। राजा लोगों की विलासिता-वर्द्धन के लिए कवि लोग शृङ्गारी कविता करते ही थे। विद्यापति भी इसी श्रेणी के कवि हैं। अतएव उनके द्वारा प्रतिपादित स्वकीयत्व तथा परकीयत्व कोई महत्त्व नहीं रखता।

इस कसौटी पर चण्डीदास तो पहले ही खोटे सिद्ध हो जाते हैं। वे रामी

---

१. "बूझत श्याम कौन तू गोरी।" सूरदास

धोविन के अनन्य प्रेमी थे । अतएव अपने स्नेह की विशुद्धता प्रमाणित करने के लिए उन्हें राधा जैसी परकीया की परम आवश्यकता थी ।

अन्त में, हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि राधा का अस्तित्व था, तो वे स्वकीया थीं और उनका विवाह श्रीकृष्ण के साथ हुआ था । जैसा कि सूरदास आदि कवियों ने भी चित्रित किया है । शकुन्तला, सावित्री, पार्वती, सीता, दमयन्ती की पूजा आज भी होती है । मन्दोदरी और तारा को कोई नहीं पूछता । राधा यदि परकीया होती तो उन्हें भी कोई सम्मान नहीं देता ।

संस्कृत साहित्य में राधा

जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है राधा की उद्भावना पर्याप्त नवीन है इसलिए प्राचीन-संस्कृत साहित्य में जिस प्रकार श्रीकृष्ण वन्दना आदि से सम्बद्ध श्लोक प्राप्त होते हैं, वैसी बात राधा के सम्बन्ध में नहीं है। यदि कहीं किसी संस्कृत के कवि अथवा लेखक ने राधा का वर्णन किया भी है तो वह इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि उसे साहित्यिक कोटि में स्थान दिया जा सके।

महाकवि जयदेव ने अपने गीत-गोविन्द के द्वारा राधा को जो ख्याति प्रदान की है, वह स्तुत्य है। हम तो जयदेव को इस दिशा में धन्य ही मानते हैं कि उनकी काव्य-प्रसूता राधा आज घर-घर में वंदनीय और पूजनीय है।

जयदेव ने राधारानी के जिस स्नेह-समन्वित हृदय का चित्रण गीत-गोविन्द में किया है वह अतुलनीय है। "सुदूर-प्रवास का वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं हुआ है। नहीं हुआ है, यही खैर है। नहीं तो जिस उद्दाम प्रेम-भरी राधिका का दर्शन पुस्तक का प्रथम पृष्ठ खोलते ही होता है, उसकी जो दशा सुदूर-प्रवास के वियोग में दिखाई पड़ती उससे हृदय टूक-टूक हो जाता।" ऐसी सम्मति है सुप्रसिद्ध आलोचक डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी की। इतना ही नहीं, कवि स्वयं निमंत्रण देता है कि यदि हरिस्मरण से हृदय को सरस बनाना चाहते हो, कौतूहल का वर्द्धन अपेक्षित है, तब मधुर कोमल-कान्त पदावली वाली जयदेव की सरस्वती पढ़ो—

यदि हरिस्मरेणसरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमलकान्तपदावलीं
शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥

हमें जयदेव की विरहिणी राधा अत्यन्त कोमल और प्रिय जान पड़ी—क्योंकि कवि ने उस समय जिन भावों को भी प्रगट किया है वे हृदय-द्रावक तथा मर्मस्पर्शी हैं। राधा की सहचरी ने श्रीकृष्ण की लीला का वर्णन किया कि बसन्त का सरस समय है, मलय-मारुत ललित-लवंग-लता के परिशीलन से कोमल हो गया है, कुंज कुटीरों में भ्रमर-समूह गुंजार कर रहा है, कोयल कूक रही है, ऐसा है वह देश और ऐसा है वह समय—श्रीकृष्ण गोपियों के साथ रास में संलग्न हैं। राधा ऐसा सुनकर अत्यन्त चिन्तातुर हो जाती हैं।

वसन्ते वासन्ती कुसुमसुकुमयैरवयवै—
भ्रमन्ती कान्तारे बहुविहित क्ष्णानुसरणाम् ।
अमन्दं कन्दर्प ज्वर जनित चिन्ताकुलतया
बल द्वार्धा राधां सरसमिदश्चे सहचरी ॥"

ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा गया है कि राधा श्रीकृष्ण की उपासना करती हैं और श्रीकृष्ण राधा की उपासना करते हैं:—

राधा भजति श्रीकृष्ण सचतां च परस्परम्
(प्रकृति खंड अ० ४८)

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण गर्ग-संहिता के द्वारका खण्ड के १७ अध्याय में उपस्थित है। एक बार श्रीकृष्ण के चरणों में छाले पड़े देखकर उनकी अन्य रानियों ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि तुमने श्रीराधा को गर्म दूध पिला दिया था, अतएव मेरे चरणों में छाले पड़ गये क्योंकि मेरे चरण सर्वदा उसके हृदय में रहते हैं :—

श्री राधिकाया हृदयारविन्दे पादार विन्दम् हि विराजते मे ।
अहर्निशं प्रश्रयपाशवद्धं लवं लवार्द्धं न चलत्यतीव ॥
अद्योष्णदुग्ध प्रतियानतोंघ्रावुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति ।
मन्दोण्ठामेवे हि न दत्तमस्यै युस्माभिरुष्णं तुपयः प्रदत्तम् ॥

आधुनिक-युग में अथवा हिन्दी-साहित्य के भक्ति-युग में कतिपय साम्प्रदायिक संस्कृत कवियों ने श्रीराधा की जो स्तुति या वंदना की है उसमें भी श्रीकृष्ण की प्रमुखता है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में राधा के विषय में जो काव्य-रचना हुई है वह अत्यन्त अल्प-स्वल्प है। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल का तो आधार ही राधा और कृष्ण हैं।

हिन्दी काव्य में राधा

वस्तुत: हिन्दी काव्य में राधा का आविर्भाव सूरकाव्य के आरम्भ से मानना चाहिये, क्योंकि सूर से पूर्व विद्यापति तथा चण्डीदास ने राधा का वर्णन किया है परन्तु कतिपय विद्वान् बंगला और मैथिली को हिन्दी के अन्तर्गत नहीं मानते हैं, इसलिए हम दोनों ही महाकवियों से पृथक होकर ब्रज-साहित्य की ओर अग्रसर होते हैं।

सूर-युग में, वल्लभाचार्य द्वारा अनुमोदित पुष्टिमार्ग पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। इसी गद्दी के आचार्य जब गोस्वामी विट्ठलनाथ जी हुए तो उन्होंने 'अष्टछाप' की स्थापना की। इनमें सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, नंददास, छीतस्वामी तथा चतुर्भुजदास थे। इनमें से कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास तो महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे, शेष चार गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। यह सभी लोग भक्त, कवि, संगीतज्ञ और गायक थे।

लगभग सभी ने राधा-कृष्ण का वर्णन-चित्रण किया है। फिर भी जैसी लगन सूरदास और नन्ददास में दिखाई पड़ती है, वैसी अन्य कवियों में नहीं है।

१. कुंभनदास का एक पद है, राधा श्रीकृष्ण के पास आती हैं और बड़ी चतुरता से कहती हैं कि तुम बहुत अच्छी तरह से गाय दुहना जानते हो, इसलिए मेरे साथ चलो, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ। यह दोहनी भी माता ने जान-बूझ कर तुम्हारे लिये ही भेजी है। हमारा घेरा पास ही है। राधा के प्रत्येक शब्द में आतुरता है, स्नेह है और लालसा है—

तुम नीके दुहि जानत गैया।
चलिए कुँवर रसिक मनमोहन लगौं तिहारे पैयाँ॥
तुमहिं जानि करि कनक-दोहनी घर तें पठई मैया।
निकटहि है यहि खरिक हमारो नागर लेहुँ बलैया॥
देखियत परम सुदेश लरकई चित चहुंट्यौ सुन्दरैया।
"कुंभनदास" प्रभु मान लई रति गिरि गोवरधन-रैया॥

हिंडोला पर झूलने का वर्णन है :—

रास-विलास रंग भरि मांचत नवलकिसोर किसोरी ।
एकहि वैस रूप श्रम एकहि गिरधर स्याम राधिका गोरी ।।

२. सूरदास ने तो राधा का अत्यन्त विशद वर्णन किया है फिर भी उनके दो-चार पद देखिये—

राधे ! तेरौ बदन विराजत नीकौ ।
जब तू इत-उत वंक विलोकति होत निसापति फीकौ ।।
भ्रकुटी धनुष नैन सर साधे सिर केसरि कौ टीकौ ।
मनु घूंघट पट में दुरि बैठो पारधियति रति हीं कौ ।।

आँख-मिचौनी के वहाने राधा के विशाल नेत्रों का परिचय कितनी सुन्दरता से दिया गया है :—

बैठी रही कुंवरि राधिका, हरि अँखियाँ मूंदी आय ।
अतिहिं विसाल, चपल अनियारे, नहिं पिय-पानि समाइ ।

३. परमानन्ददास के हिंडोल-उत्सव में जो सरसता और रागात्मिका वृत्ति है, वह अनुपम है :—

हिंडोरे झूलन भामिनी ।
स्यामा-स्याम बराबर बैठे, सरद सुहाई जामिनी ।
पाँच बरस के स्याम मनोहर, सात बरस की बाला ।
कमल नैन हरि के, मृग-नैनी चंचल नैन बिसाला ।।
लरिकाइन में सबहिं बनत हैं, कोऊ न जानैं सूत ।
परमानन्ददास कौ ठाकुर नन्दराय कौ पूत ।।

× × × ×

चलौ सखि ! देखौ नन्द किसोर ।
श्रीराधा संग लीएं बिहरत, सघन कुंज बन-खोर ।

४. कृष्णदास ने भी इस दिशा में सुन्दर उत्प्रेक्षाएं की हैं ।

हिंडोरे माई झूलत लाल बिहारी ।
संग झूलति वृषभानु-नन्दिनी प्रानन हूं तें प्यारी ।।
लीलांबर-पीताम्बर की छबि घन-दामिनि मनुहारी ।
बलि-बलि जाय जुगल चरन पर "कृष्णदास" बलिहारी ।।

× × × ×

देखौ माई ! मानौं कसोटी कसी ।
कनक-बेलि वृषभानुनन्दिनी, गिरधर उर जुबसी ।।
मानों स्यामतमाल कलेवर अँग मालति घुसी ।

× × × ×

जै जै स्याम धाम विलोल लोचन, सुभग नन्दकिसोर
कुनित वेनु सुराग संचित, राधिका मन चोर ॥

५. नन्ददास ने तो 'रूपमंजरी' के अन्तर्गत राधा का सम्पूर्ण वर्णन किया है। कतिपय छन्द देखिये :—

अब सुनौ ता कौ सहज शृंगार।
बरनौं जगपति कौ अविकार ॥
गौर बरन तनु सोभित नीकौ।
औंरये कंचन कौ रंग फीकौ ॥
चंपक कुसुम कहा छवि पावै।
बरन हीन, बास बुरी आवै ॥
सीस-पुहुप गूंथन छवि छाई।
मनों मदन मृग कानन आई ॥ आदि.......

६. छीतस्वामी ने भी इस दिशा में सफल प्रयास किया है और सुन्दर पदों की अवतारणा की है :—

राधिका, स्यामसुन्दर कौं प्यारी।
नख सिख अंग अनूप विराजत, कोटि चन्द दुति बारी ॥
एक छिन संग न छोड़त मोहन, निरखि निरखि बलिहारी।
छीतस्वामी गिरिधर बस जाके, सो वृषभानु दुलारी ॥

७. गोविन्द स्वामी ने भी रास-मंडल के अन्तर्गत राधा-कृष्ण का वर्णन किया है :—

आजु गोपाल रच्यौ है रास, देखत होत जिय हुलास,
नाँचत वृषभानु सुता संग रंगभीने।

× × × ×

झूलन आईं ब्रजनारि,
गिरिधरलाल जू कैं सुरंग हिंडोरना।
इत नंदलाल रसिक वर सुन्दर
उत वृषभानु-सुता छबि सोहना ॥

८. चतुर्भुजदास अष्टछाप के अन्तिम कवि हैं। आपने 'छवि वर्णन' के अन्तर्गत लिखा है :—

आजु सिंगार निरखि स्यामा कौ,
नीकौ बनौ स्याम मन भावत।

मुख जोरें प्रतिविम्ब विराजत
निरखि निरखि मन मैं मुसकावत ।
चतुर्भुज प्रभु गिरिधर श्रीराधा
अरस-परस दोउ रीझ रिझावत ।।

९. रीतिकाल से कुछ ही पूर्व अथवा उसके आस-पास जो कवि हुए हैं, उनमें से बहुतों ने राधा अथवा राधाकृष्ण दोनों के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी सुन्दर उद्भावनायें की हैं । इनमें स्वामी हरिदास, सूरदास मदन मोहन, श्री भट्ट, हरिराम व्यास, ध्रुवदास, नरहरि बंदीजन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

१०. कवयित्रियों में मीरा तथा ताज का नामोलेख किया जा सकता है परन्तु नारी-जगत् में राधा की वंदना बहुत कम ही हुई है । इसका कारण क्या हैं, कोई निराकरण स्पष्ट नहीं है ।

११. मुसलमान कवियों में रसखान सर्वश्रेष्ठ हैं। चार सवैये लिखकर कृष्ण-काव्य में अमर पद पाने वाले ये अद्वितीय कवि हैं। उनका राधा के विषय में एक सवैया अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसमें मुरली के प्रति राधा ने ईर्ष्याभाव का प्रदर्शन किया है ।

मोर पखा सिर ऊपर राखि हौं गुंज की माल गरे पहिरौंगी ।
ओढ़ि पिताम्बर लै लकुटी बन गोधन ग्वारन संग फिरौंगी ।।
भावतो वोहि मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वांग करौंगी ।
पै मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी ।।

१२. इसी दिशा में नागरीदास, अलवेली अली, घनानन्द, चाचा हितहरिवंश, भगवतरसिक, व्रजवासीदास, रसिक गोविन्द, सहचरीशरण, नारारण स्वामी, गिरिधर-दास आदि के नाम भी स्मरण रखने के योग्य हैं ।

१३. रीतिकाल के कवियों में बिहारीलाल, मतिराम, देव, ठाकुर, ग्वाल, आलम और शेख आदि प्रमुख हैं । इनमें से कुछ कवियों के काव्योदाहरण निम्न प्रकार हैं:—

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय ।
जा तन की झाँई परै स्याम हरित दुति होय ।।

—बिहारीलाल

चिरजीवों जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर ।
को घटि ए वृषभानुजा, वे हलधर के वीर ।।
"अपने अपने सुचि गेहन में चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री ।
अँगनान में भींजत प्रेम करे समयो लखि मैं बलि जाऊँ पै री ।।

कहैं ठाकुर दोउन की रुचि सौं रंग ह्वै उमड़े दोउ ठाँव पै री ;
सखी कारी घटा बरसै बरसाने पै गोरी घटा नंदगाँव पै री ॥"

—ठाकुर ।

१४. आधुनिक कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द, तुलसीराम शर्मा, श्रीधर पाठक, जगन्नाथप्रसाद भानु, अयोध्यासिंह उपाध्याय, जगन्नाथदास रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न आदि स्वर्गीय विभूतियों का उल्लेख करना आवश्यक है। इनके भी कतिपय उदाहरण निम्न हैं—

हम तो मोल लिये या घर के
दास-दास श्री वल्लभ कुल के चाकर राधावर के।
माता श्री राधिका पिता हरि बन्धुदास गुन कर के।
हरीचन्द तुम्हरे ही कहावत, नहि विधि के नहिं हरि के॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द ।

तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली।
रूपोद्यान-प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
शोभा-बारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य लीलामयी।
श्रीराधा मृदुलभाषिणी मृगदृगी-माधूर्य्य-सन्मूर्त्ति थी।

—हरिऔध ।

श्रीराधावर निज जन बाधा सकल नसावन।
जाकौं ब्रज मन भावन जो ब्रज कौं मन भावन॥

—सत्यनारायण

१५. जीवित कवियों में श्री मैथिलीशरण गुप्त, वियोगीहरि, द्वारकाप्रसाद मिश्र और श्यामसुन्दरलाल दीक्षित ने राधा के विषय में सुन्दर उत्प्रेक्षाएं की हैं। निम्न पद्य हमारी इस धारणा के समर्थक हैं—

राधा का प्रणाम मुझसे, लो श्याम-सखे तुम ज्ञानी।
ज्ञान भूल, बन बैठा उसका रोम-रोम ध्रुव ध्यानी॥
न तो आज कुछ कहती है वह और न कुछ सुनती है।
अन्तर्यामी ही यह जानें क्या गुनती-बुनती है॥
राधा हरि बन गई, हाय ! यदि हरि राधा बन पाते।
तो उद्धव, मधुवन से उलटे तुम मधुपुर ही जाते॥

—मैथिलीशरण गुप्त (द्वापर) पृ० १६७

एकहि में अरु राधिका, द्वैतभाव, भव-भ्रान्ति ।
व्रजजन समुझि रहस्य यह लहि हैं पुनि सुख शान्ति ।

—द्वारिका प्रसाद मिश्र (कृष्णायन पृ० २२७)

ऊबी-सी, लटी-सी, मन-डूबी, दूबरी-सी कछू,
तृपति चखनि, मंद-मंद मुसकावती ।
गूढ़ गति भूलति सनेह की सुरति नाहि,
भीनी बतियान पतियाय बतरावती ।
रूप की उजागरी, नवेली, प्रेम नागरी-सी,
माधौ मन मंदिर में ज्योति सी जगावती ।
राधे व्रजरानी के सु वंदौं पद बार-बार
आधी राति श्याम सुपने में सदा आवती ।।

—श्यामसुन्दरलाल दीक्षित (श्यामसंदेश, मंगलाचरण)

तीसरा अध्याय
गोपियाँ

कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत भ्रमर-गीत में मुख्य रूप से गोपियों के उपालंभ ही हैं। इन गोपियों के मधुर-मानस में श्रीकृष्ण के प्रति अपार स्नेह था। प्रेम-मयी व्रज-वनिताओं ने श्रीकृष्ण के लिए जो त्याग किया वह अभूतपूर्व और अश्रुतपूर्व ही कहा जायगा।

पद्मपुराण के पाताल खंड में लिखा है कि गोपियाँ मानवी नहीं थीं। श्रुति, देवकन्या और मुनि कन्यागण ही गोपी-रूप से वृन्दावन में वास करती रहीं।

साधारण अर्थ में गोपी का तात्पर्य है—गोप-पत्नि अथवा ग्वालिनी। पूर्व समय में ये समस्त कृष्ण की सेवा करती थीं। वृन्दावन की गोपी कृष्ण-प्रेम में मतवाली होकर अपने पति-पुत्र को छोड़ कृष्ण के साथ रहा करती थीं। साधारण मनुष्य उन्हें मानुषी समझते एवं कृष्ण के साथ रहने के कारण उनके चरित्र में कलंक ठहराते थे, किन्तु प्राचीन हिन्दू-शास्त्र के प्रति लक्ष्य करने से जाना जाता है कि गोपीगण सामान्य मानवी नहीं, पार्थिव सुख के लिये वे कृष्ण की वंदना नहीं करतीं और वे कृष्ण को नन्द गोप के नन्दन कहकर भी नहीं समझतीं, वरन् उनको विराट्, अक्षय, सच्चिदानन्द और जगतपति मानती थीं। इसलिये सांसारिक सुख का परित्याग कर मान, लज्जा और लोभ भय, को जलांजलि देकर उन्होंने कृष्ण को आत्मसमर्पण किया था।[1]

साधारण रूप से ऐसा माना जाता है कि लौकिक प्रेम अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचकर अलौकिक बन जाता है। उर्दू में आरम्भिक सांसारिक प्रेम को इश्क-मजाज़ी कहा गया है और स्वर्गीय अर्थात् ईश्वरीय प्रेम को इश्क-हक़ीकी बताया गया है। गोपियों के स्नेह की स्थिति यदि हम ऐसी ही मान लें तो हमारे बहुत से विवाद समाप्त हो जायेंगे।

गोपी-प्रेम

प्रेम का जो निरूपण आधुनिक-युग में किया जाता है वह मांसल है। उसमें सात्विकता के स्थान पर वासना का प्राबल्य है। जिसका वर्णन वाणी से हो सकता है

१. "विश्व-कोष" पृष्ठ ५७९ गोपी शब्द की व्याख्या देखिये।

वह तो स्थूल है, प्रेम का बाहरी स्वरूप है। प्रेम तो प्रेमी को प्रेममय बना देता है। श्रीराम ने विरहिणी सीता के पास जो संदेश भेजा था, प्रेम की वही परिभाषा है:—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहि पाँहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माँहीं॥

"तुम्हारे और मेरे प्रेम का तत्त्व केवल एक मेरा मन जानता है और वह मन सदा तेरे पास रहता है।" जहाँ स्वार्थ है वहाँ प्रेम नहीं है। जहाँ कुछ भी पाने की वासना है वहाँ पवित्र प्रेम का वास नहीं है। प्रेम में तो देना ही देना है। प्रेमी सदैव अपने आप में त्रुटि खोजता रहता है और अनन्य भाव से प्रेमास्पद के प्रति सदा हृदय को आकृष्ट रखता है।

"छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय॥"

"सर्वक्ष ध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंस कारणे।
यद्भाव बन्धनं भूनोः स प्रेमा परिकीर्तितता।"

"ध्वंस का कारण वर्तमान होने पर भी जो सर्वथा ध्वंस-रहित है, इस प्रकार के परस्पर के भाव को प्रेम कहते हैं। जो किसी भी स्थिति में घटता नहीं है, वही प्रेम है। रसखान ने कहा है:—

बिनु जोबन गुन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि॥

नारद जी ने भी ऐसा ही कहा है कि प्रेम के स्वरूप का उस प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता, जैसे गूँगा स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता। ऐसा प्रेम किसी बिरले भाग्यवान अधिकारी भक्त में ही प्रकट होता है।[1] वह प्रेम को ही देखता है, उसे ही सुनता है और उसी का चिन्तन करता है। कविवर ठाकुर ने गोपी-प्रेम के विषय में जो सवैया लिखा है, वह पढ़ने योग्य है:—

"कानन दूसरो नाम सुनै नहिं, एकहि रंग रँगो यह डोरो।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो॥
ठाकुर चित्त की वृत्ति यहै हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरो।
बावरी ये अँखियाँ जरि जायें जो साँवरो छोड़ि निहारति गोरो॥"

---

१. अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्। प्रकाश्यते क्वापिपात्रे। गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव चिन्तयति।

—नारद सूत्र ५१-५५

गोपियों का प्रेम इसी कोटि का था। उनके प्रेम में राग का अभाव नहीं है। उनके मन-प्राण सभी कुछ श्रीकृष्ण हैं। इहलोक और परलोक, सुख और दुख, चलना, फिरना, खाना, पीना, गीत गाना, बात-चीत करना सबकुछ इसलिए है कि प्रियतम श्रीकृष्ण को आनंद पहुँचे।

काम और प्रेम में बहुत बड़ा अन्तर है। केवल काम पाप की ओर उन्मुख करता है तो प्रेम त्याग और पुण्य की ओर आकर्षित करता है। काम मधुमिश्रित हलाहल है तो प्रेम दिव्य और स्वर्गीय सुधा है। काम की समाप्ति दुख में होती है प्रेम की परिणति अक्षय आनन्द में। यथार्थ प्रेम से ही काम का मूलोच्छेदन हो जाता है।

"गोपियों के प्रेम का नाम काम होने पर भी वह काम नहीं है। किन्तु शुद्ध प्रेम है। महान् भगवद्भक्त उद्धव जैसे महात्मा भी इसी 'काम' नामक प्रेम की अभिलाषा करते हैं।" ऐसा गौतमीय तन्त्र में कहा गया है।[1]

वस्तुतः गोपियों के प्रेम में मधुर-रस की प्रधानता है। रस पाँच माने गये हैं, शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य्य। यह पाँचों रस भी दो प्रकार के हैं, लौकिक और ईश्वरीय। लौकिक प्रेम भी पाँच प्रकार का है और ईश्वरीय प्रेम भी पाँच प्रकार का है। परन्तु इन दोनों ही रसों में मधुर-रस कान्ता-प्रेम सबसे प्रधान है। इसमें शान्त,दास्य, सख्य और वात्सल्ल चारों का सन्निवेश है। इसीलिए इसे मधुर माना गया है। यह कान्ताभाव दो प्रकार का है, स्वकीया तथा परकीया। इसमें से परकीया भाव त्याज्य है, क्योंकि इसमें काम-वासना प्रधान होती है और प्रेमास्पद 'जार-मनुष्य' होता है। स्वकीया अपना सर्वस्व समर्पण कर पति-मय हो जाती है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में "परकीया-भाव" को निन्दास्पद नहीं माना गया है, क्योंकि उसमें 'पर पुरुष' नहीं होता स्वयं ब्रह्म के प्रति प्रेमोल्लास होता है। गोपियों का प्रेम इसी परकीया-भाव की उपासना है। भोग और मोक्ष दोनों ही उनके लिये सर्वथा त्याज्य थे। इसलिए उनका प्रेम विवादग्रस्त नहीं माना जा सकता हैं। लोक में, यह प्रचलन है कि आलोचक गण 'वासना का चश्मा' लगा कर ही प्रत्येक खोज-बीन में दत्त-चित्त होते हैं। गोपियों के विषय में ऐसी धारणा नहीं रखना चाहिये।

गोपियों के प्रेम में, हमें आज की सफल सामाजिक स्नेह-बंधन की झलक मिलती है। गाँवों में आज भी यह प्रथा है कि गाँव की बेटी सभी की पुत्री मानी जाती है और उस गाँव का निवासी उस पुत्री की ससुराल में पानी तक नहीं पीता है। इसी

---

१. प्रमेव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वांछन्ति भगवत्प्रियाः ॥

प्रकार गाँव का सपूत सभी का पुत्र और गाँव का मुख उज्ज्वल करने वाला माना जाता है। बालक श्रीकृष्ण के प्रति युवा गोपियों का प्रेम वासनात्मक होने की अपेक्षा प्राकृतिक अधिक कहा जा सकता है। श्रीकृष्ण उस गाँव के अधिष्ठाता नंद जी के राजकुमार हैं। प्रत्येक गोपी और ग्वाल को उनका साहचर्य प्राप्त है। यह उनके लिए एक सौभाग्य का विषय है। वे उनके साथ खेलते हैं, खाते हैं, क्रीड़ा करते हैं और उनको प्रेम करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिये कि उनकी इच्छायें वासनामय हैं। इसके अतिरिक्त गोपियों की अवस्था और आयु को देखते हुए, सात-आठ वर्ष के कृष्ण के प्रति ऐसा आरोप लगाना उचित नहीं जान पड़ता है।

गोपियों ने कात्यायनी-व्रत किया कि आगामी जीवन में उन्हें श्रीकृष्ण के समान ही पति मिले। ऐसा क्यों ? क्योंकि सामाजिक मर्यादा में रह कर गोपियाँ श्रीकृष्ण का वरण इसी शरीर से नहीं कर सकती थीं। वे विवाहित गोप-पत्नियाँ थीं। श्रीकृष्ण ने स्वयं उनसे कहा :—"हे कल्याणियो ! पति और उसके बन्धुओं की निष्कपट भाव से सेवा करना तथा सन्तान का पालन-पोषण करना ही स्त्रियों का परम धर्म है। कुल-स्त्रियों के लिए उपपति (जार) की सेवा करना सर्वथा निन्दनीय है। इससे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, संसार में अपकीर्ति होती है। यह अत्यन्त निन्दनीय और भयदायक कार्य है।" [1]. इस कथन में वासना या कामुकता कहाँ है ?

गोपी प्रेम के अन्तर्गत, तनिक गहराई से पैठने पर हमें दिखाई देगा कि गोपी-भाव की उपासना अपार्थिव है, निष्काम है और अनन्य है।

इसका एक दूसरा उदाहरण लीजिये। राम वनगमन के समय लगभग समग्र अयोध्या उनके साथ चल पड़ी। नारी, नर, बाल, वृद्ध सभी थे। ऐसा क्यों हुआ ? क्या वे राम के प्रति काम-वासना से प्रेरित होकर ऐसा कर उठे थे ? नहीं, उनके हृदयों में राम के प्रति सात्विक प्रेम था। किसी ने पिता समझा, किसी ने पुत्र, किसी ने भाई, किसी ने पति और सभी लोग उनके साथ लग गये। यही बात श्रीकृष्ण के मथुरागमन पर ब्रज में दिखाई पड़ी। गोपियों के हाहाकार और सात्विक विलाप से वातावरण करुणार्द्र हो गया। यशोदा जैसी माता के आँसुओं ने ब्रज को द्रवित कर दिया। धीरजधारियों के हृदय डोल गये। गोपियाँ ही नहीं गोप और ग्वाल भी आकुल व्याकुल

---

१. भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनाञ्च कल्याण्यः प्रजानाञ्चानुपोषणम्॥
आचर्य्ययशस्यञ्च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः॥
भागवत

हो गये। परन्तु जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, कान्ता भाव की उपासना में मधुरता और करुणा का आधिक्य होता है, श्रीमद्भागवतकार ने गोपियों को ही प्रधानता प्रदान की है।

इसीलिए जब उद्धव श्याम-संदेश लेकर ब्रज में पहुँचते हैं तो गोपियाँ उनको घेर लेती हैं। नारी का हृदय स्वभावतः ही कोमल और आशंकाओं से परिपूर्ण होता है। अतएव वे ही हृदय की धड़कनों को सम्हाले हुए सामने आतीं हैं। उनके तर्क और स्नेह को देख कर उद्धव का साहस समाप्त हो जाता है। जहाँ नारियाँ ही ऐसी कुशाग्र-बुद्धि वाली हैं और अनन्य प्रेमिका है, वहाँ गोप-ग्वालों से विचार-विनिमय करके उद्धव अपना परिहास प्रस्तुत कराने के लिए साहस नहीं बटोर सके।

हमारा निवेदन ये ही है कि गोपी-प्रेम लौकिक होते हुए भी अलौकिक है, उसमें वासना नहीं है, उपासना है।

आध्यात्मिक पक्ष में गोपियाँ

श्रीराधा से सम्बद्ध अध्याय में हमने यह माना है कि आध्यात्मिक-पक्ष में राधाजी श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। इसी प्रसंग में हमने यह भी सूचित किया है कि भगवान् की अन्य शक्तियाँ भी हैं।

गोपियाँ भगवान् की अन्य शक्तियाँ हैं, जो विविध रूप धारण करके, विभिन्न कार्यों का सम्पादन करती हैं। शक्तियाँ अपने आश्रय से कभी पृथक नहीं होती हैं, इसलिए जहाँ श्रीकृष्ण हैं वहीं गोपियाँ हैं। यदि श्रीकृष्ण गुणी हैं तो गोपियाँ उनका गुण हैं। गोपी, गोप और श्रीकृष्ण भिन्न नहीं हैं। जैसे शरीर के अंगों को पृथक नहीं माना जा सकता, वैसे ही ये सब अभिन्न हैं।

आध्यात्मिक-पक्ष में श्रीकृष्ण आत्मा हैं, तो गोपियाँ इस आत्मा की वृत्तियाँ हैं। वृत्तियाँ स्वभावतः भिन्न होती ही हैं। तात्पर्य यह है कि उनमें विविधता अवश्यम्भावी है। इसीलिए गोपियों की संख्या अपरिमित है। यही कारण है हमें गोपियों के विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं।

पद्म-पुराण के पातालखंड में वर्णन आया है कि पूर्व जन्म में देव-कन्याओं, श्रुतियों, तपस्वी तथा ऋषि-मुनि और भक्त जनों ने भगवान की साकार-सेवा करने की महान अभिलाषा प्रकट की थी, इसी कारण द्वापर में वे सब गोपियों के रूप में अवतीर्ण हुए।[1] सूरदास ने भी ऐसा ही माना है।[2] पंचदशाक्षर मंत्र का जाप करने वाले उग्रतपा नाम के ऋषि, सुनन्द नामक गोप के यहाँ उनकी कन्या सुनन्दा के रूप में उत्पन्न हुए। दशाक्षर मंत्र का जाप करने वाले सत्यतपा मुनि सुभद्रा बने। निराहारी हरिधामा सारंग गोप के गृह में रंगवेणी गोपी के रूप में आये। इसी प्रकार अन्यान्य मुनिगणों ने शरीर धारण किया।[3]

---

१. पद्मपुराण, पातालखंड, अध्याय ७२

२. यहि बानी कहि सूर सुरन कों अब कृष्णावतार।
कह्यौ सबनि ब्रज जन्म लेहु संग हमरे करहु बिहार।।

३. "अंतः परं मुनिगणाः तासां कतिपया इह" पद्मपुराणं पातालखंड अ० ७४ श्लोक ११५

मुण्डक उपनिषद में कहा गया है—"येमेवैष वृणुते तेन लभ्य ।" तात्पर्य यह है कि वह पूर्ण काम भगवान जिसे चुन ले वही उसे प्राप्त करता है। गोपियाँ भगवान के द्वारा चुनी हुई महान् आत्मायें हैं, अतएव वे अभिन्न हैं।

ऐसा कहा जाता है कि ऋचाओं ने उस प्रभु को नेति नेति कह कर पुकारा। उसका रहस्योद्घाटन नहीं हो सका। तब उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की और इस प्रकार स्तुति करने पर आकाशवाणी हुई कि इच्छानुरूप वर माँग लो। श्रुतियों ने कहा, आपके नारायण रूप को हमने देख लिया है परन्तु उस निर्गुण स्वरूप के दर्शन नहीं हुए जो मन, वाणी आदि किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है। इसलिए हमें उसी रूप के दर्शन दीजिये। भगवान ने एवमस्तु कहा और तभी वैदिक-ऋचाएँ गोपियों के रूप में अवतीर्ण हुईं और निर्गुण रूप से साकार-स्वरूप श्रीकृष्ण के साथ विहार भी किया। इन ऋचाओं के नाम उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलकण्ठिता और विपंची आदि थे।[1] श्री वल्लभाचार्य जी ने भी ऐसा ही माना है।[2] उन्होंने एक स्थान पर गोपियों को लक्ष्मी का अंश भी माना है और उनके साथ विहरणशीला भी कहा है।

वैष्णव धर्म के आचार्यों ने श्रीकृष्ण की दो शक्तियाँ मानी हैं—अंतरंग और बहिरग ! अन्तरंग शक्ति तीन प्रकार की होती है, सन्धिनी, सम्वित और आह्लादिनी। राधा आह्लादिनी शक्ति हैं। गोपियाँ उन्हीं का प्रतिरूप हैं। "असौ संस्थितः कृष्णः स्त्रीभिः शक्त्या समाहितः" ऐसा वल्लभाचार्य जी ने माना है। अतएव राधा का अँगरूप ही गोपियाँ हैं।[3]

इसी दिशा में, एक कथा और भी कही जाती है कि जब दंडक-वन में श्रीरामचन्द्रजी पधारे तो ऋषि-मुनि गण उनके लीलास्वरूप को देखकर विमोहित हो गये और उसकी प्राप्ति के हेतु प्रार्थना करने लगे। तब भगवान ने द्वापर में, उन्हें गोपी रूप धारण करके अनुगृहीत करने का वरदान दिया।

बृहद ब्रह्मसंहिता में गोपियों का सामूहिक विभाजन किया गया है। मुक्तगण, श्रुतिगण, देव-कन्या गण, मुनि-कन्या गण आदि। आठ शक्तियाँ मानी हैं, ललिता,

---

१. पद्म पुराण पातालखंड अध्याय ७४। श्लोक ११२-११८

२. भागवत पर लिखित सुबोधिनी टीका मे 'श्रुत्यन्तर रूपाणां गोपिकानाम् ।"

३. पद्मपुराण पातालखंड अध्याय ७० श्लोक ४

प्रत्यंग रभसावेशाः प्रधानाः कृष्णवल्लभाः।
ललिताद्या प्रकृत्येशाः मूलप्रकृति राधिकाः ॥

श्रीमती, हरिप्रिया, विशाखा, शैव्या, पद्मा, भद्रा, और राधा। इनके अतिरिक्त चन्द्रावली, चन्द्रलेखा, वृन्दा आदि सोलह प्रकृति-श्रेष्ठ प्रधान कृष्ण-वल्लभा पृथक हैं।[१] राधा का स्थान श्रीकृष्ण के वामांग में माना है।[२] सामने ललिता, उत्तर में श्रीमती, ईशान में हरिप्रिया, पूर्व में विशाखा, आग्नेय में शैव्या, दक्षिण में पद्मा और नैऋत्य में भद्रा का स्थान माना गया है। चन्द्रावली आदि को दिशाओं-विदिशाओं में स्थित बताया गया है।

सूरदास ने उनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया है:—

> श्यामा, कामा, चतुरा, नवला, प्रमुदा, समुदा, नारी।
> सुखमा, शीला, अवधा, नन्दा, वृन्दा, यमुना, सारी॥
> कमला, तारा, विमला, चन्दा, चन्द्रावलि, सुकुमारी।
> अमला, अबला, कंजा, मुक्ता, हीरा, नीला, प्यारी॥
> सुमना, बहुला, चम्पा, जुहिला, ज्ञाना, भाना, भाऊ।
> प्रेमा, दामा, रूपा, हसा, रंगा, हरषा, जाऊ॥
> दर्वा, रम्भा, कृष्णा, ध्याना, मैना, नैना, रूपा।
> रत्ना, कुमुदा, मोहा, करुना, ललना लोभानूरा॥[३]

सूरदास ने गोपियों की संख्या सोलह हज़ार मानी है।[४] ऐसा जान पड़ता है कि उनकी इस मान्यता का आधार उनका अपना विचार न होकर वायुपुराण का कथन ही अधिक है।[५]

जैसा कि हमने अन्यत्र भी कहा है श्रीकृष्ण को आध्यात्मिक क्षेत्र में पर-ब्रह्म माना जाता है। आह्लादिनी शक्ति भगवान की सर्वोपरि शक्ति मानी जाती है। इसलिए राधा-कृष्ण का सम्बन्ध "अचिन्त्यभेदाभेद" कहा गया है कि परस्पर भिन्न होते हुए भी दोनों अभिन्न हैं। इसी आह्लादिनी शक्ति के अन्य अवयव हैं, जो गोपियाँ हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि गोपियाँ मुझसे पृथक नहीं ह।[६]

---

१. वृहद ब्रह्मसहिता, तृतीयपाद, द्वितीय अध्याय श्लोक ३३-४५
२. ,, ,, ,, ५-३७
३. सूरसागर पृष्ठ २९७ पद ८०
४. ,, पृष्ठ ३४० पद ९३
५. एवमादीनि देवानां सहस्राणि च शोडष।
चतुर्वंश तु ये प्रोक्ता गणश्चाप्स रसां दिति॥"
वायुपुराण उत्तर खंड। अध्याय ३४। श्लोक २३५।
६. भवतीनां वियोगो में नहि सर्वात्मना क्वचित्
भागवत स्कंध १०, अ० ४७ श्लोक २९

इस दिशा में, कतिपय विद्वानों की यह भी धारणा है कि गोपियाँ आत्मायें हैं जिनको परमात्मा श्रीकृष्ण आकर्षित करते हैं। आत्मा की प्रगति और प्रवृत्ति सदैव ही परमात्मा की ओर होती है, इसी का नाम रहस्यवाद है। रसरूप ब्रह्म की अनुभूति रसमय हृदय ही कर सकता है। तर्क के द्वारा उसे नहीं जाना जा सकता है। जो लोग तर्क से तत्त्व की द्वैतता सिद्ध करना चाहते हैं, उनकी बुद्धि पृथुल है।[1] प्रेम के आश्रय में आध्यात्मिक ब्रह्म की जो अनुभूति होती है, उसकी अभिव्यक्ति बिना प्रयास रहस्यात्मक हो जाती है। यहाँ आध्यात्मिक ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं और गोपियाँ वे सरस-हृदय भक्तजन हैं, जो उनका सामीप्य लाभ करना चाहते हैं।

कान्ता भाव की उपासना में माधुर्य्य होता है। काव्य में भी यह निर्देश किया गया है कि 'कान्तासम्मिततयोपदेशमुजे,। सरस युक्ति प्रिय भी लगती है और व्यक्ति अनायास ही उसकी ओर आकर्षित भी होता है। कड़ी और खरी बात कहने वाले भी बिरले होते हैं तथा उसे सहन-वहन करके, उससे लाभान्वित होने वाले तो अल्प ही होते हैं। गोपियों की उपासना कान्ता भाव की उपासना है। उसमें तर्क नहीं है, आत्मसमर्पण की भावना अधिक है जिसे मार्जार-न्याय कह सकते हैं।[2]

इस प्रकार आध्यात्मिक पक्ष में गोपियाँ भी भगवान श्रीकृष्ण की शक्तियाँ हैं, वृत्तियाँ हैं। जैसे राधा आह्लादिनी शक्ति के रूप में उनके साथ हैं, वैसे ही गोपियाँ भी अनुरागमयी, स्नेहमयी शक्तियों के स्वरूप में सदैव ही श्रीकृष्ण के साथ हैं। इस प्रकार गोपियाँ भी श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं।

---

१. कहत कबीर तरक दुइ साधै तिनकी मति है मोटी (क०ग्रं०)

२. बिल्ली जब अपने बच्चे को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है तो उसे अपने मुँह में दबा लेती है, ताकि वह गिर न पड़े। बच्चा भी बिल्ली पर निर्भर रहता है।

बन्दरिया का बच्चा उसे पकड़ लेता है। बच्चे को चिन्ता रहती है कि वह कहीं छूट कर गिर न जाय।

पहला भाव मार्जार-न्याय है। इसमें भक्त अपने आपको भगवान के भरोसे छोड़ देता है और तब भगवान "योग क्षेम वहाम्यहम्" की घोषणा करते हुए उसकी रक्षा करते हैं।

दूसरा भाव मर्कट-न्याय है। भक्त पाने की चेष्टा करता है। अपनी शक्ति पर भरोसा रखता है।

लौकिक पक्ष में गोपियाँ

धार्मिक तथा आध्यात्मिक पक्ष में गोपियों की स्थिति चाहे जो कुछ रही हो परन्तु सांसारिक दृष्टिकोण से वे गोकुल या वृन्दावन के गोपों की पत्नियाँ हैं, जो श्रीकृष्ण को अत्यधिक स्नेह करती हैं। भावना जिसकी जैसी रही होगी उसने उसी प्रकार से श्रीकृष्ण को प्यार किया होगा।[1]

पर्याप्त अनुसंधान के पश्चात् हम इस निर्णय पर आते हैं कि प्राचीन काल में नरेश को ईश्वर का अंश माना जाता था और उसी भाव से उसमें पूज्य बुद्धि रखते थे।[2] नंद गोकुल के राजा ही थे। इसके अतिरिक्त उनके स्नेह और सौहार्द्र से समस्त प्रजा-जन अत्यन्त सन्तुष्ट और निर्भय थे। स्वभावतः उनका प्रतिदानात्मक प्रेम अवश्यम्भावी था। नंद को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। समस्त प्रजा का हर्षातिरेक से नाच उठना भी स्वाभाविक था। फिर बालक भी ऐसा कि राजकुमार होते हुए भी घर-घर दही माखन खाता फिरे। गोपियों का स्नेह संवर्धन होना कोई आश्चर्यजनक नहीं माना जा सकता। नारियों में स्वभावतः ही वात्सल्य का आधिक्य होता है, इसलिए श्रीकृष्ण यदि गोपियों की दृष्टि में आकर्षक प्रमाणित हुए तो कोई अनोखी बात नहीं है।

परन्तु आज का बुद्धिमानी मानव प्रश्न करता है कि लौकिक-पक्ष में गोपियों को क्या माना जाय ? भौतिक धरातल पर उनकी स्थिति क्या है ? क्या गोपियों को परकीया माना जा सकता है ?

हमारा विनम्र निवेदन है कि बुद्धि की कसौटी पर कसने की आकांक्षा तिरस्कार के योग्य नहीं है। इसलिए हम गोपियों के लौकिक स्वरूप का विवेचन भी कर लेना

---

१. यो यथा मांम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। गी० अ०
जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।
रामायण, बालकांड

२. नराणांच नराधिपः। गीता।

चाहते हैं। यह सांसारिक नियम है कि हम अपने रक्षक के प्रति स्नेहशील तथा आर्द्र हृदय हो ही जाते हैं। उदाहरण के लिये महात्मा मोहनदास कर्मचंद गांधी से कितने लोगों ने साक्षात्कार किया होगा, परन्तु भारतीय स्वतन्त्रता के हेतु प्राणोत्सर्ग करने वाले इस महान्-व्यक्ति की जयजयकार से कोटि-कोटि कंठ पावन होते थे। ऐसा क्यों? सर्वसाधारण उनको मुक्ति-दूत मानता था और उनके प्रति जनता के हृदय में अगाध विश्वास था। कंस के दारुण अनाचार और अत्याचार से मुक्ति पाने के मंत्र-दृष्टा, इन्द्र के द्वारा आयोजित-नियोजित पशु वलि से निवृत्ति कराने वाले, गो-वंश की वृद्धि करने वाले श्रीकृष्ण के प्रति यदि व्रजवासियों का अपार स्नेह रहा हो तो क्या अनोखी बात है?

प्रश्न रह जाता है गोपियों का। वे भी श्रीकृष्ण को समादृत करती थीं और उनके इंगित पर नाचती थीं, घर-बार छोड़कर चल देती थीं। क्या उनके इस गृह-त्याग में इन्द्रिय लोलुपता थी।

आज का व्यक्ति इस प्रश्न के उत्तर में 'हाँ' कहने में संकोच नहीं करेगा, क्योंकि वर्तमान काल में रोटी-कपड़े से भी प्रथम यौन-समस्या (Sex Problem) है। बुद्धिवादी प्राणी के मन-मस्तिष्क में श्री फ्रायड की कृपा से केवल यही एक विषय शेष रह गया है।

थोड़ा गहरे पैठने पर हमें ज्ञात होगा कि लगभग ग्यारह वर्ष की अवस्था में श्रीकृष्ण ने व्रज-धाम को छोड़ दिया और उसके पश्चात् वे कभी वापिस नहीं आये। जैसा कि दूसरे अध्याय में लिखा जा चुका है, श्रीराधा भी श्रीकृष्ण से छब्बीस वर्ष बड़ी प्रमाणित होती हैं, इस आधार पर यह मानना युक्ति-सगत ही होगा कि गोपियों की अवस्था श्रीकृष्ण से कई गुना बड़ी थी। उनके हृदय में यह अभिलाषा रही हो कि अगले जन्म में उनको श्रीकृष्ण जैसा पति मिले—तो संभव है, परन्तु उन्होंने परकीया बनकर श्रीकृष्ण के साथ बिहार-व्यवहार किया हो यह कभी संभव नहीं है। श्री भागवत में जहाँ रास-मण्डल में एकत्रित गोपियों का उल्लेख है श्रीकृष्ण ने स्वयं पातिव्रत धर्म का उपदेश दिया है। अतएव श्रीकृष्ण के विषय में व्यभिचारात्मक विचार को प्रश्रय देना भ्रमपूर्ण तथा अन्याय-मूलक ही होगा।

उदाहरणस्वरूप, गांधी जी के साहचर्य में कैसी-कैसी महिलाओं ने, अपना सर्वस्व त्याग कर, उनके निर्धारित पथ का अनुसरण किया। यहाँ तक कि विदेशी

वहिन स्लेड तो मीरा वहिन के रूप में बदल गई। [१] तो क्या इन सबका प्रेम स्थूल था ? हमारी तुच्छ बुद्धि में उनके करुण-सुंदर हृदय में जिस सात्विक और शाश्वत स्नेह का उदय हुआ वह दिव्य था, अलौकिक था और स्वर्गीय था। श्रीकृष्ण के प्रति-गोपियों के मन-मानस में नितान्त सात्विक-स्नेह-सागर लहराता था।

गोपियों के विषय में स्वकीया और परकीया का प्रश्न ही नहीं उठता। वे तो पतिव्रता थीं। उनके मन में किसी अन्य पुरुप की कल्पना भी नहीं थी। उनमें मर्यादा का अभाव नहीं था। यदि उनकी उपासना परकीया भाव की ही होती तो यमुना पार करके मथुरा तक चले जाना कोई कठिन कार्य नहीं था, परन्तु गोपियों में से एक भी उस ओर आकर्षित नहीं हुई। कारण यही है कि विशुद्ध प्रेम में प्रतिदान को स्थान नहीं होता। प्रेमी देता ही देता है लेता कुछ नहीं। माँगने का उसका स्वभाव ही नहीं होता।

नारी तो सदा-सर्वदा से दानी रही है। बालकाल में पुत्री के रूप में प्यार का दान देती है, युवावस्था में पत्नी बनकर स्नेह, सन्तान और सौख्य का दान देती है, प्रौढ़ावस्था में सहचरी के रूप में ज्ञान, मान और सहानुभूति का दान देती है तथा वृद्धा-वस्था में अनुभव के आधार पर वात्सल्य प्रेम का दान देती है। नारी के यह सद्गुण आज भी सुरक्षित हैं।

हम यदि अपना दृष्टिकोण थोड़ा-सा ही परिवर्तित करलें तो ऐसी समस्याओं का अन्त स्वयं हो सकता है। हम यह क्यों नहीं मानते कि गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रति माता और बहिनों के रूप को लेकर आसक्त थीं—उनके मन में वासना नहीं थी। मोह हो तो हम मान लेंगे, क्योंकि माता-बहिन के हृदय में उसकी संभावना प्राकृतिक है। इसी कारण गोपियों ने श्रीकृष्ण को मथुरा जाने से रोका होगा।

---

१. मदखूलये गवरमिन्ट अकबर अगर न होता।
मुझको भी देखते तुम गाँधी की गोपियों में।
बुद्धू मियाँ भी हजरते गाँधी के साथ हैं।
गो गर्द राह हैं मगर आँधी के साथ हैं॥
—महाकवि अकबर

जो भी हो इतना तो निश्चित है कि गोपियों के मन में वासना का विकार नहीं था।

अतएव भौतिक-धरातल पर उनका प्रेम अत्यन्त सात्विक सिद्ध होता है और उनको स्थिति अत्यन्त पवित्र तथा महत्त्वपूर्ण प्रमाणित होती है।

इस प्रसंग में, हमारा निवेदन है कि हम रीतिकालीन कवियों की कल्पनाओं को किसी भी प्रकार के प्रमाण का आधारभूत मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। उनका लक्ष्य तो मांसल-शृंगार का चित्रण और इस प्रकार अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करना ही रहा है।

———

पुराणों में गोपियाँ

महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने पुराणों का क्रम इस प्रकार रखा है—ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शैवपुराण अथवा वायु पुराण, भागवत पुराण, नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, लिंग पुराण, वाराह पुराण, स्कन्द पुराण, वामन पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, गरुड़ पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण। चतुर्वेदीजी ने लिखा है कि पुराणों का एक नियत क्रम है। सप्तम पुराण कहने से 'मार्कण्डेयपुराण' का ही बोध होगा। गरुड़ पुराण सत्रहवाँ पुराण ही कहलायेगा, परन्तु ऐसा क्यों है, इसका कोई प्रमाण विद्वान् लेखक ने नहीं दिया है।[1]

जो भी हो, हम इसी क्रम से विचार करना उचित समझते हैं।

१. ब्रह्मपुराण—इस पुराण में गोपियों के द्वारा रासलीला में भाग लेने का विवरण है :—"श्रीकृष्ण ने अत्यन्त मधुर स्वर में संगीत की मधुर तान छेड़ दी, जो वनिताओं को बहुत ही प्रिय थी। गीत की मनोरम ध्वनि सुनकर गोपियाँ घर छोड़कर निकल पड़ीं और बड़ी उतावली के साथ उस स्थान पर आ पहुँची, जहाँ मधुसूदन मुरली बजा रहे थे।" इससे आगे रास का वर्णन है जो संक्षिप्त तथा सुन्दर हैं। अगले अध्याय में श्रीकृष्ण के मथुरा पधारने पर गोपियों की व्याकुलता का सुन्दर चित्रण है।[2]

२. पद्मपुराण—के पातालखंड नामक ६९-७० अध्याय में श्रीकृष्ण के पार्षद-गणों का निरूपण करने के पश्चात् यह बताया गया है कि ऋषिवरों को गोपी-रूप कैसे प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् राधा का माहात्म्य निरूपण करते हुए गोपिकागणों के मध्य में स्थित श्रीकृष्ण के स्वरूप का वर्णन है। इस पुराण में श्रीकृष्ण को परब्रह्म माना गया है।[3]

३. विष्णु पुराण—इसमें १२६ अध्याय हैं। यह भागवत से छोटा है। इसमें प्रधान रूप से वैष्णव धर्म का विवेचन है। इसके छह अंश हैं और पाँचवें अंश में,

१. चतुर्वेदी जी का लेख 'पुराणों का क्रम और पद्मपुराण'-कल्याण वर्ष १९ संख्या १ अक्टूबर १९४४ ई० पृष्ठ ९

२. कल्याण ब्रह्म पुराणाँक पृष्ठ ५००

३. पद्मपुराण (आनंदाश्रम संस्करण) १८९४ ई० पृष्ठ ५८३-८७

साहित्यिक ढँग से, श्रीकृष्ण-चरित्र प्रस्तुत किया गया है अतएव गोपियों का विस्तृत विवरण नहीं है।

४. वायु पुराण—इस पुराण में ११२ अध्याय हैं जिनमें विभिन्न वंशों को उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। ९६ वें अध्याय में कृष्णवंश का कीर्तन उपस्थित किया गया है। गोपी आदि का कोई वर्णन नहीं है।[1]

५. भागवत—यों तो अन्य अवतारों की कथा भी इस पुराण में दी गई है परन्तु मुख्य रूप से श्रीकृष्ण-चरित्र की ही प्रधानता है। यह अपने ढंग का अद्वितीय पुराण है। साहित्यिकता, सरसता और मौलिकता इसमें प्रचुर मात्रा में है। इसकी टीकाएँ भी बहुत हुई हैं।

इसमें बारह स्कंध हैं। दसवें स्कन्ध में केवल कृष्ण-चरित्र ही वर्णित है। यह सबसे बड़ा स्कंध है। लगभग समस्त पुराण का चतुर्थांश है। इसके भी दो भाग हैं। पहले में ४९ अध्याय हैं और दूसरे में ९० हैं। इसमें रासलीला का वर्णन भी विस्तृत रूप से किया गया है। आलोचक मानते हैं कि इसकी भाषा बड़ी आकर्षक और मधुर है।[2]

इसके ३१ वें अध्याय का नाम ही गोपी-गीत है, जिसमें गोपियों ने श्रीकृष्ण की महत्ता के गीत गाये हैं।[3] श्रीकृष्ण को यशोदानन्दन ही नही वरन् विश्वात्मा कहा गया है।

इस पुराण में गोपियों का, रासलीला का तथा अन्यान्य क्रीड़ाओं का विशद वर्णन किया गया है।[4]

६ नारद पुराण—भक्ति की महिमा और व्याख्या के साथ-साथ श्रीकृष्ण की शक्तियों का वर्णन किया गया है।[5]

---

१. वायुपुराण (आनन्दाश्रम) १९०५ ई० पृष्ठ ३४५-५६.

२. वेदाः श्रीकृष्ण वाक्यानि व्यास सूत्राणि चैवहि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥
(दि ग्लिस पृष्ठ २३१)

३. न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिल देहिनामन्तरात्महृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख! उदेयिवान् सात्वतां कुले॥
भागवत अ० ३१ श्लोक ४

४. श्रीमद्भागवत (गीता-प्रेस गोरखपुर संस्कर०)

५. आनन्दाश्रम प्रेस।

७ मार्कण्डेय पुराण—गोपियों के रास-विलास का अत्यन्त सुष्ठु तथा सुन्दर चित्रण दिया गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के समान इसमें नग्न तथा अश्लील वर्णन नहीं है।[१]

८ अग्निपुराण—विस्तृत रूप से ज्ञान-विज्ञान की चर्चा ही इस पुराण का प्रधान विषय है। इसलिए इसमें श्रीकृष्ण-चरित्र विस्तार के साथ नहीं दिया गया है। गोपियों का भी ऐसा ही संक्षिप्त परिचय दिया गया है।[२]

९ भविष्य पुराण—इसमें भविष्य-वाणियों की ही प्रधानता है। गोपियों का कोई उल्लेख नहीं है।

१० ब्रह्मवैवर्त पुराण—इस पुराण के अन्तर्गत राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण का अत्यन्त विशद वर्णन है। श्रृंगारिकता अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। भागवत में जो कुछ थोड़ा सा वर्णन है उसका अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण इस पुराण में प्राप्त है। रास-लीला का जैसा चित्र उपस्थित किया गया है वह 'कामशास्त्र' का स्थान सहज में प्राप्त कर सकता है।[३]

११ लिंग पुराण—गोपियों का वर्णन नहीं है।

१२ बाराह पुराण—इसमें भी गोपियों का उल्लेख नहीं है।

१३ स्कन्दपुराण—श्रीकृष्ण कीर्तन की महिमा, उनके बाल स्वरूप का ध्यान आदि का वर्णन है तथा श्रीमद्भागवत माहात्म्य के अन्तर्गत यमुना और श्रीकृष्ण-पत्नियों का संवाद भी दिया गया है। यमराज के यहाँ से मृत गुरु-पुत्रों का पुनः कृष्ण द्वारा लाने का उल्लेख है; परन्तु गोपियों का कोई विवरण नहीं है।

१४ वामन पुराण—भगवान के अवतारों का वर्णन तो है; परन्तु गोपियों का कोई विशेष उल्लेख नहीं है।

१५ कूर्म पुराण—इसमें अति संक्षेप से श्रीकृष्ण का उल्लेख किया गया है। गोपियों का उल्लेख नहीं है।[४]

---

१. मार्कण्डेय पुराण (गीता प्रेस गोरखपुर)
२. "गोपीभिरनुरक्ताभिः क्रीडिताभिर्निरीक्षितः" अग्निपुराण अध्याय १२ श्लोक २४। आनन्दाश्रम संस्करण पृष्ठ १५। १९०० ई०
३. आनन्दाश्रम संस्करण।
४. कूर्मपुराण नीलमणि मुखोपाध्याय द्वारा सम्पादित। कलकत्ता। १८९१ ई० पृष्ठ २६२-७०।

१६ मत्स्य पुराण—यह पुराण २९१ अध्यायों में विभाजित है। ४५ वें तथा ४६ वें अध्यायों में श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कतिपय सूचनाएँ दी गयी हैं। गोपियों का कोई विवरण नहीं है।[1]

१७ गरुड़ पुराण—इस पुराण में कथा-प्रसंग से सम्बद्ध श्रीकृष्ण की शक्तियों का वर्णन है।

१८ ब्रह्माण्डपुराण—इसमें भी गोपियों का उल्लेख नहीं है।

इनके अतिरिक्त महाभारत में गोपियों का थोड़ा-सा वर्णन है। सूर्यग्रहण के अवसर पर उनकी भेंट श्रीकृष्ण से होती है। श्रीकृष्ण ने उनको कतिपय उपदेश भी दिये है।[2]

हरिवंश पुराण में रासलीला के विषय में जो गोपियों का वर्णन है वह अति संक्षिप्त है।[3]

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि अधिकांश पुराणों में गोपियों का कुछ न कुछ और किसी न किसी रूप में वर्णन किया गया है।

---

१. मत्स्यपुराण (आनन्दाश्रम संस्करण) १९०७ ई०।

२. महाभारत (गीताप्रेस, गोरखपुर)।

3. The maidens therefore gazed at him with fixed eyes keeping Krishna in thc center they danced round him Harivansh chap. Lxxvi—Ed. by D. N. Bose pp. 208.

गोपी विहार का औचित्यानौचित्य

श्रीमद्भागवत की अपेक्षा अन्य पुराणों में गोपियों के विषय में जो भी कहा गया है वह अत्यन्त अल्प-स्वल्प है। इस कारण, हम इस विषय पर भागवत के वर्णन को ही प्रधानता प्रदान करते हुए आगे बढ़ना श्रेयस्कर मानते हैं।

भागवत के दशम् स्कंध में विशेषरूप से श्रीकृष्ण-चरित्र का समावेश है। इस स्कंध में उनके जन्म से लेकर उनके लीलाविहार तक का वर्णन है। इस स्कंध के पाँचवे अध्याय में गोकुल में श्रीकृष्ण के जन्म-महोत्सव का विवरण दिया गया है। इसी स्थान पर सबसे पहले गोपियों का नाम आया है। यशोदाजी के पुत्र हुआ सुन गोपियों को बड़ा आनन्द हुआ और वे सुन्दर वस्त्र, आभूषण और अंजनादि से अपना श्रृंगार करने लगीं। उनके मुख-कमल नवकुंकुमरूप केसर से सुशोभित थे, वे नाना प्रकार की भेंटें लेकर शीघ्रता से यशोदा के घर चलीं।······नन्द जी के यहाँ पहुँच कर वे 'बालक चिरंजीव हो' ऐसा कह कर आशीर्वाद देती हैं।[1] यहीं से गोपियों का वर्णन आरम्भ होता है। पूतना-वध के अवसर पर गोपियाँ घबरा कर झटपट आ जाती हैं और गौ की पूँछ घुमा कर श्रीकृष्ण के अंगों की सब प्रकार से रक्षा करती हैं और अंगन्यास तथा बीजन्यास भी करती हैं। शकट-भंजन, तृणावर्त-वध आदि अनेकों अवसरों पर गोपियों के द्वारा श्रीकृष्ण की रक्षा-याचना की जाती है। वे उनकी कल्याण-कामना में रत दिखाई पड़ती हैं। बाललीला देखकर गोपियाँ अत्यन्त आनन्दित होती हैं। तनिक बड़े होने पर वे कृष्ण-विषयक उपालंभ देने को आने लगती हैं।[2] नटखट श्रीकृष्ण के माखन-चाखन का उलाहना देने गोपियाँ

---

१. गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम्।
आत्मानं भूषयाञ्चक्रुर्वस्त्राकल्पांजनादिभिः ।।९।।
"नव कुंकुमकिंजल्क मुखपंकजभूतयः ।१०।"
"ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं पाहीति बालके।"
पाठान्तर पाहीति के स्थान पर जीवेति भी हैं। १०।५।१२।

२. वत्सान्मुञ्चन्क्वचिदसमये क्रोशसंजातहासः ।१०।८।२९

आतों हैं।[1] कालिय-दमन के अवसर पर गोपियों का सात्विक-शोक दिखाई पड़ता है।[2]

२१ वें अध्याय का नाम "वेणु गीत" है। इसके आरम्भ में शरद् काल का वर्णन है, पश्चात् गोपियों के द्वारा श्रीकृष्ण के परम आकर्षक रूप-स्वरूप का गुण-गायन है। एक गोपी ने कहा, "अरी गोपियो ! इस बाँसुरी ने न जाने ऐसा कौन पुण्य कर्म किया है जो यह गोपियों का भोग्य भगवान का अधरामृत स्वयं पीकर दूसरों के लिए केवल बचा-खुचा छोड़ देती है। (१०।२१।६) इसके पश्चात् चीरहरण-लीला है। गोवर्धन-धारण के समय भी गोप-गोपियों की रक्षा का वर्णन है।

२६ वें अध्याय में रामलीला का आरम्भ हो जाता है। ३० वें अध्याय में श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं, गोपियाँ उनको खोजती हैं। ३१ वें अध्याय में 'गोपिका-गीत' नाम से गोपियाँ अपना विरह-निवेदन करती हैं। ३२ वें अध्याय में श्रीकृष्ण प्रकट हो जाते हैं और गोपियों को धीरज प्रदान करते हैं। ३३ वें अध्याय में महारास का वर्णन है।

शरद् ऋतु की रमणीय रात्रि में, मल्लिका के कुसुम खिले हुए देखकर योगमाया का आश्रय लेकर श्रीकृष्ण ने रमण करने की इच्छा की और व्रजसुन्दरियों के हृदयों को हरने वाला मधुर गान किया।[3] गोपियाँ उठ-उठ कर चल देती हैं। तब श्रीकृष्ण उनको समीपस्थ देखकर कहते हैं—"हे सतियो ! अब देरी न करो, तुरन्त ही व्रज को जाओ और अपने पतियों की सेवा करो। हे कल्याणियो ! पति और उसके बन्धुओं की निष्कपट भाव से सेवा करना तथा सन्तान का पालन-पोषण करना ही स्त्रियों का परम धर्म है। जिन स्त्रियों को शुभ गति पाने की इच्छा हो वे पति का त्याग न करें। कुलांगनाओं के लिए पर-सेवा सर्वत्र निन्दनीय है। उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती तथा संसार में उनका अपयश होता है और (यदि तुम्हें मेरे अनन्य प्रेम की इच्छा है तो भी) मेरा गुण-श्रवण, दर्शन, ध्यान और नाम-कीर्तन करने से

---

१. भागवत १० स्कंध, अ० ८

२. भागवत १० स्कंध, अ० १४, १५, १६।

३. भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमाया मुपाश्रिताः॥
भागवत स्कंध १०।२६।१.

मुझमें जैसा प्रेम होता है, वैसा मेरे पास रहने से नहीं होता है, इसलिये तुम अपने घरों को लौट जाओ।"[१]

"प्यारे कृष्ण के लिये जिन्होंने सम्पूर्ण विषय छोड़ दिये हैं, वे अनुरागिणी गोपियाँ रोने के कारण आँसुओं से भरे हुए नेत्रों को पोंछ कर प्रणय-कोप से गद्गद् हुई वाणी से, कहने लगीं:—"हे कृष्ण! धर्म को जानने वाले! आपने जो कहा कि "पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवों की सेवा करना ही स्त्रियों का परम धर्म है" सो उपदेश के विषयभूत आप ईश्वर में ही हमारे ये सब भाव इसी प्रकार से हों, क्योंकि समस्त देह-धारियों के प्रियतम, बन्धु और आत्मा आप ही हैं।...हम आपका ध्यान धर कर आपके चरणों का सान्निध्य प्राप्त करेंगी।"

आगे चलकर भागवतकार ने लिखा है कि कृष्ण गोपियों के साथ रमण करने लगे और यमुना-तट पर गोपियों के साथ क्रीड़ा की।

'रासलीला' के सम्बन्ध में हम अगले अनुच्छेद में प्रकाश डालेंगे, यहाँ तो हमें यह देखना है कि सांसारिक-स्तर पर गोपी-विहार उचित है या अनुचित है।

श्रीकृष्ण के हृदय में वासनामयी अनुरक्ति होती तो वे कभी भी पातिव्रत धर्म का उपदेश नहीं देते। साथ ही, गोपियों का स्नेह भी सात्विक है, उसमें विलास-वासना की गंध भी नहीं है, तभी उन्होंने कहा है कि हमने समस्त विषयों को छोड़कर ही आपसे स्नेह-सम्बन्ध स्थापित किया है। इसके अतिरिक्त गोपियों ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे किन-किन भावनाओं से श्रीकृष्ण को प्रेम करती हैं। श्रीकृष्ण उनके प्रियतम हैं, पुत्र हैं, बन्धु हैं और बान्धव हैं।[२] इस भावना से स्नेह करने वाली गोपियाँ कलंकिनी कैसे कही जा सकती हैं।

---

१. भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मोह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥२४
अस्वर्ग्यमयशस्यंच फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सित च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियः॥२६॥
श्रवणदर्शनाद्धयानामयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥२७॥

२. यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदात्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥ १०। २६। ३२

३२ वें अध्याय में गोपियों ने श्रीकृष्ण से पूछा कि कुछ लोग तो अपने प्रेमियों से ही प्रेम करते हैं, कुछ उनके विपरीप प्रेम न करने वालों से भी प्रेम करते हैं और कोई दोनों ही से प्रीति नहीं करते। इन तीनों में से कौनसा उत्तम है ?[1]

श्रीकृष्ण ने कहा—"सखियो ! जो लोग आपस में एक दूसरे को प्यार करते हैं, वे केवल स्वार्थ के लिये ही उद्योग करते हैं। उनमें सौहार्द्र नहीं होता, धर्म का भाव भी नहीं रहना, उनका स्नेह स्वार्थ के लिये ही होता है, उसका और कोई हेतु नहीं होता। हे सुन्दरियो। जो सेवा न करने वालों से भी स्नेह करते है, वे कृपालु और माता-पिता के समान स्नेही होते हैं। इनके व्यवहार में निर्दोष धर्म और सौहार्द्र दोनों का ही समावेश होता है। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो अपने को न भजने वालों की तो बात ही क्या, भजने वालों को भी नहीं भजते। वे पूर्ण काम, आत्माराम, कृतघ्न और गुरुद्रोही चार प्रकार के होते हैं।"

निस्वार्थ स्नेही को श्रीकृष्ण ने सर्वोपरि माना और उसी भावना से गोपियों से स्नेह की याचना की।

कुछ आलोचकों को दो शब्द भ्रम में डाल देते हैं, रमण और क्रीड़ा। इसके अर्थ सांसारिक अथवा इन्द्रिय विषयक सुख से ही लिये जाते रहे हैं। राजा परीक्षित ने भी ऐसा ही समझ कर शुकदेव जी से पूछा कि धर्म-मर्यादा के वक्ता, रचयिता और रक्षक होकर भी उन्होंने पर-स्त्री-गमन जैसा विरुद्धाचरण क्यों किया ? श्री शुकदेव जी ने इसके उत्तर में "समरथ को नहिं दोष गुसाईं। रवि, पावक सुरसरि की नाईं।" कहकर आध्यात्मिक समाधान कर दिया; परन्तु आज का बुद्धिवादी व्यक्ति इस स्पष्टीकरण से सतुष्ट नहीं हो पाता है।[2]

रमण शब्द की उत्पत्ति रम् धातु से हुई है। इसका अर्थ है सुन्दर। काव्य में कहा गया है कि "रमणीयार्थक प्रतिपादकः शब्द" ही काव्य है। इसका तात्पर्य है कि मन जहाँ रमे, आनंद प्राप्त करे। रमण का अर्थ सुन्दर, प्रिय, मनोहर ही है। इसी प्रकार क्रीड़ा का अर्थ खेल कौतुक, तमाशा, मोदकारी लीला, खेल-कूद होता है।[3] भाषा विज्ञान के अनुसार कुछ शब्दों का अर्थापकर्ष भी हो जाता है जैसे गुरु शब्द से आचार्य का ही बोध होता है परन्तु 'आप बड़े गुरु हैं" ऐसा कहने से व्यक्ति की धूर्तता

---

१. भागवत स्कंध १० अ० ३२ श्लोक १६-२०

२. भाषा शब्द कोष डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' तथा संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर" पृष्ठ १५६३ तथा पृष्ठ ९४५। पृष्ठ ५१९ तथा पृष्ठ २६७

३. भागवत स्कंध १० अ० ३३ श्लोक २७-२९ तथा ३०-४०

की ओर संकेत होता है। इसी न्याय के अनुसार वर्तमान में इन दोनों शब्दों का अर्थाप-कर्ष होने से, इनका प्रयोग भ्रम-वश इन्द्रिय-सुख के हेतु किया जाता है।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं और कई प्रकरणों से स्पष्ट भी है कि गोपियाँ श्रीकृष्ण से अधिक आयु वाली थीं, और उनमें से अधिकांश पुत्र या बन्धु भाव से स्नेह करतीं थीं, अतएव उनके सम्बन्ध में दुराचार की कल्पना की संभावना ही नहीं हो सकती है।

प्रश्न रह जाता है उन गोपियों का जो श्रीकृष्ण में पति-भाव से स्नेह रखती थीं। इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्रीकृष्ण का निरन्तर चिन्तन करती थीं और उनके प्रत्येक व्यवहार को प्रेम की दृष्टि से देखती थीं। पर-पुरुष मान कर उपासना नहीं करती थीं और नहीं उपपति मानती थीं। उनकी आराधना का परकीया-भावना से परिपूरित होना पृथक बात है। "योषा जारमिवः प्रियम्" उपनिषद् में ऐसा कहा गया है कि भगवान को परकीया भाव से भजो। यह एक उदाहरण है कि जैसे पर-पुरुष और परकीया नायिका के हृदय सदैव एक-दूसरे के प्रति अनुरक्त रहते हैं वैसे ही भगवान से स्नेह-सम्वर्द्धन करो। इसी का नाम परकीया भाव है।

श्रीमदभागवत् में कहीं भी अंग-संग की बात नहीं कही गई है। किसी अन्य पुराण में भी ऐसा वर्णन नहीं है। ब्रह्मवैवर्तपुराण को हमने अप्रामाणिक माना हैं। ऐसी स्थिति में 'जार-भाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता है।

कवियों ने अपनी कल्पना-प्रसूत उद्‌भावनाओं के द्वारा जो कुछ वर्णन-चित्रण किया है, वह इस दशा में प्रमाण नहीं माना जा सकता है। कल्पना-विहारी कवि का सत्य अनूठा होता है, उसमें तात्विकता का अंश अति-अल्प होता है। इसलिए सूरदास आदि ने जो गोपी-विहार का वर्णन किया है वह सीमा का अतिक्रमण करने वाला सिद्ध हो तो भी उससे कुछ होना-जाना नहीं है, क्योंकि पुराण-प्रमाण के सामने काव्योदा-हरण की कोई महत्ता नहीं होती है।

ऊपर हमने परीक्षित के शब्दों में शंका प्रस्तुत की है कि श्रीकृष्ण के विषय में 'परस्त्री-गमन' की बात उठाई गई। आज का घोर बुद्धिवादी ऐसा ही कह सकता है। हमने उपर्युक्त समाधान के द्वारा इस शंका का निराकरण करने की चेष्टा की है। पुनः इस विषय में, हम एक प्रबल-प्रमाण को उद्धृत करने का लोभ-संवरण नहीं कर पा रहे है। चेदि-नरेश शिशुपाल श्रीकृष्ण का समकालीन था और स्पष्ट ही कट्टर विरोधी भी। महाराज युधिष्ठिर ने जब राजसूय-यज्ञ किया तो उसमें छोटे-बड़े सभी आमन्त्रित, निमंत्रित किये गये। प्रश्न यह हुआ कि 'अग्रपूजा' के योग्य कौन व्यक्ति है? सभी ने

श्रीकृष्ण का समर्थन किया और तब सबसे पहले श्रीकृष्ण की पूजा की गई। दमघोष-नन्दन शिशुपाल श्रीकृष्ण के इस सम्मान को सहन नहीं कर सका और उसने भर्त्सना करते हुए श्रीकृष्ण के विषय में अनेकों अपशब्दों का प्रयोग किया। उनको वर्ण, आश्रम और कुल से पृथक, सारे धर्मों से वहिष्कृत, स्वेच्छाचारी और गुणहीन बताया। इतना सब कुछ होते हुए भी शिशुपाल ने श्रीकृष्ण को 'परस्त्रीगामी' का दूषण नहीं लगाया--ऐसा क्यों ? शिशुपाल जैसा भीषण शत्रु इतने बड़े कलंक को कैसे गुप्त रहने देता ? इससे यही प्रमाणित है कि श्रीकृष्ण न तो दुराचारी ही थे और न परस्त्रीगामी ही थे।

इसलिए लौकिक-पक्ष में श्रीकृष्ण का गोपी-विहार अनुचित नहीं कहा जा सकता है। गुजरात का 'गरवा नृत्य' प्रसिद्ध हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों नाचते गाते हैं। पाश्चात्य देशों में इसी का अनुकरण 'बॉलडान्स' में होता है। परन्तु ऐसे नृत्यों या रासों में कामुकता का अंश 'नहीं' के बराबर ही होता है ।

रासलीला और गोपियाँ

लीला का साधारण अर्थ है खेल। भगवान की लीला का नाम ही सृष्टि है। सृष्टि अर्थात् रचना। व्यापक रूप में हरिलीला के दो पार्श्व हैं, एक तो सृजन और दूसरा ध्वंस। भगवान् की यह द्विविध लीला निरन्तर होती रहती है। आकर्षण और विकर्षण, विधि और निषेध, संयोग और वियोग, हास्य और रुदन, उषा और संध्या, उदय और अस्त, गुणा और भाग, हानि और लाभ, पितृयान और देवयान, उत्तरायण और दक्षिणायन, प्राण और रवि, दिवा और रात्रि, जड़ और चेतन, नर और नारी, मूर्त और अमूर्त सभी इसी द्वन्द्व के अनन्त रूप हैं।[1]

इसी युग्म के मूल में उसकी लीला अन्तर्निहित है। वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में उसकी एक झलक देखकर नाच उठता है। दार्शनिक मनन, अध्ययन और चिन्तन तथा निदिध्यासन से साक्षात्कार करता है। योगबल से योगी दर्शन पाता है तथा मधुमती भूमिका में कवि जिसका अनुभव करता है। इस युग्म की सत्ता सर्वत्र है। इसीलिए तो आचार्य वल्लभ ने नवनीतप्रिय के साथ नवनीतप्रिया को भी स्थापित किया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद में इस लीला को स्वाभाविक और शाश्वत कहा गया है— "स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च" कठिनाई यही है कि सामान्य प्राणियों के हेतु यह लीला स्थिर रूप से गृहीतव्य नहीं है। यह तो अन्तस्तल में जागृत होने वाली प्रभा है। सिद्ध इस विश्व में रहता हुआ भी जल में कमल के समान है। हम प्रभु में रहते हुए भी उससे पृथक हैं। सिद्ध सत से सम्बद्ध है, प्राणी असत से आबद्ध हैं। लेकिन श्रीकृष्ण की लीला दोनों ओर है। पहली ओर ऊर्जस्वित और आनन्द-स्वरूपातो

---

१. स मिथुनम् उत्पादयते रयिं च प्राणञ्च।
आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा ॥
रयिर्वा एवत सर्वं यन्मूर्तञ्चा मूर्तञ्च।
तस्मात् मूर्ति रेव रयिः।

प्रश्नोपनिषद १—४,५।

वह महाचिति, परम चैतन्य सत्ता सतत सजग बनी हुई लीलामय आनन्द की अभिव्यंजना कर रही है। संसार की अभिराम अभिव्यक्ति के मूल में यही आनन्द छाया हुआ है।[१] परन्तु मानव इसकी ओर देखता ही कहाँ है?[२]

लीला और आनन्द अन्योन्याश्रित हैं। श्रीकृष्ण लीला को पहचान लेना ही आनन्दधाम की प्राप्ति है।

द्यावा पृथिवी का एक युग्म है। नारी पुरुष का दूसरा युग्म है। पुरुष भी प्रकृति का युग्म है, जो अपनी शक्ति के शाथ क्रीड़ा करता रहता है। भक्तों के अनुसार यह पुरुष श्रीकृष्ण हैं और शक्ति राधा है। गीता के अनासक्तियोग के अनुसार मानव क्रीड़ा करने लगे तो वह प्रकृति-पुरुष की शाश्वत् क्रीड़ा में या महारास में भाग लेने का अधिकारी हो जाता है।

इस दृष्टिकोण से, श्रीभागवत् के अनुसार यह लीला शाश्वत है जो शरद-पूर्णिमा के ज्योत्स्ना-धवल वातावरण में वृन्दावन में होती है। गोपियाँ उनकी अंगीभूत हैं और गोपाल अंशभूत हैं। स्वयं श्रीकृष्ण, जो आनन्दमय है, इसमें सम्मिलित होकर उसका स्वाद लेना चाहते हैं। लीला का प्रयोजन तो केवल लीला ही होता है[३]।

वेद में कहा है कि षोड़शी प्रभु अर्थात् सोलह कलाओं वाला प्रजापति प्रजा के साथ रमण कर रहा हैं, खेल खेल रहा है।[४] प्रजा उसी के द्वारा उत्पन्न की हुई सृष्टि है। इस लीला की पृष्ठभूमि में इसकी इच्छा है, ईक्षण है, काम है।[५] महाचिति का यह महासौन्दर्य

---

१. कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
सभी होते इसमें अनुरक्त॥
—जयशंकर प्रसाद "कामायनी"

२. हम कामी, कुरूप, कायर क्या करें प्रभो तेरा आराधन?
हमें कहाँ अवकाश नाश से कैसे करें अमृतपथ साधन?
मुख तो तम की ओर कहाँ फिर वह प्रकाश की रेखा पावन?
डूब रहे दुख दैन्य सिन्धु में, कहाँ शान्ति सुख छत्र सुहावन?
—डा० मुंशीराम शर्मा, 'भक्ति तरंगिणी'

३. नहि लीलायां किंचित् प्रयोजनमस्ति। लीलाया एव प्रयोजनत्वात् आचार्य वल्लभ, ब्रह्मसूत्र अध्याय २ पाद १ सूत्र ३३ के अणुभाष्य पृष्ठ ६०१

४. प्रजापति प्रजयासथंरराणः यजुर्वेद ८।३६.

५. सईक्षत इमेनुलोकाः सृजा। एतरेय ३।१

अल्पज्ञ प्राणी की पहुँच में बहुत दूर है।[१] वह एक का प्रिय नहीं है अनेकों का प्रियतम है। परब्रह्म के ज्ञान और उनकी कृपा के विना कोई जीव कभी सुखी नहीं होता।[२] भक्त जब अपना शुद्ध हृदय उसे समर्पित करता है, उसका अनुग्रह तभी प्राप्त होता है। इसी का नाम पुष्टिमार्ग है। विषय-परित्याग से ही शरीर और मन निर्मल होते हैं। गोपियों ने स्वयं स्वीकार किया है कि विषयों में उनकी आसक्ति नहीं है। यही लीला जब पूर्णावस्था पर पहुँचती है तो महारास की संज्ञा प्राप्त कर लेती है। इसमें मंडलाकार नृत्य होता है। मध्य में श्रीकृष्ण होते हैं और उनके चारों ओर गोपिकाएँ होती हैं—महारास मे वे प्रत्येक गोपी के पास रहते हैं।[३] गीता में ऐसा ही कहा गया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग मुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च में न प्रणश्यति॥६। २९-३०.

पुराणों में भी श्रीकृष्ण की रासलीला का वर्णन है। यह बात दूसरी है कि किसी पुराण में अति सक्षेप से वर्णन है तो श्रीभागवत में विस्तृत विवरण है और ब्रह्मवैवर्त में तो अति विस्तार से किया गया है।

श्रीमद्भागवत में रासलीला से सम्बद्ध पांच अध्याय हैं। इनको पंच-प्राण कहा जाता है। इसके अनुसार गोपिकायें श्रीकृष्ण की निजस्वरूपभूता हैं और राधा आह्लादिनी शक्ति है।

रास शब्द की उत्पत्ति रस से हुई है और रस स्वयं भगवान श्रीकृष्ण हैं— "रसो वै सः" जिस दिव्य क्रीड़ा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में परिणत होकर अनन्त-अनन्त रस का समास्वादन करे, एक रस ही रस-समूह के रूप में प्रकट होकर स्वय ही आस्वाद्य, आस्वादक लीला, धाम और विभिन्न आलंम्बन एवं उद्दीपन के रूप में क्रीड़ा करे, उसका नाम रास है।

व्यक्ति युग की प्रधानता से प्रभावित होता है। प्राचीन युग अन्तर्हृष्टि प्रधान था परन्तु आधुनिक युग बहिर्दृष्टि को ही मान्यता देता है। यही कारण है कि आज तो भगवान् के अस्तित्व पर भी शंका होने लगी है।

---

१. शोभासिन्धु न अन्त लहीरी।
नन्दभवन भरिपूर उमँगि चलि, ब्रज की वीथिनु फिरति बहीरी॥
—सूरदास।

२. आर्याभिविनय पृष्ठ २०० महर्षि दयानंद।

३. माई री देखौ घन-घन अन्तर दामिनि। सूरदास।

भगवान का शरीर जन्म-मरण के बंधन में बद्ध जीव-शरीर की भांति जड़ नहीं होता है। जड़ की सत्ता केवल जीव की दृष्टि में होती है, भगवान की दृष्टि में नहीं होती। यह देह और यह देही है, इस प्रकार का विचार केवल प्रकृति के राज्य में ही होता है। अप्राकृत लोक में तो प्रकृति भी चिन्मय है। वहाँ अचित् की प्रतीति तो केवल चिद्विलास अर्थात् भगवान् की लीला की सिद्धि के लिए होती है। इसलिए जड़-राज्य में विहार करने वाला मस्तिष्क जब भगवान् की अप्राकृत लीलाओं के विषय में विचार-विमर्श करता है, तो अपने जड़त्व का आरोप करने लगता है और तभी विभ्रम के कारण दिव्य-लीला का रहस्य नहीं जान पाता। श्रीकृष्ण द्वारा सम्पन्न महारास परम उज्ज्वल रस का दिव्य प्रकाश है। इसका अनुभव ज्ञान अथवा विज्ञान जगत् में भी प्रकट नहीं होता। गोपी-भाव से उपासना करने वाले ही उसे अनुभव कर पाते हैं।

भगवान् परम रसमय और सच्चिदानन्द हैं। गोपियाँ भी वही हैं। साधना की भूमि पर उन्होंने विषय-विलास ही नहीं, जड़-शरीर का भी परित्याग कर दिया है। इसलिए उनकी दृष्टि में केवल चिन्मय श्रीकृष्ण ही शेष रह जाते है। उनकी स्थिति नितान्त अलौकिक हो जाती है। उनका स्थूल शरीर और उसकी स्मृति, अंग-संग की कल्पना सभी तिरोहित हो जाते हैं। देहात्म बुद्धि से मुक्त गोपियाँ श्रीकृष्ण-चरणों का सान्निध्य चाहतं हैं।[1] उनकी यह भावना दिव्य है।

श्रीकृष्ण का शरीर दिव्य है, चिदानन्दघन है। वे अजन्मा और अविनाशी हैं। उसमें देह-देही और त्रिविध-भेद (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) नहीं है। गोपियाँ उनकी स्वरूपभूता अतरंग-शक्तियाँ हैं। महारास भावराज्य की लीला है, जो स्थूल शरीर और स्थूल मन से बहुत दूर है आवरण-भंग करके अर्थात् चीरहरण करके जब भगवान् स्वीकृति देते हैं तब इसमें प्रवेश होता है।

जब साधक की साधना पूर्ण हो जाती है तब वह अपने प्रियतम के साथ विहार के लिए सन्नद्ध होता है। महारास से पूर्व गोपियों की साधना कसोटी पर कस ली गई। उनके विरह व्यथित गीतों से यह सिद्ध हो गया कि श्रीकृष्ण के प्रति उनका अनन्य स्नेह का भाव है, तब प्रकट होकर यशोदानन्दन ने महारास के पक्ष में स्वीकृति प्रदान करदी। गोपियों ने अपना मन श्रीकृष्ण के मन के साथ मिला दिया था अतएव सभी निस्संकल्प तथा कामना-रहित हो गई थीं।

अध्यात्मशास्त्र के अनुसार योग-सिद्धि प्राप्त साधारण योगी भी कायव्यूह के द्वारा एक साथ अनेकों शरीरों का निर्माण कर सकते हैं और अनेक स्थानों पर उपस्थित

---

१. "कृष्णं तदर्थं विनिवर्तित सर्वकामाः" भागवत १०।२९।३०

रह कर भिन्न-भिन्न कार्य सम्पादन कर सकते हैं। देवतागण एक ही समय अनेक स्थानों पर उपस्थित होकर अनेक यज्ञों में युगपत् आहुति स्वीकार कर सकते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने यदि अनेकों रूप धारण कर लिये तो कोई आश्चर्य नहीं है।

गोपियों के विषय में स्वकीया और परकीया का प्रश्न उठाया जाता है। परकीया तो इसलिये नहीं है कि उनका प्रेम वासना पूरित नहीं हैं। श्रीकृष्ण के प्रति उनका स्नेह "पर पुरुष" का प्रेम नहीं है। क्योंकि श्रीकृष्ण सभी के हैं, वे पराये नहीं हैं। गोपियों ने उनको पिता-पुत्र, बन्धु-बांधव सभी भावों से गृहीत किया है। ऐसी स्थिति में, जैसा कि हम अन्यत्र भी लिख चुके हैं "औपपत्य" और "पर-पुरुष" की कल्पना भी करना ठीक नहीं है। गोपियों के विषय में ऐसा प्रश्न उचित नहीं जान पड़ता है। श्रीकृष्ण आत्मा हैं, आत्माकार वृत्ति राधा हैं और गोपियाँ आत्माभिमुख वृत्तियाँ हैं।

नितान्त भौतिक दृष्टिकोण रखने वालों से हमारा निवेदन है कि इस समय श्रीकृष्ण की अवस्था केवल दस वर्ष के लगभग थी, आज भी, कहीं-कहीं तो दस वर्ष के बच्चे नंगे फिरते हैं, उनमें काम-वृत्ति की संभावना करना मात्र कल्पना ही कही जा सकती है। श्रीकृष्ण के सौन्दर्य, माधुर्य्य और ऐश्वर्य से आकृष्ट होकर ही गोप-गोपियाँ उनका पदानुसरण करते थे। श्रीकृष्ण भी उनका मनोरंजन विविध प्रकार से किया करते थे। रास या महारास भी एक ऐसा ही मनोरंजन था। वर्णन में जो काम, रति, क्रीड़ा और रमण शब्द आये हैं उनका वही अर्थ लिया जाना चाहिये जो उपनिषदों तथा गीता में लिया गया है। वस्तुतः गोपियों के निष्कपट प्रेम का नाम ही काम है और भगवान् श्रीकृष्ण का आत्मरमण अथवा उनकी दिव्य क्रीड़ा ही रति है।

उदाहरण के रूप में, जैसे सारे-जगत में सूर्य केन्द्र है, उसके आस-पास ग्रहों और उपग्रहों की मण्डली है जो अपने केन्द्र सूर्य के आकर्षणानुसार अपनी विशेष गति से गतिमान है। उनकी यह गति उनकी रासलीला है। यह क्रीड़ा शान्तिपूर्वक होती है। इसमें परस्पर टक्कर होना असंम्भ है। सौर-जगत् की भाँति ही मानव-हृदय में रासलीला होती रहती है। मनुष्य के शरीर में उसका हृदय केन्द्र है और विभिन्न अंग उससे शक्ति लाभ करते हुए, समस्त शरीर की रक्षार्थ अपना अपना कर्म करते हैं। इसी का नाम रासलीला है। इसी भाँति विश्व रूप वृत्त में श्रीकृष्ण परम केन्द्र है, प्रकृति इसकी परिधि है और जीवात्मागण नाना रेखाएँ हैं जो केन्द्र से निकल कर परिधि की ओर जाती हैं। इन जीवात्माओं का प्रकृति की ओर प्रयाण करना ही प्राकृतिक लीला है। इस प्राकृतिक चक्र में पड़कर जीवात्मागण अपने को तथा अपने

केन्द्र को विस्मृत कर बैठते हैं। ज्ञान के द्वारा उनकी आत्म-विस्मृति दूर हो जाती है और तब वे जीवात्मारूप सरल रेखाएँ परिधि को त्याग कर अपने केन्द्र के आकर्षण से आकृष्ट होकर केन्द्र की ओर ही आती हैं। इस प्रकार केन्द्रभिमुख होना ही तो आध्यात्मिक रासलीला है। यह रास-क्रीड़ा नित्य होती है। व्रज में इसे रसोत्सव कहा गया। गोपी रूप जीवात्मायें परमात्म रूप श्रीकृष्ण के साथ युक्त हुईं। आत्मा और परमात्मा का मिलन हुआ। इसे स्थूल शरीरों का अग-संग नहीं कहा जा सकता। इस रास-लीला में वही प्रवेश कर सकता है जिसने प्राकृतिक नानात्व की वासना और ममता तथा अपने अहंभावरूप पुरुष-भाव को सर्वथा छोड़ दिया है और भगवान के सामने आत्म-समर्पण कर दिया है। यही गोपी भाव हैं।

आधुनिक विज्ञान—पृथ्वी को अजा कहा जाता है। जो अजा है वह अविनाशी भी है। विज्ञान के दृष्टिकोण से भी मैटर को अविनश्वर (Indestrictible) मानते हैं। उसके दो नियम हैं।[1] शक्ति संरक्षण और द्रव्य संरक्षण भी इसी ओर इगित करते हैं। विज्ञान में द्रव की तीन अवस्थायें हैं, गैसीय, तरल और ठोस।[2] यही वायु, जल और पृथ्वी है। रासायनिक प्रक्रिया में निश्चित गुणिक तथा अन्योन्य निष्पत्ति के तीन नियम निश्चित किये गये हैं।[3] इससे यह प्रमाणित हुआ है कि द्रव्य अणुरूप है। इसे डाल्टन की "एटौमिक थ्योरी" के नाम से पुकारा जाता है।

वैज्ञानिक अणु से भी सूक्ष्म परमाणु को मानते हैं। भारतीय मान्यता भी यही रही है। वर्तमान रासायनिक विद्वानों ने ९४ मूल तत्त्व बताये हैं और उनको आठ परिवारों में रखा है। भौतिक शास्त्र के अनुसार प्रत्येक मूल तत्त्व विशिष्ट परमाणुओं का संघात है। परमाणु पहले अटूट माने जाते थे परन्तु अब टूटने वाले सिद्ध हो चुके हैं। तभी एटम तथा हाइड्रोजेन बमों का निर्माण सम्भव हुआ है। तोड़े जाने पर इन परमाणुओं के भीतर दो तत्त्व पाये जाते हैं।

केन्द्रीय-भाग—इसका निर्माण धनाणुओं (Protons) और उदासीन अणुओं (neutrons) से बनता हैं। यह आवश्यक भार (Mass) तथा व्यापृत शक्ति (charge) देते हैं।

---

१. Law of Conservation of energy and conservation of matter.

२. Gessic, Liquid and Solid.

३. Constant, multiple. and reciprocal.

केन्द्र वाह्यभाग—परमाणु विद्युत समा अवस्था (electro-neutral) में रहता है। उसके इस भाग में ऋणाणुओं (electrons) की संख्या धनाणुओं के समान अनुपात में रहती है।

ऐसा तत्त्व भी खोज लिया गया है जिसमें धनाणुओं की व्यापृत शक्ति (Positive charge) और ऋणाणुओं (electrons) के समान भार (Mass) होता है। इसे Positrons की संज्ञा दी गई हैं।

जिस प्रकार सौर-जगत (Solar-system) में सूर्य के चारों ओर ग्रह-उपग्रह भ्रमण करते हैं और इनकी कक्षा (orbit) निश्चित है, उसी प्रकार परमाणु-केन्द्र के चारों ओर (Nueclus) ऋणाणु (electrons) घूमते फिरते हैं और उनकी कक्षा भी निश्चित है।[1] यह अणु कभी दूसरे की कक्षा में अतिक्रमण नहीं करते अतएव टकराते भी नहीं हैं।

भारतीय साधकों ने कहा है—"यत्पिण्डे तत ब्रह्माण्डे" पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड के दर्शन करो। ८४ लाख योनियों की कल्पना केवल कल्पना ही नहीं रह जाती। मानव ही को ले लीजिये। एकरूपता होते हुए भी मानव के निर्माण तत्त्वों में बड़ी ही विभिन्नता है। परमाणुओं की आकृति समान होती है परन्तु उनके निर्माण तत्त्वों में विविधता है। हाइड्रोजेन परमाणु के केन्द्रीय भाग में एक धनाणु (Proton) और उसकी परिक्रमा करने वाला एक ग्रहीय ऋणाणु (Sodium) सोडियम परमाणु के केन्द्रीय भाग में ११ धनाणु और १२ उदासीनाणु (neutrons) तथा ११ ऋणाणु उसके चारों ओर चक्कर लगाने वाले होते हैं।

श्रीकृष्ण की रासलीला में गोप और गोपियाँ इसी कारण से समान नहीं है। राधा अत्यन्त सन्निकट है, विशाखा और चन्द्रावली नहीं हैं। जो गोपियों कात्यायकी व्रत रख रही हैं, वे बहुत ही दूर हैं।

यह शरीर भी ब्रह्माण्ड का ही लघु-रूप है। जो वहाँ है वह सब इसमें सूक्ष्मरूप में विद्यमान है।[2] सौर मंडल और परमाणु के समान ही शरीर की स्थिति है। जो

---

१. महानील उस परम व्योम के अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण करते हैं किसका संधान ?

—जयशंकर प्रसाद 'कामायनी' में

२. अग्निर्वाग भूत्वा मुखं प्राविशत, वायुः प्राणेभूत्वा नासिके प्राविशत''। एतरेय-उपनिषद २।४

उनका केन्द्र है, वही शरीर में आत्मा है। परमात्मा इस समग्र ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए हैं। परमाणु सौर जगत और शरीर में एक ही नियम हैं। जिस प्रकार परमाणु में प्रोटोन इलैक्ट्रन्स को आधार दिये हुए है, सौर मंडल में सूर्य ग्रह-उपग्रहादि को सम्हाले हुए है, वैसे ही हमारा आत्मा मन, बुद्धि आदि को प्रश्रय दिये हुए है। इस नियम का नियामक ही भगवान है। इन तीनों के भीतर जो अनेक परिभ्रमण कर रहे हैं वे कौन हैं ? जो केन्द्र है वही कृष्ण है, जो परिक्रमा लगा रहे हैं वे ही गोपियाँ हैं। उनकी परिक्रमा ही रासलीला है। इसी का नाम अध्यात्म है। जो अध्यात्म में होता है वही अधिदेव और अधिभूत में होता है। भारतीय ऋषियों ने केवल अध्यात्म को ही ग्रहण किया। तभी जड़ से चेतन और स्थूल से सूक्ष्म तक का विश्लेषण कर सके।

गोपियों के पक्ष में यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनके मन में भगवच्चिन्तन मुख्य था और शेष कार्य गौण थे। वे गौओं को दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दधि-मन्थन करते समय, लीपते समय, सोते बालकों को झूले में झटका देते समय, रोते बालकों को चुप कराते समय, और बुहारी देते हुए अर्थात् सभी समय प्रेम-युक्त और गद्‌गद् कण्ठ होकर भगवान श्रीकृष्ण का गान करती हैं। वे समस्त गार्हस्थिक कार्य करते हुए भी श्रीकृष्ण की ओर ही अपने चित्त को लगाने वाली गोपियाँ हैं।[1]

इधर श्रीकृष्ण में भी काम नहीं था। उन्होंने अपने में ब्रह्मचर्य को रोक कर गोपियों को सन्तुष्ट किया।[2] क्योंकि जिस प्रकार नदियाँ स्थिर, गंभीर, पूर्ण और विशाल समुद्र में प्रवेश करके अपने को उसमें मिला देती हैं, उसी प्रकार जिस महान् पुरुष के उदार चित्त रूपी समुद्र में समस्त कामनाएँ लय हो जायँ वही प्रशान्त होता है। कामना-परायण तो अशान्त ही रहता है। भगवान तो प्रशान्त हैं।[3]

---

१. या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप
प्रेखेंखनार्भरुदितोक्षण मार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठयो,
धन्या व्रजास्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ।।

भागवत १०।४४।१५

२. "सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः" भागवत १०।

३. आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशान्ति यद्वत।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे सशान्तिमाप्नोति न कामकामी

—गीता २।७०

जैसे तैलपायी (तिलचट्टा) नामक कीड़ा भ्रमर-कीट द्वारा पकड़े जाने पर डर से उसी की चिन्ता करने लगता है, उसी प्रकार चाहे किसी भाव से क्यों न हो, भगवान् का चिन्तन करते-करते जीव उनमें तन्मय हो जाता है। गोपी-भाव की उपासना का यही मूल है।

योग की दृष्टि से भी रास का रहस्य अनुपम है। अनाहत-नाद ही श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि है, अनेक नाड़ियाँ ही गोपिकाएँ हैं, कुलकुण्डलिनी श्रीराधा हैं और मस्तिष्क का सहस्रदल कमल ही सुरम्य वृन्दावन है, जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुख-सम्मिलन होता है और जहाँ पहुँचकर ईश्वरीय विभूति के साथ जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ रास रचती हुई नृत्य किया करती हैं।

मात्र शृङ्गारिक दृष्टिकोण से देखने वालों को भी इसमें रस मिलेगा। रीतिकाल के कतिपय कवियों ने इस रासलीला को प्राकृत रूप देकर जैसी विकृति उपस्थित करदी है वह अत्यन्त शोचनीय है।

———

श्रीकृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध में कवियों के विचार

पौराणिक-युग के लगभग सभी पुराणकारों ने श्रीकृष्ण और गोपियों के मध्य आध्यात्मिक सम्बन्ध माना है, जिसके द्वारा गोपियों को श्रीकृष्ण की वृत्तियाँ अथवा शक्तियाँ कहा गया है। पद्मपुराण में तो यह माना ही गया है कि ब्रज की गोपियाँ वास्तव में, श्रुतियाँ और मुनिगण थे।[1] इन गोपियों के प्रेम में वैषयिक कामोपभोग का लेशमात्र भी नहीं था। ब्रह्मवैवर्त पुराण में जो वर्णन है वह अवश्य अश्लील है और उस पर जयदेव, विद्यापति तथा चण्डीदास का प्रभाव परिलक्षित होता है। यह युग-प्रभाव ही कहा जा सकता है।

प्रश्न यह है कि पुराणकारों को कवि कहा जा सकता है या नहीं? कुङ् धातु से कवि शब्द की उत्पत्ति हुई हैं। कवि का पूर्ण अर्थ है—"शब्द को नियमानुसार रचनेवाला।" शब्द दो प्रकार के होते हैं—एक ध्वन्यात्मक और दूसरे वर्णनात्मक। यह दोनों ही शब्द रमणीय तथा अरमणीय होते हैं। यहाँ वर्णात्मक रमणीय शब्द का उच्चारण करने में कवि शब्द की रूढ़ि है और कवि का जो तादृश कार्य है वही काव्य कहा जाता है।[2] कवि को परमेश्वर, मन का प्रेरक, सर्वव्यापी और अपने आप स्थित कहा जाता है।[3] तो जब परमेश्वर कवि है, तब उसकी वाणी जो वेद है, वह काव्यसिद्ध हुआ। इसी प्रकार रामायण, महाभारत और भागवतपुराण आदि भी काव्य हैं। इस प्रकार पुराणकार भी इतिहासज्ञ होते हुए भी कवि कहे जाने योग्य हैं।

संस्कृत के कवियों ने अपने काव्य में पुराणों की ही परम्परा को अधिकांश रूप में स्थित रखा। उन्होंने कहीं-कहीं मनोरंजन की दृष्टि से 'गोपीवल्लभ' अथवा 'गोपीनाथ' की पदवी से श्रीकृष्ण को विभूपित कर दिया है। अधिकांश में तो राधाकृष्ण की वदना की ओर संस्कृत कवियों की अभिरुचि अधिक रही है।

हिन्दी के कवियों में इस दिशा में सूरदास सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, जिन्होंने गोपीभाव का विस्तार से दर्शन कराया है। कृष्ण-जन्म से ही गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रति

---

१. एताः श्रुतिगणः ख्याता एताश्च मुनयस्तथा।

—पद्मपुराण, पातालखंड, अध्याय ४३ श्लोक १०४

२. काव्यप्रभाकर की भूमिका में पृष्ठ २ पर रा० ब० श्री जगन्नाथ प्रसाद जी 'भानु' संवत् १९६६ वि०

३. कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भु। यजुर्वेद अ० ४० मंत्र ८

विभिन्न भावनाओं से समन्वित हृदय लेकर आती हैं। कृष्ण की नटखट बाललीलायें उन्हें अत्यन्त मनोरंजक लगती हैं। वे कृष्ण-प्रिय हैं।

भक्तिकाल को हिन्दी का स्वर्ण-युग कहा और माना जाता है।[1] वह इसलिए कि इस युग में आविर्भूत सभी कवियों ने हृदय की प्रेरणा से काव्य की सृष्टि की है। सूरदास ही क्यों अष्टछाप के सभी कवियों ने गोपियों और श्रीकृष्ण के सम्बन्ध के विषय में नाना प्रकार की उद्भावनाएँ की हैं, परन्तु उनमें अश्लीलता नहीं आने पाई है। यदि कहीं मर्यादा टूटती हुई दिखाई देती है तो वह क्षम्य हैं।

रीतिकाल के कवियों ने, वस्तुतः अपने आश्रय-दाताओं को प्रसन्न करने के हेतु काव्य-रचना की है और उस युग में तो उसे कवि ही नहीं माना जाता था जो "लक्षण ग्रंथ" की रचना न करे। परिणामतः सैकड़ों नायिकाओं की सृष्टि हो गई और उन रिक्त स्थानों की पूर्ति गोपियों से कर दी गई। एक प्रकार से यह अन्याय ही कहा जायगा क्योंकि गोपी और श्रीकृष्ण के विषय में भ्रामक तथा असम्मान-जनक भावना के प्रसार के हेतु रीतिकालीन कवि ही उत्तरदायी ठहराये जायेंगे।

आधुनिक काल के गिने-चुने कवियों ने गोपियों और श्रीकृष्ण के स्नेह-सम्बन्ध को सूक्ष्म दृष्टि से देखा है, इसलिये उसमें सात्विकता है।

---

१. डा० श्यामसुन्दरदास अपने लेख 'रीतिकाल' में।

संस्कृत साहित्य में गोपियाँ

श्रीकृष्ण के भगवत्स्वरूप की मान्यता के कारण संस्कृत में उनकी स्तुतियों वंदनाओं के रूप में, बहुत से कवियों ने काव्य-निर्माण किया।[1] राधा के विषय में भी ऐसा ही रहा है। जहाँ श्रीकृष्ण की वंदना है, वहाँ राधा की स्तुति भी उसी से सम्बद्ध है।

गोपियों के सम्बन्ध में नवीन उद्भावनाएँ देखने में आती हैं। इस दिशा में, गोपियों को मातृत्वपद से भी विभूषित किया गया है। यहाँ तक कि उनको यशोदानन्दन न कह कर गोपीकुमार की संज्ञा प्रदान की गई है:—

नवजलधरवर्णम् चम्पकोद्भासिकर्णं,
विकसितनलिनास्यं विस्फुरन्मन्दहास्यम्।
कनक रुचिदुकूलं चारु बर्हावचूलं,
कमपि निखिलसारं नौमि गोपीकुमारं ॥[3]

श्रीकृष्ण को रासमण्डल में गोपियों से परिवेष्ठित बताते हुए बड़ी ही सुन्दर उत्प्रेक्षा की गई है। इस श्लोक की सरसता, सरलता और मधुरता देखने योग्य है।[4]

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं,
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्।

१, वंशीविभूषित करान्नवनीरदाभात्,
पीताम्बरादरुण बिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दर मुखादरविन्दनेत्रात्,
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

२. यस्योदनं जगत्सर्वं मृत्युर्यस्योपसंचनम् (अज्ञात)
दुर्विज्ञेयं सुविज्ञेयं श्रीकृष्णं प्रणमाम्यहम् ॥
वन्दे श्रीराधिकां देवीं व्रजारण्य विहारिणीम्।
यस्याः कृपा बिना कोऽपि न कृष्णंज्ञातुमर्हति ॥ (अज्ञात)

३. कल्याण अगस्त १९३१ ई० पृ० १

४. „ „ „

रन्ध्रान्वेणोधर सुधया पूरयन्गोथ वृन्दै---
वृन्दारण्यं स्वयद रमणं प्राविद्गीतकीर्तिः ।

श्रीमद् शंकराचार्य जी ने तो उनकी उपासना विष्णुरूप में करते हुए लिखा हैः—

ब्रह्माण्डानि बहूनि पंकजभवान्प्रत्यण्डमत्यद्भुता
न्गोपन्वत्स भुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः ।
शंभुर्यंच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रया---
त्कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्य विकृतः साच्चे मयो नीलिमा ।।

रामायण और महाभारत में स्तोत्रों की संख्या पर्याप्त है। परन्तु ईस्वी सन् के पश्चात तो संस्कृत-साहित्य में इनकी संख्या बहुत बढ़ गई है। काव्य की दृष्टि से, सबसे पुराना स्तोत्र महाकवि बाण का है। उसके पश्चात् महाकवि मयूर का सूर्यशतक हैं। इसके साथ ही श्री शंकराचार्य जी के वे अनेकानेक स्तोत्र हैं जो विभिन्न देवी-देवताओं के विषय में रचे गये हैं। ऐसा जान पड़ता है कि भागवत धर्म के विकास के साथ ही साथ गोपी और गोपों की प्रेमलीलाओं का काव्य शास्त्र भी प्रकाशित हो गया। क्योंकि इस समय तक राधा और कृष्ण परम दैवत स्वीकार कर लिये गये थे। अतएव उनकी शृंगार-लीला का जो कहीं-कहीं स्पष्ट वर्णन है उसमें अश्लीलता का आभास इसी कारण दिखाई देता है कि भारतीय भक्ति-भावना से पूरित कविलोगों ने गद्गद् भाव से काव्य-रचना की है और तभी वे शिव, दुर्गा, विष्णु आदि का शृंगारिक वर्णन करने में झिझके नहीं। श्रीकृष्ण और गोपियों की कथाएँ स्वयं ही शृंगार-प्रधान हैं, इसलिए उसके वर्णन में शृंगारिक-भावनाओं का प्राबल्य संभव ही है।

प्राकृत और अपभ्रंश में भी गोपियों के साथ गोपाल का वर्णन है। परन्तु संस्कृत-साहित्य में इसका सबसे पहले उल्लेख ध्वन्यालोक के एक उदाहरण में दिया गया हैः—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदो राधारहः साक्षिणाम् ।
क्षेमंभद्र कलिन्दराजतनयातीरेलता वेश्मनाम् ।।

इसके पश्चात् ग्यारहवीं शताब्दी में लीला शुक द्वारा "कृष्ण-कर्णामृत" का निर्माण हुआ। बारहवीं शताब्दी में महाकवि जयदेव के गीत-गोविन्द ने सरस-सुहृद जनों को इस ओर अत्यधिक आकर्षित किया ?[1]

---

१. गोयकदम्बनितम्बवतीमुखचुम्बनलंभितलोभम् ।
बन्धुजीवलधुराधुरपल्लवमुल्लसितस्मितशोभम् ।।
रासे हरिमिह विहित विलासम् ।
स्मरति मनो मम कृत परिहासम् ।।—गीतगोविन्द

श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों-प्रशिष्यों ने इन लीलाओं को सूक्ष्म रूप प्रदान किया। तभी पहले-पहल अलंकारों और नायिकाओं के विवेचन के लिए राधा और कृष्ण तथा गोपियों की प्रेमलीलाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया।

नाट्यशास्त्रीय रस-विवेचना के अन्यान्य अंगों की अपेक्षा करके केवल नायिकाओं का वर्गीकरण इस उद्देश्य से किया गया था कि गोपियों की विभिन्न प्रकृतियों के साथ रसराज श्रीकृष्ण के प्रेम-भाव के विविध रूपों को दिखाया जा सके।[१] इसी भावना से प्रेरित होकर मध्यकालीन संस्कृत-साहित्य में यत्र-तत्र गोपियों का चित्रण किया गया है।

---

१. "हिन्दी साहित्य की भूमिका" डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १२१ फरवरी १९४० ई०

हिन्दी काव्य में गोपियाँ

सूरदास से कुछ पहले से भक्तिकाल का आरंभ माना जाता है। इस युग में जहाँ एक ओर राम के सगुण स्वरूप की उपासना हुई वहीं दूसरी ओर श्रीकृष्ण के साकार-सौन्दर्य की साधना सम्पन्न हुई। सूर आदि ने गोपियों का चित्रण विभिन्न रूपों में किया है। सूर की गोपियाँ कहीं तो बालकृष्ण के सौन्दर्य को देख कर अघाती नहीं हैं—

"देखो माई सुन्दरता को सागर।
देखि सुरूप सकल गोपी जन रहीं निहारि निहारि॥"
"देखि सखी मोहन मन चोरत।
नैन कटाच्छ विलोकनि मधुरी सुभग भ्रकुटि विधि मोरत।"

तो दूसरी ओर गोपी उनकी अनन्य प्रेमिका भी हैं—

"जब मोहन मुरली अधर धरी।
गृह व्यवहार थके आरज पथ तजत न संक करी॥"

वे उपालंभ देते हुए भी स्नेह-शीला ही दिखाई देती हैं—

ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधे ईस।

गोपियों को विश्वास नहीं होता कि उद्धव को श्रीकृष्ण ने ही भेजा है। अकाट्य तर्क प्रस्तुत करती हुई वे कहती हैं—

ऊधो जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यो है नंदकुमार।
यह न होय उपदेश स्याम को कहत लगावन छार॥
निर्गुन ज्योति कहाँ उन पाई सिखवत बार बार।
कालिहि करत हुते हमरे अंग अपने हाथ सिंगार॥

महात्मा तुलसीदास ने भी गोपियों या बड़ा मनोरंजक चित्रण 'श्रीकृष्ण गीतावली' में किया है। गोरी उलाहना देने आई हैं कि वह नटखट श्रीकृष्ण की माखन-चोरी से उकता गई है—

"महरि तिहारे पाँय परौं अपनो ब्रज लीजै।
सहि देख्यो, तुम्ह सों कह्यो, अब ना कहि आई,
कौन दिनहु दिन छीजै।"[१]

श्रीकृष्ण की वंदना करते हुए तुलसीदास जी ने उनको गोपाल भी माना है और गोपी-प्रिय भी—

"गोपाल-गोकुल-वल्लभो-प्रिय गोप-गोसुत-वल्लभं।"

रास-क्रीड़ा के विषय में तुलसीदास जी मौन हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के एक पत्नीव्रत को सैद्धान्तिक रूप से अपनाने वाले महाकवि की उदासीनता विचारने के योग्य नहीं है। उनकी गोपियों का श्रीकृष्ण-विरह अत्यन्त सात्विक हैं—

"सुनत कुलिस सम वचन तुम्हारे।
चित दै मधुप सुनहु सोउ कारन जाते जात न प्रान हमारे।।"[२]

भक्तिकाल के अन्य कवियों ने भी गोपियों के पक्ष में अत्यन्त सुन्दर उत्प्रेक्षाएं की हैं। कुछ उदाहरण निम्न हैं—

आवत मोहन मन जु हरयो हो
हौं गृह अपने सचु सौं बैठी, निरखि वदन अस्वरा विसरयो हो।
"जुवतिन संग खेलत फाग हरी।
पिचकारीन परसपर छिरकत अति आमोद भरी।।"

—कुंभनदास

बड़ भागिनि गोकुल की नारि।
माखन-रोटी दै जु नचावति, जगदाता मुख लेत पसारि।
"चलो सखि देखो नद किसोर।"

—परमानंददास।

कंचन मनि मरकत रस ओपी।
नंद सुवन के संगम सुख करि, अधिक विराजति गोपी।

—कृष्णदास

---

१. रूपपंचरत्न सं० ला० भगवानदीन स० १९८४ वि०

२. "श्रीकृष्ण गीतावली" तुलसी-ग्रन्थावली भाग २ ना० प्र० स० १९८० वि०

देखो देखो री नागर नट, नितंत कालिन्दी तट
गोपिन के मध्य राजै मुकुट लटक।
सुनि मोहन संदेश रूप-सुमिरन ह्वै आयो।
पुलकित आनन कमल, अंग आवेस जनायो॥
विह्वल ह्वै धरनी परी, व्रज-वनिता मुरझाय।
दै जल छींट प्रवोधहीं ऊधै वेन सुनाय॥
सुनो व्रजनागरी। —नंददास

"भई भेंट अचानक आई
हौं अपने ग्रह तें चली जमुना वे उततें चले चारन गाई॥"
—छीतस्वामी

तेरे माई लागत हौं री पैयाँ
एकटक बात कही मोहन की, आली री लेहु बलैयाँ।
—चतुर्भुजदास।

रीतिकाल के कवियों में मुख्यरूप से बिहारी, देव, घनानन्द तथा पद्माकर के नामों का उल्लेख किया जा सकता है। इनके काव्योदाहरण प्रस्तुत करने से पूर्व हमें यह कहना आवश्यक जान पड़ता है कि यद्यपि गौड़ीय वैष्णवों ने रीति-काल से कुछ ही पूर्व नायिकाओं का इस प्रकार वर्ग-विभाजन कर दिया था कि गोपी और गोपाल की केलि-कथा भली प्रकार गाई जा सकें। परन्तु इस प्रवृत्ति का अधिक प्रभाव रीति-कालीन कवियों पर नहीं पड़ा। यदि आप उज्जवल नीलमणि रचित नायिका-भेद के ग्रन्थों की तुलना रीतिकालीन कवियों के ग्रन्थों से करेंगे तो उनका भेद स्पष्ट हो जायगा। गौड़ीय वैष्णव मत का प्रभाव व्रजस्थ भक्तों पर अवश्य हुआ। फिर भी इस मत में जिन गोपियों का नामोल्लेख विशेषरूप से हुआ है उनका पता रीतिकालीन काव्य में अति दुस्तर है। राधा को छोड़कर चन्द्रावली, विशाखा आदि का उल्लेख प्रायः नहीं है। रीतिकालीन कवियों ने गोपियों का वर्णन और उनका चित्रण साधारणरूप में ही किया है। फिर भी इस युग तक पहुँचते-पहुँचते गोपियों की परिणति साधारण नायिकाओं में हो गई है।

नीचे हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, इनसे यह पता चल जायगा कि उस समय कवियों की धारणा क्या थी—

आई जु चलैं गुपाल घरे व्रजवाल विशाल मृनाल-सी बांही।
त्यौं पदमाकर सूरति में रति छ्वै न सकै कितहूँ परछांहीं॥

सोभित संभु मनो उर ऊपर मौज मनोभव की मन मांहीं।
लाज बिराज रही अखियान में प्रानकान्ह जुवान में नांहीं॥

× × ×

बांसुरी ह्वै लगो मोहन के मुख माल ह्वै कंठ तजौं नहिं फेरी।
त्यों पदमाकर ह्वै लकुटी रहौं कान्हा के कर घूम घनेरी॥
पीतपटी ह्वै कटी लपटौं घटते न घटै चित चाह जु एरी।
दै बरदान यहै हमको सुनिये गनगौरि गुसाइन मेरी॥

—पद्माकर।

क्यों इन आंखिन सौं निस्संक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारे कलंक लगै यह गाँव बसे कहो कैसे कै जीजै॥
होत रहै मन यौं मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजे।
ह्वै बनमाल हियें लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजे॥

—मतिराम

छूटि जाय गैया कै बिलैया चाटि चाटि जाय,
कौन दुख दैया साच-सोच उर धारयो मैं।
हौंही जमवैया और धरैया निज सैया तरे,
कहौं जो कहै या हास होयगो विचारयो मैं॥
ग्वाल कवि हौले के अवैया निरदैया यही,
आज या समैया ओट पैया गई पार यो मैं।
भैया को बुलाओ या कन्हैया को करेगो हाल,
दाध को चुरैया मैया पकरि पछारयो मैं॥

—ग्वाल कवि

किती न गोकुल कुलबधू काहि न किहीं सिख दीन।
कौने तजी न कुलगली ह्वै मुरली-सुर-लीन॥

× × ×

गोपिन सँग निसि सरद की रमत रसिक रसराज।
लहाछेह अति गतिन की सबन लखे सब पास॥

× × ×

लाज गहो बेकाज कत घेर रहे घर जाहिं।
गोरस चाहत फिरत हौ गोरस चाहत नाहिं॥

× × ×

कंजनयनि मंजन किये बैठी ब्योरति बार।
कच अंगुरिन विच दीठि दै चितवति नंदकुमार॥

—बिहारीलाल

सखि आयौ वसन्त रितून कौ कन्त चहूं दिसि फूलि रही सरसों।
बर सीतल मंद सुगंध समीर सतावन हार भयो गरसों॥
अब सुन्दर सांवरो नदकिशोर कहैं हरिचंद गयो घर सों।
परसों को विताय दियौ बरसौं तरसौं कब पाँय पिया परसों॥

आधुनिक काल में कृष्ण-धारा के कवियों में श्री हरिऔध तथा श्री गुप्त आदि ने गोपियों के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण रखा है वह शुद्ध सात्विक हैं:—

आई प्यारे निकट श्रम से एक वृद्धा प्रवीणां,
हाथों से छू कमल मुख को, प्यार से ली बलायें।

× × ×

बोली बाला अपर तब लौं हा ! सखी क्या कहूँ मैं,
आंखों से तो अब रथ-ध्वजा भी नहीं है दिखाती।

+ × ×

बोली सशोक अपरा-एक गोपिका यों,
ऊधो अवश्य कृपया ब्रज को जिलाओ।
जाओ तुरन्त मथुरा करुणा दिखाओ,
लौटाल श्यामघन को ब्रज मध्य लाओ।

—प्रियप्रवास-हरिऔध कृत

ज्ञान योग से हमें हमारा यही वियोग भला है।
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व कला है।

—मैथिलीशरण गुप्त द्वापर में 'गोपी'

सुनि-सुनि ऊधव की अकह कहानी कान,
कोऊ थहरानी, कोऊ थानहिं थिरानी हैं।
कहैं रत्नाकर रिसानी, बररानी कोऊ,
कोऊ बिलखानी, कोऊ विकलानी, बिथकानी हैं।

कोऊ सेद सानी, कोऊ भरि दृग पानी रहीं,
कोऊ घूमि घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं ।।
कोऊ स्याम-स्याम कै बहकि बिललानी कोऊ
कोमल करेजो थामि सहमि सुखानी हैं ।

—जगन्नाथदास रत्नाकर 'उद्धव शतक'

व्याप्त भीति गोपिन हृदय, डोलत तनिक न बात ।
चित्र लिखीं ठाढ़ी सकल, निकसति मुख नहिं बात ।।

—द्वारिकाप्रसाद मिश्र 'कृष्णायन' में अवतरण खंड

चौथा अध्याय

गोकुल और मथुरा की ऐतिहासिकता

जैसा कि श्रीमद्भागवत में भी माना गया है श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान मथुरा है और बाललीलाओं की भूमि गोकुल तथा वृन्दावन रहे हैं। मथुरा सदैव से एक ऐतिहासिक नगरी रही है। श्रीकृष्ण-कालीन उत्तर पथ के मान-चित्र में मथुरा, गोकुल और वृन्दावन के नाम दिये हुए हैं।[1] इसके आस-पास मत्स्य, शूरसेन और पांचाल आदि की स्थिति दिखाई गई है। यमुना के एक तट पर मथुरा है तो दूसरी ओर गोकुल और वृन्दावन है।

श्रीकृष्ण के समकालीन पुराणों में अथवा उनके परवर्ती साहित्यिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों में यमुना नदी और मथुरा नगरी दोनों का उल्लेख पाया जाता है। गोकुल और वृन्दावन का भी वर्णन किया गया है, जो कतिपय निम्न उदाहरणों से स्पष्ट है :—

१—ब्रह्मपुराण

वृन्दावनं भगवता कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा ।
शुभेन मनसाध्यातं गवां वृद्धिमभीप्सता ।।
पूज्यन्तां प्रथिता सीमाः सीमान्तञ्च पुनर्वनम् ।
वनान्ता गिरय सर्वे सा चास्माक परागतिः

१८४—१२८ अ० ४६—४८ श्लोक

गोवृन्द की वृद्धि चाहने वाले अक्लिष्टकर्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मन में श्री वृन्दावन का ध्यान किया। जहाँ तक ब्रज की सीमा तथा उसमें जो वन, उपवन, गिरि, नदी आदि हैं उनका पूजन करो। यही हम लोगों का एकमात्र कल्याणप्रद आश्रय है।

---

१. मानचित्रकार श्रीविष्णु हरि वझेर एम० ए०, एल० एल० बी० कल्याण का श्रीकृष्णांक पृष्ठ २७२-७३

२—पद्मपुराण

यद्ब्रह्म परमैश्वर्य्यं नित्यं वृन्दावनाश्रयम् ।
कृष्णधाम परन्तेषां वनमध्ये विशेषतः ।।
तस्मात्त्रैलोक्यमध्येतु पृथ्वीधन्येति विश्रुता ।
यस्मान्माथुरक नाम विष्णोरेकान्तवल्लभम् ।।

पाताल खण्ड अ० ६७, श्लोक ११-१२

अर्थ :—ब्रह्म का परमेश्वर्य नित्य वृन्दावन के आश्रय में है, अतः ब्रज में श्री-कृष्ण का परमोत्तमधाम श्रीवृन्दावन है। इसी से त्रैलोक्य में ब्रज-भूमि धन्या है जिसमें श्री विष्णु का परमप्रिय माथुर-मण्डल अवस्थित है।

३—विष्णुपुराण

मथुरा नाम नगरी पुण्या पापहरा शुभा ।
यस्यां जातो जगन्नाथः साक्षाद्विष्णुः सनातनः ।।
ततोऽखिलजुगत्पद्म बोधायाच्युतभानुना ।
देवकी पूर्व सन्ध्यायामाविर्भूतं महात्मना ।।

अंश २, अ० २, श्लोक २-३।

अर्थ :—मथुरा नगरी अत्यन्त पुनीत तथा समस्त पापों का नाश करने वाली है, जहाँ साक्षात् सनातन विष्णु जगन्नाथ अवतीर्ण हुए हैं। सम्पूर्ण जगत रूपी कमल को विकसित करने के लिये देवकी रूपा पूर्व-दिशा से श्रीकृष्ण रूपी सूर्य का उदय हुआ।

४—शिवपुराण

जृम्भणास्त्रं मुमोचाथ सन्धायधनुषिद्रुतम् ।
पिनाकपाणये व्यास नानास्त्रकुशलो हरिः ।।
मोहयित्वा तु गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम् ।
बाणस्य प्रतनां शौरिर्जघानासिगदर्ष्टिभिः ।।

रुद्रसंहिता, युद्धसंहिता, अ० ५१, श्लोक ६२-६३

अर्थ :—हे व्यास। सम्पूर्ण शस्त्र विद्या में प्रवीण ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीहरि ने श्री-शिव के ऊपर जृम्भास्त्र छोड़ा। जृम्भास्त्र से शिव को मोहित देखकर गदा, खड्गादि से बाण की सेना का विनाश किया।

५—श्रीभागवतपुराण

अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोप ब्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णंब्रह्म सनातनम् ।।

स्कंध १०, अ० १४, श्लोक ३१-३२

अर्थ :—गोपनन्द के व्रज में रहने वाले उन व्रजवासियों के भाग्य की सीमा नहीं है, जिनके मित्र परमानन्दप्रद पूर्णब्रह्म साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं हैं।

६—नारद पुराण

विंशतिर्योजनानान्तुमाथुरं परिमण्डलम् ।
यत्रकुत्राप्लुनस्तत्रविष्णुभक्तिमवाप्नुयात ॥

यत्र प्राप्तास्तृणमृगखगा ये कृमिप्राणिवृन्दा,
वृन्दारण्ये विधिहररमाभ्यर्हणीयाः भवन्ति।
तत्सम्प्राप्याद्वय पदरतो ब्रह्मभूयंगतः को,
प्रेमास्निग्धो विहरति सुखाम्भोधिकल्लोलमग्नः ॥

उत्तरार्द्ध अ० ७६-८०, श्लोक १०६-१०

अर्थ—अस्सी कोस का माथुरमंडल है। जहाँ कहीं भी, किसी कुंड अथवा नदी में स्नान करने से विष्णु की भक्ति सरलता से प्राप्त होती है। उस माथुर मण्डल के अन्तर्गत वृन्दावन में रहने वाले तृण, मृग, पक्षि, कीट आदि जीव ब्रह्मा, शिव तथा लक्ष्मी आदि देवों से परिपूजित हैं। उन व्रजवासियों के विशुद्ध प्रेम-सागर में मग्न होकर परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण सदा विहरण करते रहते हैं।

७—मार्कण्डेय पुराण

वामनादींस्तथैवान्यान्नसंख्यातुमिहोत्सते ।
अवतारांश्च तस्येह माथुरः साम्प्रतं स्वयम् ॥
देवत्वेऽथ मनुष्ये तिर्यग्योनौच संस्थिता ।
गृहणाति तत् स्वभावञ्च वासुदेवेच्छया सदा ॥

अ० ४ श्लोक ५६-५८

अर्थ :—भगवान के वामनादि असंख्य अवतार हैं। सम्प्रति मथुरा में भी श्री-कृष्णावतार है। देव, मनुष्य, तिर्य्यंग् आदि अवतार वासुदेव की इच्छा से स्वभाव तथा आकार धारण करते हैं।

८—अग्नि पुराण

यशोपति नन्दाय वसुदेवेन चार्पितो ।
रक्षणाय च कंसादेर्भीते नैवहि गोकुले ।
रामकृष्णौ चेरतुस्तौ गोभिर्गोपालकैः सह।
सर्वस्य जगतः पालौ गोपालौ तौ बभूवतुः ॥

अ० १२ श्लोक १४-१५

९—भविष्य पुराण

वसुदेवेन देवक्यामहं जातो जनाः स्वयम्।
एवमेतत् समाख्यातं लोके जन्माष्टमी व्रतम्॥
भगवत्पार्श्वतो राजन् बहुरूपं महोत्सवम्।
मथुरायास्ततः पश्चाल्लोके ख्यातिं गमिष्यति॥

उत्तर पर्व अ० ५४, श्लोक १५-१६

अर्थ—हे युधिष्ठिर ! वसुदेव द्वारा देवकी के गर्भ से जब हम अवतीर्ण हुए, उसी समय से यह जन्माष्टमी व्रत विख्यात है। भगवत्स्वरूप महोत्सव मथुरा में विख्यात होने के पश्चात् अन्य लोकों में भी प्रसिद्ध होगा।

१०—ब्रह्मवैवर्त पुराण

अथवा ते प्रवक्ष्यामि परं हेत्वन्तरं श्रृणु।
येन वृन्दावनं नाम पुण्यक्षेत्रस्य भारते॥
राधाषोडश नाम्नाञ्च वृन्दा नाम श्रुतौश्रुतम्॥
तस्याः क्रीडावनं रम्यं तेन वृन्दावनं स्मृतम्॥

जन्मखण्ड अ० १७ श्लोक २१३-१४

अर्थ—हे नारद ! पुण्यक्षेत्र भारत में वृन्दावन नाम क्यों है, इसका अन्यतम कारण कहता हूँ। सामवेदीय श्रुति में राधा का दूसरा नाम वृन्दा है, उसके रमणीय क्रीड़ा-वन का नाम ही वृन्दावन है।

११—लिङ्ग पुराण

शङ्खचक्रगदापद्मं धारयन्तं जनार्दनम्।
यशोदायै प्रदत्वातु वसुदेवश्च बुद्धिमान्॥
दत्वैनं नन्दगोपस्य रक्षतामिति चाब्रवीत्।
रक्षकं जगतां विष्णु स्वेच्छयाधृत विग्रहम्॥

अ० ६९, श्लोक ५२-५३

अर्थ—बुद्धिमान वसुदेव जी स्वेच्छा से अवतीर्ण, जगत्पालक, शंख, चक्र, गदा, पद्मों को धारण करने वाले जनार्दन श्रीकृष्ण को नंद और यशोदा के हाथों में सौंपते हुए कहने लगे—इसकी रक्षा करो।

१२—वाराह पुराण

वृन्दावनं द्वादशकं वृन्दया परिरक्षितम्।
मम चैव प्रियं भूमे ! महापातक नाशनम्॥

वृन्दावनञ्च गोविन्दं येपश्यन्ति वसुन्धरे !
न ते यमपुरे यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम् ॥

अ० १५३, श्लोक ४८-४६

अर्थ—हे वसुन्धरे ! ब्रज के बारहों वनों में श्रीवृन्दावन प्रधान हैं, जो वृन्दा देवी के द्वारा सदैव परिरक्षित है। महापापों को नष्ट करने वाले वृन्दावन और उसमें स्थित गोविन्ददेव का जो दर्शन करते हैं, वे कभी भी यमपुरी नहीं जाते हैं वरन् सद्गति को प्राप्त करते हैं।

१३—स्कन्द पुराण

दिवि नैव न पाताले नान्तरिक्षे न मानुषे।
समंतु मथुरायां हि प्रियं मम सदैव हि ॥
सर्वेषामेव तीर्थानां माथुरं परमं महत्।
बालक्रीडनरूपाणि कृतानि सहगोपकैः ॥

द्वि० वै० खण्ड, अ० १७ श्लोक २०-२१

अर्थ—मथुरा के समान स्वर्ग, मर्त्य, पाताल और अन्तरिक्ष में हमारा अन्य कोई प्रिय स्थान नहीं है। सम्पूर्ण तीर्थों में माथुरमण्डल उत्कृष्ट तीर्थ है, जहाँ हमने गोप-बालकों के सहित बालक्रीड़ा की है।

१४—वामन पुराण

निष्ठत्यनेकसंसार सङ्घाघोघविनाशिनी।
कृष्णेभक्तिरहं तावदेवक्ष्यो भवता न किम् ॥
न मे प्रियतरं कृष्णादपिदेहं महात्मनः।
ममापि सर्वजगतां गुरुर्नारायणो हरिः ॥

अ० २९, श्लोक ४०-४१

अर्थ—संसार में जो नाना प्रकार के दुख-समूह हैं उनको नष्ट करने वाले ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण में हमारी दृढ़ भक्ति देख कर भी तेरी प्रीति उनमें नहीं होती ? महात्मा श्रीकृष्ण से बढ़कर हमारा कोई प्रिय नहीं है। हमारे ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण जगत् के वे एकमात्र गुरु हैं।

१५—कूर्म पुराण

हतेष्वेतेषु सर्वेषु रोहिणी वसुदेवतः।
असूत रामं लोकेशं बलभद्रं हलायुधम् ॥
जातेऽथरामदेवानामदिमात्मानमच्युतम्।
असूत देवकी कृष्णं श्रीवत्साङ्कित वक्षसम् ॥

अ० २८ श्लोक ७७-७८

अर्थ—कंस द्वारा देवकी के छः पुत्रों के मारे जाने पर रोहिणी के गर्भ से हलायुध, लोकेश बलराम अवतीर्ण हुए। उनके पश्चात् देवकी के गर्भ से श्री वत्साङ्कित आदिभूत अच्युत श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुए।

१६—मत्स्य पुराण

वसुदेव वचः श्रुत्वा रूपं सहरतेऽच्युतः।
अनुज्ञाप्यततः शौरिं नन्दगोपगृहेऽनयत् ।।
दत्वैनं नन्दगोपस्य रक्षतामिति चाब्रवीद्।
अतस्तु सर्वकल्याणं यादवानां भविष्यति ।।

अ० ४७ श्लोक ५-६

अर्थ—वसुदेव के वाक्यों को सुन कर श्रीकृष्ण ने अपने दिव्य रूप को छिपा लिया। श्रीकृष्ण की आज्ञा से वसुदेव उनको गोकुल ले आये। उनको नन्द के हाथों में सौंपते हुए कहा—"इसकी रक्षा करो। इसी के द्वारा सम्पूर्ण यादवों का कल्याण होगा।"

१७—गरुड़ पुराण

ततो हरिः कृष्णरूपी वभूव
देवक्यां वै वसुदेवात्सविष्णुः
कंसादीन्वै नितरांहन्तुकामः
सम्यक् पातुं पाण्डवांश्चापि वीन्द्र।
बालो हरिः बालरूपेण कृष्णः
क्षीरादिकं नवनीतं घृतञ्च
गृह्णाति नित्यं भूषणं वस्त्रजात-
मेवं दद्यात् सर्वदा विष्णु तुष्ट्यै ।।

उत्तर खण्ड ब्रह्मकाण्ड अ० १५ श्लोक २५-२६

अर्थ—हे गरुड़ ! कंसादि असुरों का विनाश करने की इच्छा से पाण्डवों की रक्षा के लिये स्वयं मैं वसुदेव-देवकी के गर्भ से श्रीकृष्ण रूप में अवतीर्ण हुआ।

वही बालरूपी हरि बालकृष्ण गोकुल में नित्य ब्रजवासियों द्वारा दिये हुए घी, दूध, माखन, दही को आदरपूर्वक स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार विष्णु की प्रसन्नता के लिए भक्त-जन वस्त्राभूषण प्रदान करें।

१८—ब्रह्माण्ड पुराण

अनुज्ञातः पितात्वेनं नन्दगोप गृहंनयत्।
यशोदा नंदगोपस्य पत्नी सानन्दगोयतेः ।।

दत्वेनं नन्दगोपस्य रक्षेममिति चाब्रवीत् ।
सुतस्ते सर्वकल्याणो यादवानां भविष्यति ।।
म० भा० अ० ७१, श्लोक २११-२१३

अर्थः—वसुदेव श्रीकृष्ण को गोकुल में नन्द के घर ले आये और नन्द की पत्नी यशोदा तथा नन्द के हाथों में श्रीकृष्ण को सौंपते हुए उन्होंने कहा—"इसकी रक्षा करो और तुम्हारे इस लड़के से सम्पूर्ण यादवों का कल्याण होगा।"

भागवत में वर्णित पुराणों के क्रमानुसार ही हमने मथुरा, गोकुल तथा वृन्दावन का विवरण प्रस्तुत किया है।

मनु जी ने सप्तपुरियों में मथुरा का उल्लेख किया हैः—

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तर ।
मनुस्मृति २—१९

श्रीरामचन्द्रजी के अनुज शत्रुघ्न ने लवणासुर का वध करके, वर्तमान मथुरा से ४-५ मील दक्षिण-पश्चिम कोण में स्थित महोली ग्राम को अपनी राजधानी बनाया जो आज मधुबन कहलाता है।[१] सूर्यवंशीय राजाओं के पश्चात मथुरा पर चन्द्रवंशीय राजाओं का अधिकार रहा। श्रीकृष्ण-काल में जरासंध तथा कालयवनादि राजाओं ने इस नगरी पर कई बार आक्रमण किये।

डा० गोल्डस्टुकर तथा डा० भाण्डारकर के मतानुसार पाणिनी का काल ईसा से ७०० वर्ष पूर्व है, पाणिनी ने भी मथुरा का उल्लेख किया है।

ईसवी सन् ४०० से पूर्व सिल्यूकस का यूनानी राजदूत मेगास्थनीज भारत में आया था, उसने अपनी यात्रा के विवरण में श्रीकृष्ण तथा मथुरा दोनों का वर्णन किया है।[२]

महाकवि भास का समय ईसा से १०० वर्ष पूर्व माना जाता है। 'बालचरित' नाटक में श्रीकृष्ण की लीलाओं का विशद वर्णन है। इसी प्रकार अश्वघोष ने बुद्ध-

---

१. शत्रुघ्नोलवणं हत्वाचिच्छेद समधोवनं ।
तस्मिन मधुवने स्थाने पुरीञ्च मथुरामिमाम् ।।
भीमेनेयं पुरीतेनं राज सम्बन्ध कारणात् ।
स्ववंशे स्थापिता पूर्वं स्वयमध्यासिता तथा ।।
—हरिवंश पुराण २५

2. "Arrians Anabasis of Alexander and India" नामक पुस्तक के ई० जे० चिनौक द्वारा अनूदित भाग से—(पृष्ठ ४०८)

चरित्र (४-१४) में ब्रजाङ्गनाओं का उल्लेख किया है। यह रचना ईसा से ७६ वर्ष पूर्व की मानी जाती है। कालिदास का समय ईसा से ५८ वर्ष पूर्व है, उन्होंने भी "गोपवेषस्य विष्णो" का उल्लेख किया है। इसके साथ ही वृन्दावन तथा गोवर्द्धन का वर्णन इन्दुमती के स्वयंवर में मिलता है।[1]

पुरातत्त्व के दृष्टिकोण से

ब्रज का प्राचीन नाम शूरसेन जनपद है। महाभारत काल में राजनैतिक दृष्टिकोण से इस जनपद को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता था। पाणिनी की अष्टाध्यायी में मथुरा का नाम भी है।[2]. मथुरा में पुरातत्त्व सम्बन्धी जो खुदाई की गई है उसमें कई प्राचीन टीले निकले हैं। इनमें से कटरा केशवदेव, भूतेश्वर, कंकाली, गायत्री, जमालपुर या दमदमाटीला (यहाँ आजकल कलक्टरी अदालत है) सप्तर्षि टीला, ध्रुव-टीला और शीतलाघाटी मुख्य हैं। कतिपय गावों में से खुदाई करके प्राचीन मूर्तियाँ भी प्राप्त की गई हैं। ये मूर्तियाँ और टूटे-फूटे शिलालेख मथुरा के अजायबघर में आज भी रखे हुए हैं। डा० वोगल के वृहत सूचीपत्र में इनका वर्णन विस्तार से किया गया है तथा इस अन्वेषण कार्य में डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल एम० ए०, एल० एल० बी०, पी० एच० डी०, डी० लिट्० ने पर्याप्त परिश्रम किया और सहयोग दिया है। वे किसी समय मथुरा के अजायबघर के क्यूरेटर थे और आजकल काशी विश्वविद्यालय में पुरातत्व-विभाग के अध्यक्ष हैं। प्राप्त मूर्तियां चौथी शताब्दी से पूर्व की नहीं जान पड़ती हैं। इनमें से ८० प्रतिशत सामग्री कुषाण और गुप्तकाल की मानी गई है। कुषाण-काल ईसा की १ ली से ३ री शताब्दी तक रहा है। कुषाण-काल शिल्पकला का महान् युग था। मॉट ग्राम से, जो मथुरा जिले में है, कुषाण-सम्राट वेम तथा कनिष्क की मूर्तियाँ मिली हैं। इन पर उनके नाम अंकित हैं।

शिलालेखों से यह निश्चित हो जाता है कि मथुरा में श्रीकृष्ण के मन्दिर ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास थे। ईसा से प्रथम शताब्दी पूर्व महाक्षत्रप सुदास हुए हैं। उनके द्वारा निर्मित एक चौखट पर एक लेख है जिसमें "भगवान् वासुदेव के महास्थान पर बनी हुई वेदिका और तोरण" का वर्णन है।

ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी की प्राचीन मूर्ति जो बलदेव जी की है, जनसुटी गाँव से प्राप्त हुई है।

---

१. वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवन श्रीः।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यु कान्तासु गोवर्द्धन कन्दरासु।
—रघुवंश सर्ग ६ श्लोक ५०-५१

२. वरणादि गण (४।२।८०) में

व्रज के प्रमुख दर्शनीय स्थान

वृन्दावन—मदनमोहन जी का मंदिर। यह लाल पत्थर का बना हुआ अति प्राचीन मंदिर है।

बांकेबिहारी जी का मंदिर—अत्यन्त भव्य और विशाल मन्दिर है जो पाषाण-निर्मित है। वहाँ श्रावण, भाद्रपद मास में जो विभिन्न झाँकियाँ होती हैं वे अति मनोरंजक तथा दर्शनीय हैं। इनको "नजरिया ठाकुर" भी कहते हैं। भक्तों में यह विश्वास प्रचलित है कि इनको बड़ी शीघ्रता से 'नज़र' लग जाती है।

राधावल्लभ जी का मंदिर—मूर्ति अत्यन्त आकर्षक और दिव्य है।

सेवाकुञ्ज—इसमें श्याम-तमाल के वृक्ष हैं और अति दर्शनीय हैं। वृक्षों की गाँठें शालिग्राम की बटिया के समान हैं। इसमें रंगमहल बताया जाता है। लोगों की धारणा हैं कि रात्रि में यहाँ राधाकृष्ण विहार करते हैं, इसलिए यहाँ कोई भी व्यक्ति ठहरता नहीं है। देखा यह गया है कि रात को बन्दर भी यहाँ से चले जाते हैं। यहाँ की लताएँ परम रमणीय हैं।

सवा मन के शालिग्राम—इतने बड़े शालिग्राम संभवतः भारत में कहीं नहीं हैं।

शाहजी का मन्दिर—इसे टेढ़े खम्भों वाला मन्दिर भी कहते हैं। इसमें राधारमणजी की मूर्ति है। फागुन मास में रंगभरनी एकादशी के दिन महोत्सव होता है। शिल्पकला की दृष्टि से यह मन्दिर बहुत ही आकर्षक है।

राधारमणजी का मन्दिर—यह दूसरा मंदिर है। माना जाता है कि शालिग्राम जी में से राधारमण प्रकट हुए हैं।

रासमण्डल—गोल घेरे के रूप में बनी हुई रंगभूमि के समान है, जहाँ यदा-कदा गायन-वादन होता है।

गोपीनाथजी का मन्दिर—यह भी दर्शनीय स्थान है।

हरदेव जी—वज्रनाभ ने इस मूर्त्ति को प्रतिष्ठापित किया था। गोवर्द्धन से एक ब्राह्मण इस मूर्त्ति को वृन्दावन ले आया। यह मन्दिर पुराने शहर में है।

गोपेश्वर महादेव का मन्दिर—अत्यन्त प्राचीन मूर्त्ति है।

वंशीवट—इसे सिद्ध स्थल मानते हैं।

लाला बाबू का मन्दिर—किसी बंगाली द्वारा निर्मित है, जिसमें बंगीय कला का अत्युत्कृष्ट प्रदर्शन किया गया है। उसके शिखर पर चक्र सुदर्शन का चिन्ह है।

ब्रह्मचारी का मन्दिर—इसमें हंस-गोपाल, गौरगोपाल तथा नृत्य गोपाल की मूर्त्तियाँ हैं। यथा नाम तथा आकृति हैं।

रंगनाथ जी का मन्दिर—संक्षिप्त में रंगजी का मन्दिर भी कहा जाता है। इसमें बहुत ऊँचा एक सोने का लट्ठा है जो गरुड़-स्तम्भ कहा जाता है। इसमें एक विशाल पुष्करिणी भी है। बीसियों त्रिमालियाँ हैं जिनमें यात्री लोग ठहरते हैं। दाक्षिणात्य-कला का सुन्दर उदाहरण यहाँ पाया जाता है। पश्चिम का द्वार व्रज के दरवाजों के समान आकार वाला है। मन्दिर में श्री रंगनाथजी की भव्य मूर्त्ति है। यह सबसे बड़ा मन्दिर है और यहाँ उत्सव भी अनेकों होते हैं।

गोविन्ददेव जी का मन्दिर—लाल पत्थर का बना हुआ काफी ऊँचा मन्दिर है जो प्राचीन कला की निशानी है।

जयपुर महाराज का मन्दिर—इसमें जयपुरीय कला और कारीगरी का उत्कृष्ट दृश्य है।

प्रेम महाविद्यालय—इंजीनियरिंग में शिक्षा देने वाला विद्यालय है। इसके संस्थापक मुरसान के प्रसिद्ध देशभक्त राजा महेन्द्र प्रताप हैं।

गुरुकुल विद्यालय—संस्कृत की शिक्षा प्रदान करने वाला, आश्रम परिपाटी पर संचालित विश्वविद्यालय है।

भजनाश्रम—यहाँ स्त्री-पुरुष भजन-कीर्तन आदि करते हैं। विधवा, दीन, दुखी तथा साधुओं का आश्रय स्थान है।

गीता मन्दिर—मथुरा से वृन्दावन जाते समय मार्ग में निर्मित है। इसे श्री जुगल किशोर बिड़ला ने बनवाया है। अत्यन्त भव्य तथा आकर्षक मन्दिर है।

इसके अतिरिक्त कई नवीन आश्रम बन रहे हैं। श्रावण में यहाँ हिंडोलोत्सवादिक के कारण बड़ी घूमधाम रहती है।

मथुरा—इसकी चारों दिशाओं में पिपलेश्वर, भूतेश्वर, रंगेश्वर तथा गोकर्णेश्वर महादेव के मन्दिर हैं। बीच में वाराहजी का मन्दिर है।

केशवदेव का मन्दिर—मथुरा से थोड़ी दूर पश्चिम की ओर मल्लपुरा में है। इसकी प्राचीन मूर्त्ति को औरंगजेब ने नष्ट कर दिया था। इसके पश्चात् दूसरी मूर्त्ति की स्थापना की गई।

दीर्घ विष्णु—यह विष्णु मन्दिर है।

वीरभद्र महादेव—कहा जाता है कि प्राचीन काल में इस मन्दिर में वीरभद्र तथा महादेवजी दोनों की मूर्त्तियाँ थीं परन्तु काल-चक्र में पड़कर नष्ट हो गईं। राजा पटनीमल ने इसका जीर्णोद्धार कराया है।

द्वारिकाधीश का मन्दिर—अत्यन्त प्रसिद्ध मन्दिर है, जो शहर के मध्य में अवस्थित है। इसमें श्रीकृष्ण की चतुर्भुजी मूर्त्ति है। यहाँ अनेकों उत्सव होते हैं और

भोग-प्रसाद भी भारी संख्या में प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ गोशाला तथा पाठशाला भी हैं।

गोविन्ददेव का मन्दिर—इसमें भूदेवी और लीलादेवी सहित गोविन्द की मूर्त्ति है। साधू और विद्यार्थी नित्य प्रसाद पाते हैं। अभ्यागतों को चने बाँटे जाते हैं और भागवत पढ़ाने के लिए पाठशाला भी है।

किशोरीरमणजी का मन्दिर—यहाँ की श्रृंगारिक झाँकिया बड़ी आकर्षक होती हैं। इसके द्वारा किशोरीरमण कालिज का संचालन होता है।

गोपीनाथ का मंदिर—मूर्त्ति बड़ी सुन्दर हैं।

गोवर्धननाथ का मंदिर—इसमें शिल्प का का सुन्दर नमूना प्रदर्शित किया गया है। पत्थरों में काटी हुई जालियाँ आकर्षक हैं।

गतश्रमनारायण का मंदिर—साधारण मन्दिर है।

विश्रामघाट—यमुना किनारे है। यहाँ संध्या को आरती होती है। कहते हैं कंस-वध के पश्चात् श्रीकृष्ण ने यहाँ विश्राम किया था। ऐसा ही ध्रुवघार भी है। गौड़ीय वैष्णव मत का मठ भी है।

बाटी वाली महन्तजी की कुंज—में श्रीकृष्ण की अति सुन्दर मूर्ति है।

अजायबघर—पार्क में स्थित है। यहाँ प्राचीन ऐतिहासिक वस्तुओं का विशद संग्रह है।

शिवाश्रम—इसमें खगोल विद्या से सम्बद्ध अनेकों यन्त्र हैं।

इसके अतिरिक्त अनेकों धर्मशालाएँ और दक्षिण में विशाल द्वार है, जिस पर घड़ी लगी है और इसका नाम होली दरवाजा है।

गोकुल (महावन)—श्रीकृष्ण की जन्मभूमि है। मार्ग में लोहवन पड़ता है। कहा जाता है यह लोहासुर दैत्य की राजधानी थी।

बरसाना—यहाँ वृषभानु गोप रहा करते थे। यहाँ एक पहाड़ है जिसे ब्रह्माजी का रूप माना जाता है। यहाँ पर साँकरी खोर देखने के योग्य है। पहाड़ के ऊपर राधा जी का मन्दिर है। ऊपर तक जाने वाली सीढ़ियों पर ही एक ओर महिभानु का मंदिर है जो राधा के पितामह कहे जाते हैं तथा दूसरे मन्दिर में राधा के पिता वृषभानु की मूर्त्ति है। इसके अतिरिक्त अन्य मूर्तियाँ भी हैं, जिनमें राधा के भाई श्रीदामा और उनकी आठ सखियों में ललिता, विशाखा, चम्पकलता, रंगदेवी, चित्रलेखा, इन्दुलेखा, सुदेवी और तुंगविद्या की मूर्तियाँ हैं और मन्दिर हैं।

पास ही प्रेम-सरोवर है। इसके समीप ही पान-सरोवर है। कदम्ब के वृक्षों की एक क्यारी है जिसे उद्धव-कुंज कहते हैं। यहाँ एक वृक्ष ऐसा भी है जिसके पत्ते दोने के आकार के समान होते हैं। यहाँ होली का त्योहार बड़ी धूमधाम से मनाते हैं।

नन्दगाँव—यहाँ नन्द जी निवास करते थे। यहाँ एक पहाड़ भी है जो शिव रूप माना जाता है। इसके ऊपर नन्दजी का मन्दिर है। इसमें नन्द, यशोदा, श्रीकृष्ण-बलदेव की मूर्तियाँ हैं। इनकी ड्योंढ़ी पर नन्दीश्वर महादेव का मन्दिर है। पहाड़ पर राधा-कृष्ण के चरण-चिन्ह बने हैं।

व्रज के अन्यान्य दर्शनीय स्थानों में दाऊजी, गरुड़ गोविन्द, गोवर्धन, जतीपुरा, डीग के भवन, कामवन के कुण्ड तथा गुफाएँ आदि रमणीक स्थान हैं। व्रज चौरासी कोस की परिक्रमा करने में लगभग सभी स्थानों के दर्शन हो जाते हैं। यह यात्रा सामूहिक रूप से आरम्भ हुआ करती है और गोस्वामी-गण इसका संचालन करते हैं। सैंकड़ों यात्री इसमें सम्मिलित होते हैं। पहली और तीसरी यात्रा मथुरा से तथा दूसरी यात्रा वृन्दावन से आरम्भ होती है।

व्रज का विहंगावलोकन—व्रजमण्डल के अन्तर्गत बहुत से ऐसे स्थान हैं, जिनका वर्णन अलग-अलग करने से एक बृहत ग्रन्थ तैयार हो सकता है। इनके नाम तथा संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैः—

वन—वृन्दावन, मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन, कामवन, खदिरवन, भद्रवन, भांडीर वन, बेलवन, लोहवन, महावन।

उपवन—गोकुल, गोवर्द्धन, बरसाना, नन्दग्राम, परमदरो, आदिबद्री, संकेतवन, शेषशायी, मांट, खेलवन, गंधर्ववन, वच्छवन, दधिवन, राधाकुंड आदि।

सरिताएँ—तरनितनूजा, मानसीगंगा, कृष्ण गंगा, चरणगंगा और सरस्वती—मथुरा में जहाँ इसका संगम होता था वह स्थान आजकल सरस्वती सगम कहलाता है।

झूलन स्थान—गोवर्द्धन पर्वत, संकेतवन, करहला श्रीकुंड, अजनोखर, वृन्दावन।

सरोवर—मानसरोवर, हंस, पान, चन्द्र और प्रेम सरोवर।

पोखर—कुसुम, पीली, अजनोखर, पिसाये की पोखर, हरती की और भानोखर।

ताल—रामताल, सरवारी ताल।

देवी—वृन्दादेवी, उपवन, संकेत, मथुरा, मुखरा, विह्वला, कात्यायिनी, नोवारी, मनसा, चोवारी, चर्चिका और पाताल देवी।

महादेव—गोपेश्वर, भूतेश्वर, चकलेश्वर, कामेश्वर, रंगेश्वर, गोकर्णेश्वर, बूढ़े बाबू, नंदीश्वर तथा हवरेश्वर।

कूप—सप्त समुद्रकूप, हगीकूप, इन्द्रकूप, चन्द्र, भांडीर, कुन्ता, वेन, नंद, कर्ण वेध, कृष्णकूप और गोपकूप।

सिंहासन—विल्छू, भोजनथारी, चरन पहाड़ी, लुक लुक कंदरा, सुनहला, कदम्बखंडी, गोवर्द्धन ।

शिला—सिन्दूरी, कजली, सुन्दर, सुगन्धी, वाजनी, शृंगार, मानिक, चित्र-विचित्र, खिसलनी और दंडवती स्नान ।

चरण-चिन्ह—नन्दग्राम, सुरभीकुंडकूल, गोवर्द्धन पर्वत, गोवर्द्धन शिखर, हस्तिपद निकट, वड़ी चरन पहाड़ी, छोटी चरन पहाड़ी ।

कदम्बखंडी—गोवर्द्धन, गांठोली, करहला, सुनहला, और गोविन्द स्वामी की कदंवखंडी ।

कुंड—क्षीर सागर, पंच, यशोदा, जल-विहार, नृसिंह, अभिमत, सुशमा, छवीला, व्रह्म, खेलन, किशोरी, अप्सरा, चरन, वामन, मत्स्यरतन, रुक्मिणी, अवंतरी, विशाखा, निवास, धर्म पंच तीर्थ, महोदधि, पुष्कर, गोपी, परम द्रव्य, रुद्र, सूर्य, देवी, सकेत सेतु, भोग, मानसी, केदार, मोहिनी, दोहिनी, राधाकुंड, कृष्णकुंड, शोतनु, नारद, अयोध्या, पापमोचन, ऋणमोचन, धर्म रोचन, गोरोचन, बराह, रोहिणी, श्याम, माया, निमिषारण्य, यमुना, दावानल, महला, हरदी, धर्म, लंका, मनकामना, प्रयाग, काशी, मनिकुंड, गुलाल, सुकटा, रंगीला, विशाल, संकर्षन, बद्री, शृंगार, गोविन्द, देह, गोमती, मधु, विह्वल, विमल, मनकरन, श्वेत, बंध, घोसरानी, सरस्वती, शीतल, हचोली, विशाल, विश्राम, माधो, ललिता कुंड, अकाविहार, हरद्वार, वल्लभ-भामिनी, सत्यभामा, ऐरावत, सुरभी तथा लुकलुकी कुंड ।

घाट—कालीदह, पुस्कदन, सूर्य, विहार, शृंगार, चीर, भ्रमर, केशी, राजघाट, वाराह, युगलघाट तथा विश्राम ।

व्रज का भौगोलिक वर्णन

मथुरा २७° १४′ ३१″ तथा २७° ५८′ उत्तरी अक्षांश के मध्य में तथा ७७° १९′ ३०″ और ७८° ३३′ पूर्वी देशान्तर के मध्य में स्थित है । सन् १८८१ ई० में इसकी जनसंख्या ६७१६९० थी । इसके उत्तर में गुड़गांव है, जो पंजाब प्रान्त के अन्तर्गत है और अलीगढ़ है जो उत्तर-प्रदेश में हैं । इसके पूर्व में अलीगढ़ तथा एटा हैं । दक्षिण में आगरा है । पश्चिम में भरतपुर तथा गुड़गांव हैं । यह नगरी यमुना के किनारे पर बसी हुई है । इसका प्राचीन नाम मदुरा तथा मेथोरा भी बताया जाता है ।

प्राकृतिक वर्णन—यमुना के दोनों तटों पर फैला हुआ यह प्रदेश असमान है । भरतपुर की ओर चूने की छोटी-छोटी पहाड़ियां हैं, जो कहीं-कहीं धरातल से २०० फीट तक ऊंची हैं । इसकी ऊंचाई समुद्र-तह से ६०० फीट के लगभग है । यमुना के द्वारा इसे दो भागों में विभाजित कर दिया गया है ।

नोह की झील प्रसिद्ध है, जो दलदल से भरी हुई है। यह लगभग २३ मील लम्बी है और १३ मील चौड़ी है। वर्षा में इसका क्षेत्र बढ़ जाता है। वनों से प्राप्त लकड़ी केवल ईंधन के काम में लाई जा सकती है। घास पर्याप्त होती है। औषधियों के उपयुक्त पौधे तथा जड़ी-बूटियाँ पर्याप्त मिलती हैं। बरसाना तथा नंदगांव में पथरीली पहाड़ियाँ हैं, जिनसे पत्थर प्राप्त हो सकता है। कंकड़ तो प्रचुर मात्रा में मिलता है। जानवरों में चीता, भेड़िया, लकड़बघ्घा, सेई तथा नीलगाय मुख्य, रूप से पाये जाते हैं।

ऐतिहासिकता—मथुरा का मध्य भाग धार्मिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह सब ब्रज चौरासी-कोस कहलाता है। मथुरा, गोवर्द्धन, गोकुल, महावन और वृन्दावन से बहुत से प्राचीन उत्कीर्ण तथा वस्तुएँ प्राप्त हैं। यहाँ श्रीकृष्ण-बलराम गो-चारण के हेतु पधारते थे। बौद्ध-काल में मथुरा बौद्ध-धर्म-प्रचार का केन्द्र था। सन् १०१७ में, महमूद गजनी के आक्रमण के पश्चात् अकबर के राज्य-शासन तक मथुरा महत्वपूर्ण नहीं रही। भरतपुर-नरेश जाट सूरजमल्ल के उदय के साथ-साथ मथुरा पुनः चमक उठी। सूरजमल्ल के पिता बदनसिंह ने सहार को अपनी राजधानी बनाया था। पुत्रों में राज्य-विभाजन करते समय मथुरा सूरजमल्ल को दी गई थी।

जैसा कि हम अन्यत्र बता चुके हैं, चीनी यात्री ने मथुरा का वर्णन अपनी पुस्तक में किया है।

१७४८ ई० में मुग़ल-बादशाह अहमदशाह ने, वजीर सफदरजंग की अध्यक्षता में, जाटों की सहायता से रोहिल्ला विद्रोह का दमन किया। १७५७ ई० में अहमदशाह दुर्रानी ने आक्रमण किया और नर-संहार का भीषण दृश्य उपस्थित किया। १७८८ ई० में सिन्धिया और राजपूतों के संघर्ष के फलस्वरूप आगरा तथा मथुरा सिन्धिया ने जीत लिये। इसके पश्चात् १८५७ ई० तक मथुरा इन सब उत्पातों से सुरक्षित रहा आया; परन्तु १४ मई को विद्रोह का झंडा उठ गया और अक्टूबर ५ तक स्थिति डाँवाडोल रही आई। विद्रोही नेता देवकर्ण की गिरफ्तारी के बाद शान्ति हुई।

इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य की शोभा बन कर रहने वाली मथुरा आज स्वतंत्र भारत की धार्मिक तथा आध्यात्मिक नगरी है।

कृषि क्षेत्र—लगभग १०४८ वर्गमील में खेती होती है। यहाँ की फसलों में ज्वार, बाजरा और कपास मुख्य हैं। रबी की फसल में गेहूँ, चना और जो मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त गन्ना, तम्बाकू और साग-भाजी भी होती है।

व्यापार तथा वाणिज्य—खेतिहर प्रदेश होने के कारण निर्यात के उपयुक्त सामग्री उत्पन्न नहीं होती है। व्यापारिक-मार्गों के लिए सुन्दर सड़कें हैं तथा दो रेलवे

लाइनें भी हैं जो लगभग ४० मील लम्बी हैं। सड़कों में से आगरा, दिल्ली, भरतपुर तथा हाथरस को जाती हैं।

शासन-प्रबन्ध—मथुरा में जिलाधीश है तथा कुछ उसके सहकारी भी रहते हैं। इनके अतिरिक्त तहसीलदार भी होते है। कलक्टरी और दीवानी दोनों ही कचहरियाँ हैं।

स्वास्थ्य विभाग—मथुरा की जलवायु शुष्क तथा गर्म है। गर्मी-सर्दी दोनों ही कड़ाके की पड़ती हैं। मथुरा, वृन्दावन, और कोसी में बड़े अस्पताल हैं। शेष स्थानों में छोटे-छोटे आयुर्वेदीय औषधालय भी हैं।

मथुरा शहर का वर्णन चीनी यात्री फाइयान ने भी किया है, जो भारत में ईस्वी सन ४०० में आया था। हुयेनसांग ने भी मथुरा का वर्णन किया है जो भारत में ६५० ई० में आया था।

शहर की प्राचीन कलात्मक वस्तुओं का विवरण श्री ग्रॉस (Growse) ने अपनी पुस्तक 'मथुरा' में विस्तार से किया है।

शहर में एक जामा मसजिद है। ईदगाह अथवा कटरा भी है। ऐसा जान पड़ता है कि यह स्थान प्राचीन काल में बौद्ध धर्मावलम्बियों के हाथों में रहा होगा। दीवारों पर बने हुए चित्र बौद्धकालीन कथाओं से सम्बद्ध हैं। समग्र मथुरा में भागवत-धर्म का प्रबल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं प्राचीन शिल्प से प्रभावित मकान भी दिखाई पड़ने हैं। मथुरा शहर बाहरी आक्रमणों का शिकार सदैव ही रहा है। १०१७-१८ में महमूद ग़जनी ने उसे लूटा। १५०० ई० में सुल्तान सिकन्दर लोदी ने लगभग समस्त मन्दिरों, मूर्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। १६६९-७० में औरंगजेब ने इस नगरी को तोड़-फोड़ डाला। १७५६ ई० में २५ हजार अफगानों ने अहमदशाह अब्दाली के आधीन चढ़ाई की और पर्याप्त हानि पहुँचाई। राजा भगवानदास ने १५७० ई० में "सतीबुर्ज" बनवाया था, १६६२ ई० में अकुलनबी खाँ नें जामा मसजिद बनवाई थी, १८१५ ई० में द्वारिकाधीश मन्दिर बना, १८६७ ई० में विजय गोविन्द आदि के मन्दिर निर्मित हुए, जो आज भी दर्शनीय हैं।

मथुरा तीर्थ-स्थान है। आज भी लाखों व्यक्ति, दूर-दूर से आते हैं। भगवान श्रीकृष्ण की लीला-भूमि होने से इस नगर का पर्याप्त महत्व है।

वृन्दावन—मथुरा जिले के अन्तर्गत है। यहाँ नगरपालिका भी है। यमुना के दाहिने तट पर स्थित है। उत्तरी अक्षांश २७° ३३′ २०″ पर तथा पूर्वी देशान्तर ७७° ४४′ १०″ पर स्थित है। १८८१ ई० में जनसंख्या २१४६७ थी, जिनमें से २०६२९ हिन्दू तथा ७९४ मुसलमान, ३२ जैनी और १२ ईसाई थे। हिन्दुओं का पवित्रतम धार्मिक तीर्थ-स्थान है। यहाँ अनेकों मंदिर है। सबसे प्राचीन मंदिर गोविन्ददेव

जी का है जो १५६० ई० में राजा मानसिंह ने बनवाया था। इसके अतिरिक्त शाहजी तथा रंग जी आदि के मन्दिर भी हैं। यमुना के घाट भी बड़े सुन्दर बने हुए हैं। किसी समय यहाँ खुशहालबाग नामक परम रम्य स्थान था। अहिल्याबाई द्वारा निर्मित कुआं भी एक दर्शनीय स्थान है। ब्रह्मकुन्ड और गोविन्दकुन्ड प्रसिद्ध कुन्ड हैं। यहाँ अस्पताल तथा स्कूल भी हैं। विभिन्न आश्रम भी हैं।

मथुरा से तांगा, मोटर आदि के द्वारा भी जा सकते हैं। एक रेलवे लाइन भी है। प्राचीन काल में ऊँट गाड़ी से भी यात्रा करते थे। यत्रतत्र अब भी ऊँट गाड़ी से यात्री लोग आते जाते हैं। मार्ग में विरला बन्धुओं द्वारा निर्मित गीता मंदिर भी है।

गोकुल—मथुरा जिले के अन्तर्गत है। यमुना के दायें किनारे पर स्थित है। उत्तरी अक्षांश २८° २६′ तथा पूर्वी देशान्तर ७७° ४६′ ३०″ पर स्थित है। यह मथुरा नगर से, दक्षिण-पूर्व दिशा में, छह मील की दूरी पर स्थित है। भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-भूमि होने से इस स्थान की बड़ी मान्यता है और बड़ा महत्व है। कहा जाता है कि सोलहवीं शताब्दी में श्री वल्लभाचार्य जी ने अपना सर्वप्रथम उपदेश इसी स्थान पर दिया था।

पाँचवाँ अध्याय

कुब्जा की कल्पना

श्रीकृष्ण-साहित्य में, विशेषकर रीतिकाल में कुब्जा का जैसा चित्रण किया गया है, वह स्वाभाविक रूप से आलोचक के मन में शंका उत्पन्न करता है। इसलिए, इस दिशा में विचार करना आवश्यक जान पड़ता है।

श्रीमद्भागवत में कुब्जा का वर्णन सबसे पहले स्कंध १० के ४२ वें अध्याय में आता है। इसमें कहा गया है कि श्रीकृष्ण ने राजमार्ग से जाते हुए एक युवती स्त्री को देखा जो सुन्दर मुखवाली किन्तु कुब्जा थी। वह अपने हाथ में चंदन का पात्र लिए हुए थी।[1] उस सैरन्ध्री ने अपना नाम त्रिवक्रा बताया।[2] उसने अपना घिसा हुआ चंदन श्रीकृष्ण को दे दिया। श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर तीन स्थान से टेढ़ी कुब्जा के पंजों को अपने पैरों से दबाया और ऊपर को की हुई अपने हाथ की दो अंगुलियाँ उसकी ठोड़ी में लगा कर उसके शरीर को उचका दिया। इससे उसके सब अंग समान होगये और सीधे होगये। वह तत्काल उत्तम नारी होगई।[3]

इस घटना के पश्चात् श्रीकृष्ण का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और वे विद्याध्ययन के हेतु गुरुकुल में गये। तत्पश्चात् उद्धव रथ पर सवार होकर गोकुल गये। वहाँ उन्होंने गोपियों से बात चीत की और भ्रमरगीत का जन्म होगया। उद्धव गोकुल से लौट पड़ते हैं। दशम स्कंध के अड़तालीसवें अध्याय में श्रीकृष्ण का कुब्जा के घर जाने का वर्णन किया गया है। वे अकेले ही नहीं गये, उनके साथ उद्धव जी भी थे, जो आसन को हाथ से छूकर पृथ्वी पर बैठ गये।[4]

---

१. अथ व्रजन्राजपथेन माधवः
स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम्।
विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां
प्रपच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः। १०। ४२। १.

२. जो स्त्रियाँ उबटन लगाना, स्नान कराना आदि कार्य करती हैं उन्हें सैरन्ध्री कहा जाता है। साधारण भाषा में 'नाइन' कहते हैं।

३. स्कंध १०। अध्याय ४२. श्लोक १—८।

४. तथोद्धवः साधु तयाभि पूजितोन्यषीदद्गुर्व्यामभिमृश्य चासनम् १०।४८।४

वर्णन किया गया है कि उद्धव तो पृथ्वी पर बैठ गये और श्रीकृष्ण लोकाचार का अनुकरण करते हुए महामूल्यवान शय्या पर जा बैठे। तब श्रीकृष्ण ने कुब्जा के कंकण-भूषित-कर-कमल को पकड़ कर अपने पास बिठा लिया। उसने श्री अनन्त के चरणों को अपने हृदय, वक्षस्थल और नेत्रों पर रखकर सूँघते हुए अपनी मनः कामना पूर्ण की और अपने हृदय के बीच में आनन्द-मूर्ति प्रियतम को प्राप्त कर अपनी चिर-काल की विरह व्यथा शान्त की।[1] तब उससे भली प्रकार पूजित हो प्रिय भक्त उद्धव के साथ श्रीकृष्ण घर को लौट आये। ऐसा भी वर्णन है कि श्रीकृष्ण ने पुनः उसके घर आने की स्वीकृति प्रदान की थी।

श्रीमद्भागवत् के इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुब्जा का कोई सम्बन्ध-विशेष श्रीकृष्ण के साथ नहीं रहा क्योंकि इन दो अध्यायों के अतिरिक्त उसका वर्णन कहीं भी नहीं आया है। पुराणों में तो कुब्जा का नाम भी नहीं है। रीतिकाल के कवियों ने कुब्जा का जैसा वर्णन किया है वह अवश्य अश्लील है और उससे श्रीकृष्ण के मानव-चरित्र पर धब्बा आ सकता है। इसके अतिरिक्त भागवत में, आगे चल कर कुब्जा का कोई वर्णन नहीं है। यदि श्रीकृष्ण का सम्बन्ध कुब्जा के साथ इन्द्रियजन्य ही होता तो वे उद्धव को अपने साथ लेकर क्यों जाते ? कुब्जा ने श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी पर रीझ कर, कंस के हेतु प्रस्तुत किया गया चंदन उन्हें समर्पित कर दिया। वह निश्चय ही परिगणित जाति की नारी थी, इसलिये श्रीकृष्ण स्वयं उसके घर गये और उसकी सेवा को स्वीकार करके वर्णाश्रम धर्म के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया कि सेवा की भावना से बढ़ने वाला व्यक्ति सदैव ही स्नेह का पात्र है, उसके विषय में ऊँचे-नीचे और छोटे-बड़े तथा अवर्ण-सवर्ण का विचार करना व्यर्थ है। यह श्रीकृष्ण का अत्यन्त क्रांतिकारी कदम था। इस दिशा में वे अत्यन्त प्रगतिशील माने जाने के योग्य हैं।

सूरदास जी ने कुब्जा का चित्रण यथा-स्थान गोपियों के द्वारा कराया है। जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं भागवत में कुब्जा का परिचय कृष्ण को उसी समय हो जाता है जब वे धनुप-शाला की ओर जाते हैं। सूर का पद इससे मिलता-जुलता ही है।[2] श्रीकृष्ण चंदन स्वीकार करके उसे सुन्दर स्वरूप प्रदान कर देते हैं और गृह को लौटा देते हैं। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण को पुनः कुब्जा मिलती है। भागवत और सूर के विवरण

---

१. स्कंध १०।४८।६--८

२. लिए चंदन बहुरि आनि कुबिजा मिली, स्याम अंग लेप कीन्हों बनाई।
रीझितिहिं रूप दियौ, अंग सूधौ कियौ, बचन सुभ भाषि निज गृह पठाई॥
सूरसागर दशमस्कंध ३०४७।३६६५। पृ० १२६६-६७

में इस भेट के विषय में थोड़ा सा भेद है। भागवत में तो श्रीष्कृण स्वयं कुब्जा के घर जाते हैं परन्तु सूरसागर में कुवलिया-वध से पूर्व ही कुब्जा श्रीष्कृण को अपने घर ले आती है।[१] इसके पश्चात् पुनः श्रीकृष्ण उसे कूबर मे मुक्त करके सौन्दर्य प्रदान करते हैं।[२] भागवत में कुब्जा के हृदय में श्रीकृष्ण को पतिरूप में प्राप्त करने की अभिलाषा का वर्णन नहीं है। यहाँ तो वे उसकी सेवा-भेट स्वीकार करके आगे बढ़ जाते हैं, उसके घर आने का वादा भी नहीं करते हैं।

जिस प्रकार से भागवत में, श्रीकृष्ण का कुब्जा के गृह पधारने का वर्णन है तथा ऊधव को साथ ले जाने का भी उल्लेख है वैसा सूरसागर में नहीं है। यहाँ तो श्रीकृष्ण कंस के पश्चात् उग्रसेन को राज्य सिंहासनासीन करते हैं और तब पुनः कुबरी उनसे दर्शन-लाभ करती है।[३] सूर की सम्मति में श्रीकृष्ण का कुब्जा गृह-प्रवेश उसकी पूर्वजन्म की तपस्या का फल है।[४] जैसा हमने माना है, सूर ने पहले ही उसकी घोषणा करदी कि श्रीकृष्ण जाति पाँति को ठोकर मारकर कुब्जा के घर गये।[५] यह उनका परम सुधारक का रूप था। सूरदास ने कुब्जा के सौभाग्य की भूरि-भूरि

---

१. जाके अस्त्र तिनहिं तेहि मारयौ चले सामुही खोरी।
सूर कूबरी चंदनलीन्हे, मिली स्याम कौं दौरी। ३०४९।३६६७
प्रभु तुमकौं मैं चंदन लाइ।
गहौ स्याम कर अपने सौं, लिए सदन कौं आई ।।३०५०।३६६८।

२. कूबरी नारि सुन्दरी कीन्ही
ग्रीवकर परसि पग पीठि तापर दियो, उरबसी रूप पटतरहिं दीन्ही।
चित वाकैं इहै स्याम पति मिलैं मोहि...
ताहि अपनी करी चले आगैं हरी...
—ना० प्र० संस्करण २००७ वि० खण्ड दो, सूरसागर।

३. उग्रसेन कौं धाइ मिले हरि, अभय अचल करि राज दियौ।
मिली कबरी चंदन लै कें ऐसें हि हरि को नाम लियो ।। पृ० १३२०।

४. कूबरी पूरब तप करि राख्यौ।
आए स्याम भवन ताही कें, नृपति महल सब नाख्यौ।

५. भक्त बछल श्रीजादवराइ
गेह कूबरी कैं पगधारे जाति पांति बिसराइ।

प्रशंसा की है।[१] इतना सब होते हुए भी रीतिकाल के कवियों की भाँति कुब्जा-समागम का कोई उल्लेख नहीं किया है यद्यपि सूर ने राधा-कृष्ण के सहवास का अश्लीलतापूर्ण चित्र प्रस्तुत करने में हिचकिचाहट नहीं की है।[२] इससे यह तो प्रमाणित हो ही जाता है कि श्रीकृष्ण का इन्द्रिय-जन्य सम्बन्ध कुब्जा से नहीं था।

आगे चलकर भागवत की भाँति, केवल गोपियों के उपालम्भों को छोड़कर सूरदास ने कुब्जा का कोई वर्णन कहीं नहीं किया है। यह भी एक आश्चर्य है।

गोपियों ने कुब्जा के सम्बन्ध में विभिन्न विचार प्रकट किए हैं और अनेकों धारणाएँ रखी हैं। उनके हृदय में यह बड़ा संताप है कि कुब्जा श्रीकृष्ण-प्रेम की अधिकारिणी हो गई है।[३] वे उद्धव से यह भी कहती हैं कि अपने इस संदेश को तुम कुब्जा को ही सुनाओ तो शुभ है।[४] वे कटूक्तियों का प्रयोग भी सफलता से करती हुई कहती हैं कि कुब्जा के संयोग की अवस्था को हम कैसे जान सकती हैं।[५] यह तो भ्रमर-समान पुरुषों के अनुकूल ही है।[६] कहीं-कहीं तो उनकी यह सहज-स्वाभाविक ईर्ष्या अत्यन्त प्रखर हो उठती है और गोपियाँ कुब्जा को कंस की दासी, कुटिल, कुचील तक

---

१. "कुबिजा सदन आए स्याम
कृपा करि हरि गए प्रथमहिं भई अनुपम बाम।।"
"कुबिजा हरि की दासी आहि"
"मथुरा के नर नारि कहैं
कहा तपस्या करि इहि राखी....।"
भाग कुबरी कौ कौन ताहि पटतर पावै।"
"कुबिजा सी भागिन को नारि"
"कुबिजा तौ बड़भागी ह्वै" पृ० १३२१ सूरसागर ना० प्र० स० संस्करण

२. राधामाधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई।
—४६१०-पृष्ठ १७०७-८

३. हरि आगैं कुबिजा अधिकारिन, को जीवै इहिदाय। ४१०७

४. यह उपदेस देहु लै कुबिजहिं जाके रूप सुभाने हो। ४१३८

५. हम अहीरि इतनी का जानैं, कुबिजा सौं संयोग। ४२०८

६. माई मधुपन की यह रीति
नीरस जानि तजत छिन भीतर नवल कुसुम रस प्रीति।
हमहिं छाँड़ि बिरमहिं कुबिजा संग...। ४२११

कहने में पीछे नहीं रहती हैं।[१] कुब्जा के द्वारा चन्दन समर्पण करने को वे अत्यन्त तुच्छ प्रयास समझती हैं।[२] और उनको कृष्ण-कुब्जा सम्मिलन पर हँसी भी आती है क्योंकि वे इस संयोग को मर्यादानुकूल नहीं मानती हैं। वे अत्यन्त दूरदर्शी भी हैं और ताँत बजते ही राग पहचान लेती हैं। कृष्ण-कुब्जा-प्रणय पर उन्हें पर्याप्त रोष है।[३]

श्रीकृष्ण के लिए गोपियाँ आदेश भेजती हैं कि वे कुब्जा का परित्याग कर दें, ब्रजवासी उनकी हँसी उड़ाते हैं।[४] श्रीकृष्ण का योग धारण करने वाला संदेश गोपियों को बिल्कुल प्रिय नहीं है।[५] ब्रज-निवास के समय मुरली के कारण गोपियों में सौत-भाव विद्यमान था तो मथुरा-प्रवास में कुब्जा उपस्थित है।[६] परन्तु उनका दृढ़ विश्वास है कि श्रीकृष्ण उनके ही हैं, किसी अन्य के नहीं हो सकते हैं । यद्यपि सबकुछ नवीन ही

---

१. मधुकर उनकी बात हम जानी।
कोऊ हुती कंस की दासी, कृपा करी भई रानी।।
कुबिजा नाउँ मधुपरी बैठी, लै सुबास मनमानी।
कुटिल कुचील जन्म की टेढ़ी, सुन्दरि करि घर आनी।।
अब वह नवल वधू ह्वै बैठी ब्रज की कहति कहानी।
सूर स्याम अब कैसें पैये, विनसौं मिली सयानी।। ४२५४

२. 'ऊधो यहै अचंभौ बाढ़।
आपु कहाँ ब्रजराज मनोहर, कहाँ कूबरी राढ़?' ४२६०
"सुनि सुनि ऊधौ आवति हाँसी।
कहँ वै ब्रह्मादिक के ठाकुर कहाँ कंस की दासी।" ४२६१

३. बाजी ताँत राग हम बूझौ
नृप हति छाँडि सकल ब्रज-बनिता कान्ह कूबरी रीझौ। ४२६८

४. ऊधौ जू जाइ कहौ दूरि करैं दासी।
गोकुल की नागरी सब नारि करैं हाँसी।।
जाति हीन, कुल विहीन, कुबिजा वै दोऊ। ४२७१

५. मोहिं अलि दुहूँ भाँति फल होत।
तब रस अधर लेति ही मुरली, अब भई कुबिजा सौत। ४४३५

६. ब्याहौ बीस धरौ दस कुबिजा, अंतहु स्याम हमारे। ४५८५

नवीन है।[१] इसी कारण श्रीकृष्ण कुब्जा के माया-पाश में आबद्ध हो गये हैं।[२] ऐसा जान पड़ता है कि इसी नवीनता के कारण श्रीकृष्ण भी बदल गये हैं।[३] परन्तु ऐसी असमानता क्यों है कि कुब्जा जैसी नारी को तो श्रीकृष्ण जैसा सुन्दर-वर प्राप्त हो और गोपियाँ योग साधना करें।[४] कुब्जा का साथ वेद-विधान के अनुकूल नहीं है।[५]

समान रूप से गोपियाँ भी यही मानती हैं कि त्रेता युग की शूर्पनखा ही द्वापर की कुब्जा है।[६] समयानुसार शरीर धारण करके उसे श्रीकृष्ण का साहचर्य प्राप्त हुआ है।

नंददास ने अपने भ्रमरगीत में कुब्जा का कोई प्रभावशाली उल्लेख कहीं नहीं किया है। गोपियों के समस्त उपालंभ सीधे और खरे हैं जो श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रखते हैं। केवल दो पद ऐसे हैं, जिनमें कुब्जा का वर्णन है और श्रीकृष्ण को गोपीनाथ से कूबरीनाथ बन जाने पर फटकारा गया है।[७] इतना ही नहीं श्रीकृष्ण पर दोषारोपण भी किया है।[८] गोपियों ने श्रीकृष्ण को ही निर्मोही आदि विशेषणों से पुकारा है और

---

१. ऊधौ नूतन राज भयौ।
 नए गुपाल नई कुबिजा बनी, नूतन नेह ढयौ।
 नए सखा जोरे जादव कुल,.........४५६१

२. ऊधौ अब कछु कही न जाइ।
 रानी भई कूबरी दासी, कापै बरनी जाइ।
 जोइ जोइ मंत्र कहत कुबिजा है, सोइ सोइ लिखत बनाइ। ४६१७

३. अब तौ रँगे रँग कुबिजा के, बिसरि गई ब्रजनारी। ४६२५

४. मोहन सौं बर कुबिजा पावै, हमकौं जोग बतैये। ४६५१

५, दासी कुबिजा नीच कुसँगति कौन वेदमति पाई। ४७११

६. राम जनम सीता जु दुराई। वधू भई अब कुबिजा पाई।

७. कोउ कहै रे मधुप तुम्हें लज्जा नहिं आवै।
 सखा तुम्हारो स्याम कूबरीनाथ कहावे॥
 यह नीची पदवी हुती गोपीनाथ कहाय,
 अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठन खाय।
 मरत कह बोल को।

८. कोउ कहै हे मधुप स्याम जोगी तुम चेला,
 कुबजा तीरथ जाय कियौ इंद्रिन को मेला।
 मधुबन सुधि बिसराय कै आये गोकुल माँहि,
 इहाँ सबै प्रेमी बसैं तुम्हरो गाहक नाँहि।
 पधारो रावरे॥

कुब्जा के प्रति न तो व्यंग्य ही किया और न उसे श्रीकृष्ण को छलना-प्रवंचना में बद्ध करने वाली बताया है।

इस प्रकार कम से कम इन दोनों प्रमुख कवियों की मान्यता और दृष्टिकोण में हमें पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। सूरदास की गोपियों का सौतिया-डाह सीधा है और कुब्जा के प्रति स्पष्ट रूप से है; परन्तु नंददास की गोपियाँ इस सबका मूल कारण श्रीकृष्ण को ही मानती हैं।[1]

आध्यात्मिक पक्ष में, कुब्जा और कृष्ण-प्रणय से यह तो सिद्ध हो जाता है कि भगवान् से सम्बद्ध होने पर विषयासक्ति भी शुद्ध होकर पवित्रतम रूप धारण कर लेती है। साधारण दासी होते हुए भी श्रीकृष्ण के दर्शनों से और उनके प्रति सात्विक-स्नेह से कुब्जा सुधर गई। इस सम्बन्ध में काम-सम्बन्ध की कल्पना-मात्र भी सदोष है। श्रीकृष्ण उसके घर गये और उसे ज्ञान प्रदान किया कि जीवात्मा यदि एक बार भी ईश्वरोन्मुख हो जाय तो पूर्व-जन्म के पाप-ताप उसके भगवत्प्राप्ति के मार्ग में बाधा नहीं डाल सकते हैं, क्योंकि भगवान् स्वयं उसके पापों को नष्ट कर देते हैं।[2] शरणागत के पापों के प्रक्षालन की प्रतिज्ञा भगवान् ने गीता में स्वयं की है।[3]

रीतिकाल के कवियों ने कुब्जा की स्थिति-परिस्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। नायिका भेद के अन्तर्गत 'सौत' का वर्तमान होना विरहिणी नायिका के विरह और ईर्ष्या को उद्दीप्त करने वाला होता है। रीतिकाल में लक्षण-ग्रन्थ लिखने वाले को

---

१. कोउ कहै रे मधुप होंहि तुमसे जो संगी,
क्यों न होहि तन स्याम सकल बातन चौरंगी।
गोकुल में जोरी कोऊ पाई नाँहि मुरारी।
मदन त्रिभंगी आपु हैं, करी त्रिभंगी नारि।।
रूप गुन सील की।

—रासपंचाध्यायी और भँवरगीत सं० डा० उदयनारायण तिवारी
सं० १९९३ वि० पृष्ठ १६-१७

२. सन्मुख होइ जीव मोहि जब हीं,
कोटि जनम अघ नासहुँ तब हीं।
—लंकाकाण्ड,

३. अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।
—गीता।

हो कवि मांना जाता था, इसीलिये तो भूषण जैसे राष्ट्रीय-कवि को भी नायिका-भेद लिखना पड़ा। कुब्जा में सौत के समस्त गुणावगुण सहजरूप में आरोपित करके रीति-कालीन कवियों ने उत्प्रेक्षालंकार का द्वार उन्मुक्त कर दिया। कल्पना की झोंक में, कवियों की लेखनी की नोंकें फिसल-फिसल पड़ी हैं।[1]

रीतिकालीन कवियों ने श्रीकृष्ण और कुब्जा-प्रसंग को जिस रूप से चित्रित किया है, वह उस युग की भावना को परिलक्षित करने वाला है। कवियों का दोष कम है, युग का प्रभाव अधिक है। फिर भी इस प्रकार के वर्णन से श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा को धक्का ही लगा और वे योगेश्वर-पद से हट कर साधारण नायक के रूप में, विलासी कृष्ण बन कर रह गये।[2]

कहीं कहीं कुछ कवियों ने बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। राधा का व्यंग्य अत्यन्त प्रिय लगता है कि सभी लोग राधाकृष्ण कहते हैं और कहेंगे; परन्तु कूबरी-कृष्ण कोई नहीं कहेगा।[3]. ऐसा दृढ़ विश्वास सात्विक प्रेम का प्रतीक है।

---

१. ऊधम ऐसो मचो ब्रज में सबै रंग तंरग उमंगनि सीचें।
त्यों पदमाकर छज्जनि छातिन क्वै छिति छाजती केसर कीचें।।
दै पिचकी भजि भीजी तहाँ परै पीछे गुपाल गुलाल उलीचे।
एक ही संग इहाँ रपटे सखि ए भये ऊपर हौं भई नीचें।।
—काव्य प्रभाकर चतुर्थमयूख, पृष्ठ ३३५

२. अब का समुझावती को समुझै बदनामी के बीज बो चुकी री।
तब तो इतनो न विचार कर्यो इहि जाल फोर कहो को चुकीरी।।
कहि ठाकुर या रस रीति रँगे करि प्रीति पतिव्रत खो चुकी री।
सखी नेकी बदी जो हुती भाल पै होनी हुती सु तो हो चुकी री। पृ १७४

३. जो मथुरा हरि जाय वसे हमरे जिय प्रीति बनी रही सोऊ।
ऊधो बड़ो सुख एहि हमैं अति नीकी रहैं बर मूरति दोऊ।।
मेरे ही नाम की छाप पड़ी अरु अंतर बीच कहैं नहि कोऊ।
राधिका कृष्ण सबै तो कहैं पर कूबरी कृष्ण कहैं नहि कोऊ।।
—काव्यप्रभाकर तृतीयमयूख पृष्ठ १४२

स्व० जगन्नाथदासजी रत्नाकर की गोपियों ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं।[1] उन्होंने कुब्जा के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही अनोखी उद्भावना की है।[2] इसमें अप्रकट रूप से अश्लीलता की छाया होने से हम उसका विश्लेषण करने में असमर्थ हैं। कुब्जा के प्रति, यहाँ भी गोपियों का हृदय ईर्ष्यालु है, जो नारी की स्वाभाविक वृत्ति है।[3]

---

१. जोग को रमावै औ समाधि को जगावै इहाँ,
दुख-सुख साधनि सौं निपट निबेरी हैं।
कहै रतनाकर न जानैं क्यों इतै धौं आइ,
साँसन की सासना की बासना बखेरी है॥
हम जमराज की धरावतिं जमा न कछू
सुर-पति संपति की चाहति न ढेरी हैं।
चेरी हैं न ऊधौ! काहू ब्रह्म के बवा की हम,
सूधौ कहे देतिं एक कान्ह की कमेरी हैं।
—श्री जगन्नाथदास रत्नाकर कृत उद्धव-शतक, पृष्ठ १३५ ना० प्र० स० २००३ वि०

२. सीता असगुन कौं कटाई नाक एक बेरि,
सोई करि कूब राधिका पै फेरि फाटी है।
कहै रतनाकर परेखौ नाहिं या कौ नैंकु,
ताकी तौ सदाही यह पाकी परिपाटी है॥
सोच है यहै कै संग ताके रंगभौन माँहि,
कौंन धौं अनोखौ ढंग रचत निराली है।
छाँटि देत कूबर कै आँटि देत डाँट कोऊ
काटि देत खाट किधौं पाटि देत माटी है। पृष्ठ १४४

३. "केती मिली मुकति बधू बर के कूबर मैं
ऊबर भई जो मधुपुर मैं समानी ना।" पृष्ठ १३३
"वे तौ भए जोगी जाइ पाइ कूबरी कौ जोग
आप कहैं उनके गुरु हैं किधौं चेला हैं?" पृ० १४२
"कूबरी की पीठ तें उतारि भारी भार तुम्हें
भेज्यौ ताहि थापन हमारी छीन छाती पर।" पृ० १४३
"रसिक-सिरोमणि को नाम बदनाम करो,
मेरी जान ऊधौ कूर कूबरी पठाए हो।" पृ० १४४

इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि कंस के यहाँ कुब्जा नाम्नी कोई दासी थी और शासनसूत्र हाथ में लेने के पश्चात् श्रीकृष्ण ने जाति-पाँति के वन्धन को ठुकराकर उसके घर को पवित्र किया था। परन्तु भागवतकार को गोपियों के रहते हुए भी कुब्जा को स्थान देने की आवश्यकता क्यों पड़ी-इसका कोई स्पष्ट समाधान प्राप्त नहीं है। हमारी सम्मति में तो यही संभव है कि श्रीकृष्ण के मनोहारी लोकनायकत्व से शत्रु के अन्तरंग सेवक तक प्रभावित थे और उनकी श्रद्धा करते थे।

उद्धव : काल्पनिक या वास्तविक

हमारा विषय है "कृष्ण काव्य में भ्रमर-गीत" इस दृष्टिकोण से उद्धव का परिचय अत्यन्त आवश्यक जान पड़ता है; क्योंकि भ्रमर-गीत की पृष्ठ-भूमि उद्धव के निराकार संयुक्त मनोविचार तथा तर्क ही हैं। यदि भ्रमर-गीत की गाथा में से उनको पृथक कर दिया जाय तो शेष कुछ भी नहीं रहेगा।

उद्धव श्रीकृष्ण के मातुल तथा सखा थे। वे यादव सत्यक के पुत्र थे और वृहस्पति के शिष्य थे। उनका दूसरा नाम देवश्रवाः भी बताया जाता है। श्रीकृष्ण ने इनको ज्ञानोपदेश किया था और युगान्त में उद्धव जी बदरिकाश्रम चले गये थे।[1]

ऐसा भी लिखा है कि मथुरा के यदुवंशियों में वसुदेव के सगे भाई देवभाग बहुत ही प्रसिद्ध थे। जब श्रीकृष्ण देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए तभी उद्धव का जन्म देवभाग के यहाँ हुआ। उद्धव बचपन से ही भगवत्-भक्त थे।[2]

ऐसा जान पड़ता है कि भ्रमर-गीत की परिपाटी की नींव सर्वप्रथम श्रीमद्-भागवत में रखी गई क्योंकि गोपियों द्वारा दिये हुए उपालंभों का कोई विवरण किसी अन्य पुराण में नहीं पाया जाता हैं और संभवतः इसीलिये उन पुराणों में उद्धव जी का वर्णन भी नहीं है। इसलिए, थोड़े संकोच के साथ, हमें उद्धव जी की ऐतिहासिकता संदिग्ध जान पड़ती है। यह बात दूसरी है कि श्रीकृष्ण के जीवन में उनका कोई विशेष स्थान न रहा हो, इसलिए पौराणिक गाथाओं से उनको पृथक कर दिया गया हो परन्तु तब यह प्रश्न भी सहज रूप से सामने आ जाता है कि भ्रमर-गीत की उत्पत्ति कैसे हुई? मथुरा-प्रवास के समय गोपियों के करुण-क्रन्दन का उल्लेख तो पुराणों में मिलता है, परन्तु प्रिय-प्रवास के पश्चात् उपालंभों का परिचय प्राप्त नहीं होता।[3] यह आश्चर्य

---

१. विश्वकोष तृतीय भाग पृष्ठ २६० सं० नागेन्द्रनाथ वसु १९१९ ई०
२. प्रेमीभक्त उद्धव-ले० शान्तनु बिहारी द्विवेदी, सम्पादक-हनुमान प्रसाद पोद्दार सं० १९९६ वि० पृष्ठ ४
३. धन्यास्ते पथि ये कृष्णमितो यान्तमवारिताः
उद्वहिष्यन्ति पश्यन्तः स्वदेहं पुलकांचितम् ॥
अक्रूर क्रूर हृदय : शीघ्रं प्रेरयते हयान् ।
एव मार्तासु योषित्सु घृणा कस्य न जायते ॥
—ब्रह्मपुराण अ० १९२, २५, ३०।

तो है ही, इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि भ्रमर-गीत की उद्भावना सबसे पहले भागवतकार ने की है। उद्धव वास्तविक रूप से निर्गुणवादी थे और भागवतकार तथा उनके परवर्ती कवि-वृन्द सगुण-सिद्धान्त से प्रभावित थे, इसलिए वे उद्धव को प्रतिपक्षी के रूप में सामने ले आये तथा गोपियों से उनके ज्ञान का खंडन करा दिया। साकार-सगुण के सिद्धान्त को निश्चित-रूप देने के सतत प्रयत्न में पड़कर ही उद्धव के चरित्र का प्रक्षालन हुआ—अन्यथा न जाने उद्धव कबतक अंधकार में पड़े रहते। इस प्रकार हमारी सम्मति में उद्धव काल्पनिक भी हो सकते हैं और वास्तविक भी माने जा सकते हैं। वास्तविकता तो इतनी-सी ही है कि उद्धव थे और यादव-वंशी तथा श्रीकृष्ण के मातुल थे। कल्पना की रंगभूमि पर तो वे राधा से भी विवाद करते दिखाई पड़ते हैं। जैसा हमने अन्यत्र माना है राधा केवल महाकवि जयदेव की कल्पना-मात्र है, जिनको निम्बार्काचार्य ने धार्मिकता के पाटंवर से आच्छादित करके आकर्षक बना दिया है, उसी प्रकार भागवतकार और सूरदास आदि कवियों की कृपा से उद्धव भी इस भव में नव-नव होकर हमारे सामने उपस्थित होते हुए जान पड़ते हैं।

भागवत ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो उद्धव को ऐतिहासिक मानता है परन्तु अपनी विनम्र सम्मति में उद्धव काल्पनिक अधिक हैं और वास्तविक कम हैं।

भागवत के तीसरे स्कन्ध में उद्धव जी का उल्लेख किया गया है। उनको स्पष्ट ही शान्त-स्वभाव और बृहस्पति जी का विख्यात पूर्व शिष्य बताया है।[1] इस प्रकरण में उद्धव जी ने बिदुर जी से भेंट की है और आगे चलकर श्रीकृष्ण-चरित का गायन किया है। यह कथा श्रीकृष्ण के इहलोक परित्याग के पश्चात् हुई, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि उद्धव ने स्वयं यही कहा है[2] कृष्ण रूप सूर्य के छिप जाने पर, कालरूप सर्प से ग्रसे हुए अपने श्रीहीन घरों की कुशल क्या बताऊँ।[3] उद्धव जी ने यह भी कहा कि भगवान ने परमधाम जाते समय विदुर का स्मरण किया था।[4] इससे यही सिद्ध होता है कि विदुर तथा उद्धव की यह भेंट श्रीकृष्ण के परमधाम-गमन के पश्चात् ही हुई थी।

---

१. स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं
बृहस्पतेः प्राक्तनयं प्रतीतम्। स्कंध ३। १। २५।

२. स्कंध ३। २। ७। ८।

३. कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्॥ ३। २। ७ भागवत

४. आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम्। ३। ४। ३५

वस्तुतः उद्धव का प्रथम परिचय दशम स्कंध में ही प्राप्त होता है, जहाँ उनको वृष्णि वंशी यादवों में श्रेष्ठ और साक्षात् बृहस्पति जी का शिष्य, परम बुद्धिमान् तथा श्रीकृष्ण का प्रिय मित्र और सखा बताया गया है।[1] भागवत से यह स्पष्ट नहीं होता कि उद्धव जी श्रीकृष्ण के मातुल थे।

श्रीकृष्ण ने उनसे अनुरोध किया कि वे उनका संदेश लेकर गोकुल, (नंदगांव) को पधारें और उनकी परम प्रिय गोपियों को संदेश प्रदान करके उनके विरह-ताप को शान्त करें।[2] इतना सुनकर श्री उद्धव रथ पर सवार होकर गोकुल चले। इसी अध्याय में उद्धव के द्वारा श्रीकृष्ण को परब्रह्म बताया गया है और कहा गया है कि वे अच्युत हैं, अकेले नंद-यशोदा के ही पुत्र नहीं हैं, वे तो सभी के पुत्र, आत्मा, पिता-माता और ईश्वर हैं।[3]

इसी बीच में एक भौंरा दिखलाई देता है और गोपियाँ उसे सम्बोधित करती हुई अपनी मर्म-कथा और विरह-व्यथा का उद्घाटन करती हैं तथा श्रीकृष्ण के प्रति विभिन्न प्रकारों से उलाहने प्रस्तुत करती हैं। श्रीकृष्ण-दर्शन के लिये व्याकुल उन गोपियों के ऐसे वचन सुनकर उद्धव जी प्रेम-विभोर हो जाते हैं और गोपियों को सान्त्वना प्रदान करते हैं।

उद्धव ने बराबर यही कहा कि हे गोपियो! तुम कृतार्थ हो, संसार की पूजनीया हो, क्योंकि भगवान वासुदेव में तुम्हारा चित्त लगा हुआ है। दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय और इन्द्रियदमन तथा दूसरे अनेक कल्याणकारक कर्मों से श्रीकृष्णचन्द्र की भक्ति ही सिद्ध की जाती है।[4] तुमने अपने पुत्र, पति, देह, स्वजन और घरों को छोड़कर परम पुरुष भगवान् कृष्ण को वरण किया है, यह बड़े सौभाग्य की बात है।[5]

---

१. वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः। १०। ४६। १

२. गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय। १०। ४६। ३

३. युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः। १०। ४६। ४२

४. अहो यूयं स्म पूर्णार्थ भवत्यो लोकपूजिताः।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः॥
दानव्रत तपोहोम जपस्वाध्याय संयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥१०।४७।२३-२४

५. दिष्टय पुत्रान्पतीन्देहान्स्वजनान्भवनानि च।
हित्वावृणीत यूयं यत्कृष्णाख्यं पुरुषं परम्॥ १०।४७।२६

श्रीकृष्ण का जो संदेश उद्धव जी ने गोपियों को सुनाया उसमें विश्वात्मावाद की स्पष्ट झलक है। उन्होंने कहा, अपनी माया के प्रभाव से मैं ही भूत, इन्द्रिय और गुणरूप होकर अपने में अपने द्वारा आप ही को रचता, पालता और लीन करता हूँ।[1]

परन्तु सूरदास और नंददास के उद्धव भागवत के उद्धव से एकदम उल्टे हैं। वे निराकार सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं और गोपियों को योग-धारणा का उपदेश देते हैं।[2] प्रो० दीक्षित के उद्धव को तो अपने वेदान्तज्ञान का अभिमान भी है, वे कृष्ण को भी उपदेश दे उठते हैं कि गोपियों के प्रति उनकी आसक्ति उचित नहीं है।[3] नंददास

---

१. आत्मन्येवात्मानात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रिय गुणात्मना॥ १०।४७।३०

२. कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छाँडि विषय विकार। ४१०३ पृ० १४३४
सुनौ गोपी हरि कौ संदेश।
करि समाधि अंतर-गति ध्यावहु यह उनकौ उपदेस।
ये अविगत अविनासी पूरन, सब घट रहे समाइ।
तत्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, वेद पुराननि गाइ॥
सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु इकचित इकमन लाइ।
वह उपाइ करि विरह तरौ तुम मिलै ब्रह्म तब आइ॥

—सूरसागर ३५०२।४१२० पृष्ठ १४३६

३. वहै राधिका गोपि, वहै ग्वालनि मैं प्रवसित।
वहै आपु मैं स्याम, वहै ऊधौ मैं निवसित॥
आपु सकल जग मैं रहत, आपुहि आपु लखात।
आपु यहाँ आपुहि वहाँ, का वियोग की बात॥
सबै सबु आप मैं।

—स्याम संदेश पृष्ठ ३६

के उद्धव भी निर्गुण के ग्राहक है।[१] उसके पश्चात् तो हिन्दी साहित्य में उद्धव को निर्गुण का प्रतीक मान कर ही काव्य-रचना की गई है और गोपियों के द्वारा निर्गुण तथा ब्रह्मवाद का खंडन तर्क-वितर्क से कराया गया है। उद्धव जब इस परिवर्तित रूप में हमारे सामने आते हैं तो कुछ अटपटे से जान पड़ते हैं। अवतारवाद और साकार के अनुमान में विश्वास रखने वाले व्यक्ति के हृदय में उद्धव के प्रति यदि घृणा उत्पन्न नहीं होती तो एक चिढ़ अवश्य स्थान पा लेती है।

---

१. वै तुम ते नहिं दूर ग्यान की आँखिन देखौ।
अखिल विस्व भरपूरि रूप सब उनहिं बिसेखौ।
लोह दारु पाषान में जल थल माँहि अकास।
सचर अचर बरतत सबै जोति ब्रह्म परकास ॥७॥
जो उनके गुन होंहि बेद क्यौं नेति बखानैं।
निर्गुन सगुन आतमा रचि ऊपर सुख मानैं॥
वेद पुरानन खोजि के पायो नहिं गुन एक।
गुनहूं के गुन होंहि जो कहु अकास किहिटेक
सुनो ब्रजनागरी। १६॥
—भ्रमरगीत, पृष्ठ ७

उद्धव के ज्ञान-संयुक्त तर्क

श्रीमद्भागवत के आधार पर उद्धव के निर्गुण-मतवाद की समीक्षा संभव नहीं क्योंकि उस ग्रन्थ में उद्धव ने ज्ञानोपदेश दिया ही नहीं है। वे तो गोपियों की प्रेम-लक्षणा-भक्ति को देख कर कृतकृत्य हो गये। इसलिए हम सूरदास, नंददास आदि कवियों के द्वारा वर्णित निर्गुण सिद्धान्तों के आधार पर ही उद्धव के तथा-कथित ज्ञान-संयुक्त तर्कों की आलोचना करने के लिए बाध्य हैं।

सूरदास के उद्धव—श्रीकृष्ण उद्धव को गोकुल भेज रहे हैं कि वे उनका संदेश पहुँचा दें। उद्धव योगी हैं और ज्ञानी भी। अपनी साधना और अपने अध्ययन पर दृढ़ विश्वास रखने वाले उद्धव इस सेवा-कार्य से प्रसन्न ही होते हैं और उनको अपनी महत्ता पर अभिमान भी होता है।[1]

उद्धव कहते हैं कि श्रीकृष्ण का यही सन्देश है कि तुम सब निर्गुण-ब्रह्म को हृदय में धारण करो।[2] विषय-विकारों को छोड़ दो।[3] समाधि लगा कर अन्तर्ज्योति का दर्शन करो, क्योंकि तत्त्वज्ञान के विना मुक्ति नहीं मिल सकती है।[4] ज्ञान बिना सुख की प्राप्ति संभव नहीं है। वह ब्रह्म घट-घट में इस प्रकार से व्याप्त है जैसे लकड़ी में

---

१. ऊधो मन अभिमान बढ़ायौ

जदुपति जोग जानि जिय साँचौ, नैन अकास चढ़ायौ। ४०४७ पृ० १४१७

२. मोहि यह पाती दई लिखि, कह्यौ कछु, संदेस। ४१०३

सूर निर्गुन ब्रह्म उर धरि तजहु सकल अंदेस॥ ४१०२, पृ०१४३४

३. गोपी सुनहु हरि संदेस।

कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छांड़ि विषय विकार।

४. करि समाधि अंतर-गति ध्यावहु, यह उनकौ उपदेस।
वै अविगत अविनासी पूरन, सब घट रहे समाइ।
तत्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, बेद पुराननि गाई॥
सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु, इक चित इक मन लाइ।
वह उपाइ करि विरह तजौ तुम, मिलै ब्रह्म तब आइ॥ ४१२०. पृ० १४३६

अग्नि छिपी हुई रहती है। वह ब्रह्म इसी प्रकार अव्यक्तरूप से प्राणिमात्र में समाया हुआ है।[1].

आगे चल कर उद्धव ने निर्गुण मत के प्रतिपादन में यह भी तर्क उपस्थित किया कि पूर्ण-ब्रह्म ही सत्य है और त्रिगुणात्मिका सृष्टि मिथ्या है। पंचभूत तथा त्रिगुण-समन्वित यह शरीर भी नाशवान है। उस ब्रह्म को नाम-रूप उपाधि से प्रकट नहीं किया जा सकता है।[2] वही हरि है, अखंड है, आंतरिक दृष्टि से देखा जा सकता है। आसन, ध्यान, धारण और समाधि के द्वारा जब छह, आठ और बारह कमल दल पर प्रकाश होता है, त्रिकुटी के संगम को भेदन कर ब्रह्म-रन्ध्र तक आत्मा पहुँच जाता है, वहीं ब्रह्म का दर्शन होता है।[3]

सूरदास ने ४४८५ वें पद में निर्गुणमतवाद के लगभग सभी सिद्धान्तों और लक्षणों को स्पष्ट कर दिया है :—

---

१. ज्ञान बिना कहुँवै सुख नाहीं।
घट-घट व्यापक दारु अगिनि ज्यौं, सदा बसै उर मांही। ४२२३ पृ० १४७८

२. गोपी सुनहु हरि संदेश।
कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु, त्रिगुनमिथ्या भेष॥
पंच त्रय गुन सकल देही जगत ऐसौ भाषि।
ज्ञान बिनु नर मुक्ति नाँही, यह विषय संसार।
रूप, रेख, नाम जल-थल बरन अबरन सार॥
मातु पितु कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या लाइ। ४३०३ पृ० १४९६

३. वे हरि सकल ठौर के वासी।
पूरन ब्रह्म अखंडित मंडित, पंडित मुनिन बिलासी॥
सप्त पताल ऊरध अध पृथ्वी, तल नभ अरुन बयारी।
अभ्यंतर दृष्टी देखन कौं कारन रूप मुरारी॥
मन बुधि चित अहंकार दसेंन्द्रिय प्रेरक थंभन कारी।
ताके काज वियोग बिचारत ये अबला ब्रजनारी॥
जांकौं जैसौ रूप मन रुचैः सो अपबस करि लीजै।
आसन बैसन ध्यान धारना मन आरोहन कीजै॥
षट दल आठ द्वादस दल निरमल अजपा-जाप जपाली।
त्रिकुटी संगम ब्रह्म द्वार भिदि यौं मिलि हैं बनमाली॥
४४८४। पृ० १५५२

देखि रे प्रगट द्वादस मीन।
ऊधौ एक बार नंदलाल राधिका, ग्रावत सखी सहित रसभीन।।
गए नव कुंज, कुसुमनि के पुंज, करैं ग्रली गुंज, सुख हम लवलीन।।
षट उडुगन, षट मनिधर हू राजत हैं, चौबिस धातु चित्र केहि कीन।।
पट् इंदु द्वादस पतंग मनु मधुप सुनि, खग चौवन माधुरि रस पीन।।
द्वादस बिंव, सौ बानवे वज्रकन, षट दामिनि, जलजनि हँसि दीन।।
द्वादस धनुष द्वादसै विष का मोहन मन षट चिवुक चिन्ह थित चीन।
द्वादस व्याल ग्रधोमुख झूलत, मानो कजदल सौ बीस बसीन।।
द्वादसै मृनाल द्वादस कदली खंभ, द्वादस दारिम सुमन प्रवीन।
चौबिस चतुस्पद ससि सौ बीस मधुकर, ग्रंग ग्रंग रस कंज नवीन।।
नील नीलै मिली घटा दामिनि मनौ, सब सिंगार सोभित हरि हीन।
फिरि फिरि चक्र गगन मैं ग्रमी बतावत, जुवती जोग मौन कहु कीन।।
बचन रचत रस रास नंदनंदन तैं, जोग पीन हिरदै लवलीन।"

इस प्रकार गोपियों ने सम्पूर्ण योग की स्थापना श्रीकृष्ण में कर दी और योग-मार्ग का निरूपण भी कर दिया। ग्रन्त में उद्धव सगुण के शिष्य बन जाते हैं।[1].

सूरदास ने तीन प्रकार के भ्रमरगीतों की रचना की है।[2] ऊपर हम दो गीतों में से उद्धरण प्रस्तुत कर चुके हैं। यह मौलिक हैं। तीसरा भागवत का ग्रनुवाद ही समझना चाहिये। इसकी रचना दोहा-चौपाई में है। इसमें विशेषरूप से ज्ञान, वैराग्य की चर्चा है। इड़ा, पिंगला ग्रौर सुषुम्ना नाड़ी की जागृति से शून्य ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। त्रिकुटी में ध्यान लगा कर उस परम ज्योति का दर्शन पाना सुलभ है। हृदय कमल में जिस ज्योति का प्रकाश होता है, उसी के समीप ग्रनहद नाद होता रहता है।[3].

---

१. ग्रब ग्रति चकितवेत मन मेरौ।
ग्रायौ हो निरगुन उपदेसन, भयौ सगुन कौ चेरौ। ४६९७ पृ० १६१५

२. पूर्ण विवरण के लिए ग्रध्याय ७ में देखिये।

३. मैं तुम पै ब्रजनाथ पठायौ। ग्रातम ज्ञान सिखावन ग्रायौ।
ग्रापुहिं पुरुष ग्रापु ही नारी। ग्रापुहिं वानप्रस्थ ब्रह्मचारी।।
जोग समाधि ब्रह्म चित लावहु। परमानंद तबहिं सुख पावहु।।
जाकैं रूप बरन वपु नाहीं। नैन मूंदि चितवौ मन माँही।।
हृदय कमल तैं जोति बिराजै। ग्रनहद नाद निरंतर बाजै।।
इड़ा पिंगला सुषमन नारी। सहज सुन्न मैं बसहिं मुरारी।। ४७१२
नैन नासिका ग्रग्र है तहाँ ब्रह्म को बास।
ग्रविनासी विनसै नहीं, सहज जोति परकास।। ४७१३. पृ० १६२४

इस प्रकार सूरदास ने, सूरसागर के अन्तर्गत, भ्रमरगीत में उद्धव के ज्ञानोपदेश का वर्णन किया है।

नंददास के उद्धव—गोपियों को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते हुए उद्धव ने कहा कि श्रीकृष्ण तुम से दूर नहीं हैं, उनको ज्ञान की आखों से देखो। वह ब्रह्म सर्वत्र ही व्याप्त है।[१] वह निर्गुण-सगुण की उपाधि से रहित है, निराकार और निर्लेप है।[२] वही लीलावतार श्यामसुन्दर है। इसलिए कर्म करो क्योंकि कर्म से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।[३] पद्मासन लगा कर, इन्द्रिय निग्रह करो तभी सायुज्य-मोक्ष मिल जायगी।[४] उद्धव ने यह भी कहा कि निर्गुण होने के कारण ही वसुदेव अच्युत कहलाते हैं। दृष्टि-विकार से हम उनमें सगुण का आरोप कर लेते हैं।[५] यहाँ भी, अन्त में उद्धव सगुण मतवाद के समर्थक हो जाते हैं।[६]

---

१. वै तुम तें नहिं दूर ज्ञान की आँखिन देखौ।
अखिल विस्वभरपूरि रूप सब उनहिं बिसेखो॥
लोह दारु पाषान में जल थल महि आकास।
सचर अचर बरतत सबै ज्योति ब्रह्म परकास
सुनौ ब्रजनागरी।७।

२. यह सब सगुन उपाधि रूप निगु न है उनको।
निराकार निर्लेप लगत नहिं तीनों गुन को॥

३. कर्महि ते उतपत्ति है कर्महिं तें है नास।
कर्म किये तें मुक्ति है परब्रह्मपुर बास॥

४. पद्मासन सब धारि रोकि इन्द्रिन कौं मारैं॥
ब्रह्म अगिनि जरि सुद्ध ह्वै सिद्धि समाधि लगाय।
लीन होय सायुज्य में जोतिहि जोति समाय॥

५. जो गुन आवे दृष्टि मांझ नहि ईश्वर सारे।
इन सबहिन तें वासुदेव अच्युत हैं न्यारे॥
इन्द्री दृष्टि बिकार तें रहित ऊधोछज जोति।
सुद्ध सरूपो जानि जिय तृप्ति जु ताते होति॥

६. धन्य धन्य जे लोग भजत हरि कौं जो ऐसे।
और जो पारस प्रेम बिना पावत सोउ कैसे॥
मेरे या लघुग्यान कों उर में मद रह्यो बाध।
अब जान्यों ब्रज प्रेम को लहत न आधौ आध।

—भ्रमरगीत सं० डा० उ० ना० ति०

रत्नाकर के उद्धव—आरंभ में उद्धव श्रीकृष्ण को भी ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश करते हैं। वे ज्ञानी और विरागी हैं और अपने ज्ञान का दिव्यालोक बड़ी कुशलता से फैलाते हैं। योग के द्वारा अन्तर्दृष्टि करने और हृदय कमल पर जगने वाली ब्रह्म ज्योति में ध्यान लगाने से भगवान् कृष्ण का संयोग प्राप्त होता है। जड़ और चेतन के विलास का विकास उत्पन्न होता है और अपूर्व आनन्द मिलता है। मोह के कारण गोपियों ने श्रीकृष्ण को अपने से पृथक मान लिया है, वे तो घट-घट में व्याप्त हैं।[1] यह सब माया का ही प्रपंच है जिसके कारण सच्चिदानन्द का वह सत्य सत्त्व, जो पंचतत्वनिर्मित इस विश्व में समान है, अपने वास्तविक रूप में नहीं प्रकट होता सर्वत्र अनेक वस्तुओं के रूपों में वस्तुतः वही ब्रह्म व्याप्त हैं। उद्धव ने अनेकत्व में एकत्व (Unity in diversity) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया हैं।[2] उन्होंने ब्रह्म को विश्व-व्यापी तथा अनन्त बताया और योग के द्वारा त्रिपुटी में रखकर आन्तरिक चक्षुओं से दर्शन करने का मार्ग भी सुझाया। उनका ब्रह्म अलख है, अरूप है, रंग और अँग से रहित है। यह संसार स्वप्नवत् है।

तुलसी के उद्धव—'श्रीकृष्ण-गीतावली' में गोपियों के उपालंभ-गीत बड़े ही सुन्दर दिये गये हैं परन्तु उद्धव की वाणी के दर्शन नहीं होते हैं। पता नहीं तुलसीदासजी

---

१. चाहत जौ स्ववस सँजोग स्यामसुन्दर कौ,
जोग के प्रयोग मैं हियौ तौ बिलस्यौ रहै।
कहै रतनाकर सु-अंतर-मुखी ह्वै ध्यान,
मंजु हिय-कंज-जगी जोति मैं धस्यौ रहै॥
ऐसैं करौ लीन आतमा-कौं परमातमा मैं
जामैं जड़-चेतन-बिलास बिकस्यौ रहै।
मोह बस जोहत बिछोह जिय जाकौ छोहि,
सो तौ सब-अन्तर निरंतर बस्यौ रहै॥

२. पंच तत्व मैं जो सच्चिदानंद की सत्ता सो तो
हम तुम उन मैं समान ही समोई हैं।
कहै रतनाकर विभूति पंचभूत हू की,
एक सी ही सकल प्रभूतनि में पोई है॥
माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै,
काँच-फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है।
देखौ भ्रम-पटल उघारि ज्ञान आँखिन सौं
कान्ह सब ही मैं कान्ह ही मैं सब कोई है।
—उद्धव शतक।

ने उद्धव को गुप्त क्यों रख दिया। ऐसा जान पड़ता है कि सामंजस्यता के दृष्टिकोण से तुलसी ने निर्गुण का खंडन करना आवश्यक तथा सुकर नहीं माना होगा यद्यपि उन्होंने स्वयं निर्गुण से सगुण को श्रेष्ठ माना है।

हरिऔध के उद्धव—कवि के रूप में हरिऔध जी की मान्यता सदैव ही निर्गुण की ओर रही है। वे अवतारवाद को भी नहीं मानते हैं। प्रियप्रवास के श्रीकृष्ण और वैदेही-वनवास के राम महापुरुष बनकर ही हरिऔध जी की काव्याञ्जलि प्राप्त कर सके हैं। भगवत्स्वरूप में उनका दर्शन नहीं होता, फिर भी उद्धव के द्वारा निर्गुण का प्रतिपादन न कराया जाना कुछ आश्चर्य ही ज्ञात होता है। गोप-ग्वाल और नंद यशोदा तथा गोपियों आदि को तो श्रीकृष्ण कुछ संदेशा भी नहीं देते हैं। केवल राधा से श्रीकृष्ण कहते हैं कि "हे राधे! तुम मेरी प्राणाधार हो! प्रेम-मूर्ति हो, सरला हो, विधाता ने हमारा वियोग क्यों कराया है।······तुम्हें आत्मोत्सर्ग करना उचित है, मुक्ति की कामना से तप में निरत होने वाला भी स्वार्थी ही है। लोक-सेवा और लोक-कल्याण की ओर अभिमुख व्यक्ति ही आत्मत्यागी है। निजात्मा का सुख किसे अच्छा नहीं लगता है, विश्व के सभी प्राणी इसके बंधन में बंधे हुए हैं। जो व्यक्ति आत्मोत्सर्ग के द्वारा उससे पृथक रहता है, अवनीतल पर उसका ही अवतीर्ण होना सफल है।"[1] कहीं भी निर्गुण या निराकार की बात उद्धव के द्वारा नहीं कही गई है।

अन्य कवि—अन्य कवियों में से अधिकांश ने उद्धव का चित्रण नहीं के समान ही किया है। गोपियों के द्वारा उपालंभ अवश्य दिलवाये हैं। उदाहरण के लिये श्री द्वारका-प्रसाद मिश्र ने कृष्णायन में उद्धव के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण को अपनाया है। वे गोपियों से यही कहते हैं कि यदि श्रीकृष्ण तुम्हारे हैं तो हमारे भी हैं। इतने दिनों तक

---

१. प्राणाधारे परम-सरले प्रेम की मूर्ति राधे।
निर्माता ने पृथक् तुमसे यों किया क्यों मुझे है। ३७।
जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते आत्मत्यागी उसे हैं।
जी से प्यारा जगत-हित औ' लोक सेवा जिसे है।
प्यारी सच्ची अवनितल में आत्म-त्यागी वही है। ४२।
है आत्मा का न सुख किसको विश्व के मध्य प्यारा।
सारे प्राणी स-रुचि इसकी माधुरी में बंधे हैं।
जो होता है न वश इसके, आत्म-उत्सर्ग द्वारा।
ऐ कान्ते, है सफल अवनी मध्य आना उसी का॥
—प्रियप्रवास सर्ग १६, पृ० २३३-३४।

यदि वे गोकुल में रहे तो मथुरा-निवास में कौन सी अनीति की प्रतीति होती है।[1] कहीं भी उद्धव योगी अथवा ज्ञानी नहीं दीख पड़ते हैं। श्यामसुन्दरलाल दीक्षित ने अपने 'श्यामसन्देश' में उद्धव का जो चित्रण किया है, वह उनके व्यक्तित्व की एक झलकमात्र ही है, तदपि उससे यह स्पष्ट हो ही जाता है कि उद्धव अपनी ज्ञान-गरिमा से फूले हुए व्यक्ति थे।[2] अन्य स्थानों पर उद्धव का सम्यक् चित्रण नहीं मिलता है।

जैसा कि लिखा जा चुका है उद्धव ने गोपियों को योग का उपदेश दिया, तो यह योग क्या है, इस पर संक्षिप्त रूप से विचार करना संगत होगा। विद्वानों ने योग की गति चतुर्मुखी मानी है। सांख्य योग, निष्काम, सत्सङ्ग योग, शरणागति योग, भक्ति योग, समाधि योग, अष्टांग योग, राजयोग, वेदान्त योग, प्रेम योग, अस्पर्श योग, ज्ञानयोग, सम्पूर्ण योग, शिव योग, पाशुपत योग, विश्व-कल्याण योग आदि अनन्त प्रकार के योगों की सूचनाएँ और विवेचन प्राप्त होते हैं। सूरदास ने उद्धव के

---

१. हँसि कहि उद्धव गोपिन पाहीं—
"हमरेहु श्याम, तुम्हारे हि नाहीं॥
एतिक दिवस कीन्ह ब्रजवासा।
बरसेउ आनन्द, हर्ष, हुलासा।
हम यदुजन सब रहे दुखारी।
भये अंध दृग पंथ निहारी॥
गये काल्हि हरि मधुपुर माहीं।
तुमहि कहहु कहँ भयी अनीती,
कीन्ही श्याम कवन अनरीती।
—कृष्णायन, मथुरा काण्ड पृष्ठ २२१ दो० १७४

२. काजु दियौ सो करौं, भरोसौ मेरौ कीजै।
गोकुल मोहि पठाय जगत में जसुही लीजै॥
भ्रम सौं भोरी, बावरी, हौं तिनकौं समझाऊँ।
मन मुरझान्यौ मंद ह्वै, तामें ज्योति जगाऊँ॥
—कहन ऊधौ लगे। ७३।
जहँ राधे तहँ स्याम, स्याम जित तित ही राधा।
भेद-बुद्धि सौं परत भावना मैं अति बाधा॥
अलख लखौ वहि रूप कौं, पावहु परमानंद।
सबद सुनौ अनहद सदा, तोरौं भव के फंद। ६५॥
बनौ तुम मुक्त जन।
—श्याम संदेश, सर्ग २, पृ० ४०-४१

द्वारा जिन क्रिया-प्रक्रियाओं का वर्णन कराया है उसका नाम हठयोग है, जिसे राजयोग के अन्तर्गत माना जाता है।

इस प्रक्रिया में महाकुंडलिनी नामक एक शक्ति मानी जाती है, जिसे समग्र विश्व में व्याप्त बताया जाता है। यही शक्ति जब व्यष्टि अर्थात् व्यक्ति में आती है तो इसका नाम कुंडलिनी पड़ जाता है। इसी कुंडलिनी शक्ति और प्राण-शक्ति को लेकर प्राणी माता के गर्भ में आता है। व्यक्ति की तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं जागना, सोना तथा सपना देखना अर्थात् जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्नावस्था। कुंडलिनी इन तीनों अवस्थाओं में निश्चेष्ट रहती है। पीठ में स्थित मेरुदण्ड सीधा जहाँ पायु और उपस्थ के बीच में लगता है, वहाँ स्वयंभू लिङ्ग है, जिसकी अवस्थिति एक त्रिकोण चक्र में होती है। इसको अग्निचक्र भी कहते हैं। इसी अग्निचक्र में स्थित स्वयंभू लिङ्ग को साढ़े तीन वृत्तों में लपेट कर सर्प की भाँति कुंडलिनी रहती है। इसके ऊपर चार-दल वाला कमल है। इसका नाम मूलाधार चक्र है। इसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जिसका आकार कमल के समान है और षट्दल कहा जाता है। इस चक्र के ऊपर मणिपूर चक्र है और उससे भी ऊपर अनाहत चक्र है जो हृदय के पास माना गया है। मणिपूर चक्र दस कमलदल कहा जाता है तो अनाहत चक्र द्वादश कमलदल बताया गया है। इससे ऊपर विशुद्धाख्य चक्र है जो कंठ के पास है और षोडश-दल कमल कहा जाता है। इससे भी ऊपर भौंहों के बीच में आज्ञा चक्र है, जिसमें केवल दो दल हैं, वह द्विदलील कहलाता है। इन्ही छहों चक्रों को षट्-चक्र कहा जाता है। इन चक्रों को पार करने के पश्चात् शून्य चक्र है जो मस्तक में माना गया है। जीवात्मा को शून्य चक्र तक पहुँचा देना ही योगी का परम लक्षण होता है। यहाँ जिस चक्र की कल्पना की गई है उसे सहस्रार-चक्र कहते हैं और उसमें एक हजार दल माने जाते हैं। मेरुदण्ड में प्राणवायु को वहन करने वाली कई नाड़ियाँ हैं। इनमें से जो नाड़ी बाँई ओर है उसे इड़ा कहते हैं और दाहिनी ओर वाली पिंगला कहलाती है। इन दोनों के मध्य में सुषुम्नानाड़ी रहती है। इसी से होकर कुंडलिनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। सुषुम्ना के अन्दर वज्रा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्म नाड़ी है जो कुंडलिनी का वास्तविक पथ है। साधन के द्वारा उसी कुंडलिनी को ऊर्ध्वमुख किया जाता है। साधारणरूप से यह कुंडलिनी अधोमुख रहती है।

कुंडलिनी जब ऊपर उठती है तब उसमें से जो स्फोट होता है वह नाद कहलाता है। नाद से जो प्रकाश फूटता है वह 'महाबिन्दु' कहा जाता है। यह बिन्दु तीन माने गये हैं, इच्छा, ज्ञान, और क्रिया। इनका नाम ही सूर्य, चन्द्र और अग्नि है। इनको ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी कहते हैं। यही नाद अनाहत भाव से निखिल विश्व

में व्याप्त है और जब व्यक्ति में उसका प्रकाश होता है तो उसे नाद और विन्दु कहते हैं। प्रवुद्ध प्राणी, श्वास-प्रश्वास के आश्रय में इड़ा-पिंगला पथ से चला जारहा है। सुषुम्ना का मार्ग अवरुद्ध होने से वद्ध प्राणी की इन्द्रियाँ और चित्त बहिर्मुख हैं। इसलिये वह विश्व में व्याप्त नाद को नहीं सुन पाता है। परन्तु यौगिक क्रियाओं से जब सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है तो कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है और प्राण स्थिर होकर शून्य पथ से निरन्तर अनाहत नाद को सुनने लगता है। धीरे धीरे वाह्य प्रकृति से वियोग हो जाता है। इस नाद को योगियों ने सात उपाधियों से विभूषित किया है। प्रणव या जिसे ओंकार कहते हैं वह उपाधि रहित शब्द तत्त्व है। कुछ वैयाकरणों ने इसे ही स्फोट माना है। यह स्फोट अखण्ड सत्तारूप ब्रह्मतत्त्व का वाचक है। स्फोट को ही शब्द-ब्रह्म कहा गया है और उसकी सत्ता को ब्रह्म कहा जाता है। स्फोट वाचक है और सत्ता वाच्य है। अतएव ब्रह्म सत्ता अर्थात् वाच्य को प्रकाशित करने वाला वाचक शब्द अर्थात् स्फोट या नाद भी ब्रह्म माना जाता है। सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म ही ब्रह्म का प्रकाशक है। यह शब्द मूलाधार से उठता है और सहस्रार में लय हो जाता है।

जब प्राणायाम के द्वारा वायु ब्रह्म रंध्र में प्रवेश करता है तो मन को आनन्दपूर्ण अवस्था की प्राप्ति होती है। इसी अवस्था को सहजावस्था या सहज समाधि कहा जाता है।[१]

इस सम्बन्ध में हमने यह जानने की चेष्टा की है कि वस्तुतः मानव-शरीर में इस प्रकार के कमल-दल-चक्र होते हैं या नहीं? बड़े-बड़े डाक्टरों ने यही सम्मति दी है कि आपरेशन करते हुए उन्हें इस प्रकार के चक्र या कमल-दलों का परिचय नहीं मिला है। हो सकता है यौगिक प्रक्रियाओं अथवा आसनों से व्यक्ति की स्थिति इस प्रकार की बन जाती हो।

ऊपर के स्पष्टीकरण से, सूरदास के पद-संख्या ४४८५ पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। उद्धव के यौगिक सिद्धान्तों की विवेचना के लिये इतना कहना आवश्यक समझ कर ही हमने इसका समावेश किया है।

---

१. कल्याण का 'वेदान्त अंक' तथा "योगाङ्क" तथा डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी लिखित 'हिन्दी साहित्य की भूमिका।

ज्ञान से भक्ति की प्रधानता और श्रेष्ठता क्यों ?

ज्ञान का मार्ग तलवार की धार बताया गया है।[1] भक्ति का मार्ग सरल, सहज और शुद्ध माना गया है। संक्षेप में तुलसीदासजी ने इसका अति सुन्दर निराकरण कर दिया है:—

जो निर्विघ्न पंथ निर्वहई।
सो कैवल्य परम पद लहई॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद।
संत पुरान निगम आगम वद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं।
अनइच्छित आवइ बरिआईं।
भगति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अविद्या नासा॥
उत्तरकाण्ड ११८।१—६।

सूरदास ने भी यही घोषणा की है कि वह निर्गुण ब्रह्म रूप, रेख, जाति आदिक से रहित है, इसलिए उसका ध्यान संभव नहीं हो पाता। मैं इसीलिए सगुण लीला के पदों को गाता हूँ।[2] ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य और योग को पुरुष-संज्ञा प्रदान की गई है और इसी कारण इनको परुष तथा प्रबल बताया गया है। भक्ति नारी संज्ञा में होने से करुणामयी है अतएव सरलता से प्राप्त की जा सकती है।[3]

---

१. ग्यान पंथ कृपान कै धारा।
परत खगेस होइ नहिं बारा॥
—रामायण, गीता प्रेस, उत्तरकांड ११८।१

२. रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन चकित धावे।
सब विधि अगम विचारहि तातें सूर सगुन लीला पद गावे॥
—सूरसागर।

३. ग्यान बिराग जोग बिग्याना।
ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भांती।
—रामायण उत्तरकांड ११५।७-८

भारत में निवृत्ति के तीन मार्ग प्रचलित हैं, ज्ञानमार्ग, योगमार्ग तथा भक्तिमार्ग। मध्यकालीन सन्तों की दृष्टि में ज्ञान और योग के मार्ग कष्ट-साध्य सिद्ध हुए और साधारण-जन आश्चर्य में पड़ गये। किसी ने इसे आश्चर्य समझ कर देखा, किसी ने आश्चर्य के साथ वर्णन किया तो किसी ने आश्चर्य से सुना। वस्तुतः इसे सुन कर भी कोई नहीं जान सका।[१] इधर भक्ति-मार्ग को आचार्यों ने इतना आशावादी और सरल बनाया कि लोगों ने सहज ही में इसे अपना लिया, यहाँ तक कि कर्म, ज्ञान और योग तीनों मार्गों में भी भक्ति को साधनरूप में प्रविष्ट कर लिया गया। यह लहर दक्षिण से उठी तो इसने समग्र उत्तर भारत को आप्लावित कर दिया।[२]

मध्य-कालीन सन्तों का विश्वास था कि ईश्वर कोई शक्ति या सत्तामात्र नहीं है, वह तो सर्वव्याप्त है। उसे प्रेम किया जा सकता है और उससे प्रेम का प्रतिदान पाना भी संभव है।[3] यही सगुण भाव की उपासना का मूल आधार हैं। भक्त की सबसे बड़ी कामना भगवत्प्रेम की प्राप्ति होती है। वह मोक्ष नहीं चाहता, उसे तो प्यार-प्रेम का वरदान चाहिये।[४] वह भगवान् के साथ उनकी नित्य लीला में साहचर्य का अभिलाषी है।

इन सन्तों ने भक्त और भगवान दोनों को समान बताया क्योंकि प्रेम का आधार समानता ही है। इस भक्ति-युग में गुरु के पद को बड़ा महत्त्व प्रदान किया गया। इस युग में नाम की महिमा का भी प्रचार खूब हुआ।

सूरदास वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। श्री वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग की स्थापना की थी। भक्ति की परिभाषा 'तत्व दीप निबंध' में देते हुए उन्होंने लिखा है कि

---

१. आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
—गीता, अध्याय २, श्लोक २६।

२. "अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय" ले० डा० दीनदयालु गुप्त, अध्याय ६, पृष्ठ ५१६, सं० २००४ वि०

३. अग जग मय सब रहित विरागी।
प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी। बालकाण्ड १८४। ७

४. अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रघुपति भगति यह बरदान न आन॥
—तुलसीदास।

भगवान् के प्रति माहात्म्य ज्ञान रखते हुए जो सुहृढ़ और सबसे अधिक स्नेह हो वही भक्ति है।[१] भगवान् का अनुग्रह ही पुष्टिमार्गीय भक्त के सम्पूर्ण कार्यों का नियामक है।[२]

अविद्या का नाश होकर ही भगवत्प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। विद्या से अविद्या का नाश होता है और भक्ति विद्या का एक पर्व है।[३] सब छोड़ कर दृढ़ विश्वास के साथ श्रवण कीर्तनादिक साधनों के द्वारा श्रीहरि का भजन करो, इससे अविद्या नष्ट हो जायगी।[४]

भक्ति नौ प्रकार की बताई गई है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। इसमें से तुलसी की भक्ति दास्य-भाव की है और सूर की सख्य-भाव की है। एक प्रकार से समस्त कृष्ण-काव्य का आधार ही सख्य-भाव की सरस भूमि है।

ईश्वर में अनुरक्ति का नाम ही भक्ति है। नारद भक्तिसूत्र में भी ऐसा ही कहा गया है। भक्ति के लिए तो मुक्ति भी सरल है। भक्ति सर्वश्रेष्ठ है, ज्ञान, कर्म और योग से भी। फिर ज्ञान को अटपटी वाणी और उसकी क्रिया-प्रक्रियाएँ जनसाधारण की पहुँच से परे हो जाने के कारण वह अत्यन्त दुरुह हो गया। भक्ति का मार्ग सरल माना गया। सन्तों ने उस पर अपनी वाणी की छाप लगा दी। अतएव मध्य-युग में भक्ति प्रधान भी हुई और सर्वश्रेष्ठ भी सिद्ध हुई।

सूर ने स्पष्ट ही कहा कि भक्ति के बिना भगवान् की प्राप्ति दुर्लभ है।[५] उन्होंने

---

१. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुहृढः सर्वतोऽधिकः
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तयामुक्तिर्न चान्यथा।
—तत्व-दीप-निबंध, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञान सागर, बम्बई
श्लोक ४६ पृष्ठ १२७

२. अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः
—सिद्धान्त मुक्तावली, षोड़शग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १८ पृ० ३१

३. —तत्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण श्लोक ४९, पृ० १४१

४. तस्मात्सर्वं परित्यज्य दृढ़ विश्वासतो हरिम्।
भजेत श्रवण दिभ्यो यद्विद्यातो विमुच्यते।
—त० दी० नि० श्लोक ५३ पृष्ठ १४४

५. रे मन समुझि सोच विचारि
भक्ति बिनु भगवंत दुर्लभ कहत निगम पुकारि।
सूर श्री गोविंद भजन बिनु चले दोऊ कर झारि॥
—सूरसागर, वेंकटेश्वर प्रेस, पृष्ठ ३०

उद्धव को योगादि का प्रतीक मानकर गोपियों के तर्क और उपालंभों से योगादि की निस्सारता सिद्ध करके भक्ति की महानता का मंडन किया है।[१] सगुणोपासना की ओर आने वाले सभी सन्त कवियों ने अनुग्रह की आकांक्षा ही मुख्य रखी है और किसी ने तो अपना सबकुछ करील के कुंजों पर निछावर करना ही श्रेयस्कर समझा है।[२]

मध्यकालीन सन्त-कवियों ने यों तो सगुण-निर्गुण दोनों ही रूपों को आदर दिया है और उनमें कोई भेद नहीं माना है फिर भी उन्होंने सगुणोपासना को सरल-साधना समझा और जाना है। भक्ति के द्वारा परमानन्द रूपी फल की प्राप्ति सहज है। ऐसा देखा गया है कि निर्गुण की ओर जाने से व्यक्ति में रुक्षता अधिक आ जाती है। वह शुष्क ज्ञान की बातों से जनसाधारण को मंगलकारी मार्ग का निर्देशन नहीं कर पाता।

सूरदास तथा नंददास के भँवर गीतों का गोपी-उद्धव सम्वाद इसी सगुण-निर्गुण तथा भक्ति और ज्ञान के विवाद को प्रकट करता है। इन कवियों ने इस विवाद के अन्त में सगुण ईश्वर की भक्ति को अधिक प्रभावमयी सिद्ध किया है। यहाँ उन्होंने निर्गुण ईश्वर और ज्ञान तथा योग मार्गों का खण्डन नहीं किया प्रत्युत् उनकी काल और पात्र के अनुसार अपने युग में अनुपयुक्तता दिखाई है—ऐसी विवेचनात्मक सम्मति है विद्वद्वर आचार्य डा० दीनदयाल जी गुप्त की, जिससे हमारी ऊपर लिखी हुई धारणाओं और मान्यताओं को बल मिलता है।[३]

---

१. हमरैं कौन जोग बिधि साधै
बटुआ, झोरी, दंड अधारी इतननि को आराधै।
—सूरसागर ना० प्र० स० ४५१३ पृ० १५६१
निरगुन कौन देस कौ बासी ?
को है जनक कौन है जननि कौन नारि को दासी ?
सुनत मौन ह्वै रह्यौ बावरौ सूर सबै मति नासी।
—पद ४२४९ पृ० १४८०

२. या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँपुर कौ तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौं निधि कौ सुख नंद की धेनु चराइ बिसारौं।
आँखिन सौं रसखान कबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हू कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

३. "अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय" पृष्ठ ५३३।
ले०—डा० दीनदयाल जी गुप्त एम० ए० डी० लिट्

भक्ति के भेद और उसके अंगोपांगों का विवेचन हमारा लक्ष्य नहीं है। अष्टछाप के लगभग सभी कवियों ने अपने काव्य के द्वारा इस दिशा में अभिव्यक्तियाँ की हैं और प्रेम-लक्षणा भक्ति को ही सर्वोपरि माना है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी परमेश्वर को प्रेम-स्वरूप माना है। भक्ति के पक्ष में सबसे बड़ी बात को यह है कि सन्यास लेने या घरबार छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है, छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा सभी भगवान की भक्ति कर सकते हैं और अनुग्रह से पुष्ट हो सकते हैं।

इसीलिए भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि ज्ञानी निज- सामर्थ्य पर निर्भर रहता है और भक्त भगवान् पर ही आधारित हैं।

———.—

छठवाँ अध्याय

गीतिकाव्य की परिभाषा

मानव-मन अनुभव करता है और जब अपने उस अनुभव को प्रकट करता है तो वह अनुभूति कहलाती है। अनुभूति हृदय का विषय है और विचार का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। इन दोनों का सम्मिलन ही सचेतन पुरुष कहा जाता है। इस दृष्टिकोण से हृदय और मस्तिष्क दोनों ही सनातन हैं।

काव्य में भी दो धाराएँ मानी जाती हैं। एक तो विचारात्मक और दूसरी भावात्मक। पहली धारा का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, दूसरी का हृदय से है। पहली धारा बुद्धि से आदेशित होती है, दूसरी धारा में हृदय-पक्ष की प्रधानता रहती है। भावनाएँ तो हृदय-सागर से ही उठती हैं—"गिरा अरथ जल-वीचि सम"—उनका सम्बन्ध है। भाव प्रबल होने से आनन्दानुभूति होने लगती है और तब मन-मानस रस से परिपूर्ण हो जाता है। इसी रस-प्रसार से गीत का जन्म होता है। गीत का काम भावों को जाग्रत करना है, विचारों को प्रश्रय देना उसका उद्देश्य नहीं होता। इसलिए संक्षेप में यों मान लीजिये कि गीत का सम्बन्ध हृदय से है। साधारण लोक में कहा जाता है कि रोना और गाना कौन नहीं जानता। कवि के मन में, जब किसी विशेष मनोवृत्ति की अनुभूति होती है तो उसके अन्तस् में भावों की सरिता फूट निकलती है। उसी प्रवाह से दिव्यराग उत्पन्न होता है, जिसके आश्रय में कल्पना उद्बुद्ध हो जाती है। जब वह अपने भावों को राग, कल्पना और भाषा प्रदान करता है तभी वे साकार हो जाते हैं। शब्द और राग का समन्वय पाकर वे प्राणवान् हो जाते हैं और विश्व में गीत का नाम पा लेते हैं।

कविता के क्षेत्र में गीत अपना आकर्षक व्यक्तित्व रखते हैं। उनके द्वारा आत्माभिव्यक्ति होती है, इसीलिये वे अति प्रिय लगते हैं।

हीगल की सम्मति में कवि संसार के अन्तःकरण में पहुँचकर आत्मानुभूति-लाभ करता है और पश्चात् वह उनको अपनी चित्तवृत्ति (Mood) के अनुसार काव्योचित भाषा में अभिव्यक्त करता है। गीत की रचना के लिए एक विशेष चित्तवृत्ति (Lyrical Mood) होती है। गीत का आधार होते हैं, इच्छा, विचार और भाव। भावोत्पत्ति

के हेतु बाह्य पदार्थों का विनिर्गमन मन में होता है। जब कवि शान्त होता है और समन्वित चित्तवृत्ति में होता है, तब उसकी कल्पना में बहिर्जगत् प्रधान हो जाता है। इससे भाव उत्पन्न होते हैं, उनसे गीत बनते हैं।

अर्नेस्ट राइस के मतानुसार सच्चा गीत वही है जो भावात्मक विचार का भाषा में विस्फोट कर सके। जो शब्द और लय के सामञ्जस्य से सूच्य भाव को पूर्णतया प्रदर्शित करता हो तथा पद-लालित्य और शब्द माधुर्य से उस संगीतमयी ध्वनि में निकलता हो, जिसे स्वाभाविक भावात्मक अभिव्यक्ति कहते हैं। उसमें शब्द सरल, कोमल और नादपूर्ण हों। गति का उसमें प्रवाह हो, प्रधान अनुभूति का सुन्दर आरोह-अवरोह हो, माधुर्य-युक्त हो, प्रसाद पूर्ण हो, स्पष्ट और संगीत-मय हो।[1]

गीत में गति होती है जिसे साधारण रूप से लय कहा जाता है। उसमें मधुरता और सुकुमारता का होना भी परम आवश्यक है।

एक अन्य समालोचक का कथन है कि गीत का मूल अर्थ अब नष्ट प्रायः हो गया है। केवल वे ही कविताएँ अब कविताएँ मानी जाने लगी हैं जिनमें सूक्ष्म अनुभूति हो। गीति काव्य का कवि निश्चय ही विश्व की जागृति एवं उसकी सजगता से अपने भावों का वरण या चयन करता है। जो कुछ भी उसे सुकुमार लगता है, उससे प्रेरणा पाकर उसका भाव-जगत प्रकाशित हो उठता है।

श्रीमती महादेवी वर्मा की सम्मति है कि सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था का विशेष गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं है। श्रीमती वर्मा का कथन है कि कम से कम शब्दों में गहरी से गहरी अनुभूति की अभिव्यक्ति गीत के द्वारा ही हो सकती है। तात्पर्य यह है कि गीत संक्षिप्त और संगीतमय होना चाहिए। गोपियों का—"बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें"—और 'निसि दिन बरसत नैन हमारे" मात्र इतना कहना ही उनके वियोग-भार के गुरुत्व को बता देने में समर्थ है। इसका कारण यही है कि गीति-काव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है और बहिर्जगत् को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों से रंजित कर देता है। शब्द-साधना और स्वर-साधना दोनों ही साथ-साथ चलती रहती हैं।

गीति-काव्य में विचारात्मक शैली का प्रवेश नितान्त असंभव है, क्योंकि विचार-विमर्श के हेतु ऊहापोह और किसी अन्तिम निर्णय का निरूपण आवश्यक होता है।

---

१. हिन्दी गीति काव्य ले० श्री ओमप्रकाश अग्रवाल एम० ए० २००२ वि. पृष्ठ २।

भाव-जगत् में बुद्धि का प्रवेश नहीं हो पाता है, इसलिए वहाँ विचारों के स्थान पर भावनाओं का आधिपत्य रहता है।

ऐसा तो नहीं कहा जा सकता है कि विचार-प्रधान गीतों की रचना संभव नहीं है। तुलसीदास जी ने संसार के निर्माण के प्रति अत्यन्त आश्चर्य प्रकट किया है और कहा है कि आपकी लीला समझ में नहीं आती।[१] ऐसे ही कुछ पद सूरदास ने भी लिखे हैं जो दृष्टिकूट के नाम से संबोधित किये जाते हैं, परन्तु पाठक इन पदों को पढ़ते-पढ़ते उलझ जाता है, उसका हृदय ठिठक जाता है और तभी वह भावना-जगत् से बाहर आ जाता है। ऐसे पदों में डुबा देने वाली शक्ति नहीं पाई जाती है।[२] ऐसे पदों में कठोर सत्य और तत्त्व ही प्रधान होते हैं, उनमें माधुर्य और सुकुमारता कम ही होती है।

इस प्रकार गीत के दो भाग किये जा सकते हैं। पहला अन्तरंग और दूसरा वहिरंग। अन्तरंग में भाव, विचार, इच्छा, कल्पना, उद्गार आ जाते हैं तो वहिरग में भाव-भाषा का सामंजस्य, छन्द, सरलता, सुकुमारता, संगीत, भाषा-शैली और संक्षिप्तता का समावेश किया जा सकता है।

गीत में रूप और ध्वनि दोनों का सौन्दर्य होना चाहिए। तभी दोनों में तादात्म्य स्थापित होता है और अन्तरंग तथा वहिरंग दोनों ही रूपों में समतुल्य जान पड़ता है। वस्तु तत्त्व में तो भावना का ही प्राधान्य हो और उसी के अनुसार बाह्याङ्ग भी स्वरूपवान् हो। कल्पना उन्मुक्त भी हो और नवीन भी हो।

संगीतात्मकता के हेतु गीत में ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाय जिसमें लोच हो और शब्दों का चयन भी सुन्दर होना आवश्यक हैं। अप्रचलित और ग्राम्य-दोष-पूर्ण

---

१. केसव कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि सोच चुप रहिये॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न, मरै भीति-दुख, पाइय यहि तनु हेरे॥
रबिकर-नीर बसै अतिदारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥
—तुलसीग्रंथावली, विनय-पत्रिका, पृष्ठ ५१९ पद १३१ ना० प्र० स० संस्करण १९८० वि० दूसरा खंड।

२. तंत्री नाद, कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग॥
—बिहारीलाल।

शब्दों से वचना चाहिए। उदाहरण के लिए कविरत्न सत्यनारायण जी ने 'सिदौसी' शब्द का प्रयोग किया हैं। इसका अर्थ 'शीघ्र' होता है परन्तु ब्रज-प्रान्त के कुछ भाग को छोड़ कर इसका प्रयोग अन्यत्र कहीं नहीं होता।[1]

गीत की भाषा में कर्कश और कर्ण-कटु शब्दों का समावेश करना उचित नहीं है। स्वरों के आरोह और अवरोह का ध्यान रखते हुए दीर्घ तथा लघु मात्राओं का प्रयोग करना श्रेयस्कर माना गया हैं। समस्त पद में अन्विति हो।

कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए कोमल रसों का ही प्रयोग किया जाता हैं। शृंगार के अन्तर्गत विप्रलंभ में, करुण रस का प्रयोग सुखद माना गया है। गीत काव्य में संयोग शृंगार इतना प्रभावशाली नहीं जान पड़ता है। इसका कारण परदुखानुभूति है। दुख से दुखी होना मानव-स्वभाव है परन्तु पराये सुख मे सुखी होना मानव-मन के प्रतिकूल पड़ता है, उससे तो ईर्ष्या जागती है। इसलिए गीत के लिए विप्रलंभ शृंगार अत्यन्य उपयुक्त है। रौद्र, वीभत्स आदि रस उपयुक्त नहीं होते।

गीत का प्रधान गुण है शब्द की साधना। शब्द को प्राणवान माना गया है और संगीत में तो स्वर को ब्रह्मरूप कहा गया है। शब्द गीत का प्राण है, उसका बल है, उसका नाद है।

गीत का विस्तार और उसकी संक्षिप्तता भावना की गहराई पर निर्भर रहती है। फिर भी देखा यही गया है कि छोटे से छोटे गीत में जिस अनुभूति की अभिव्यक्ति सफलता से प्रकट की जा सकी है, वह सौ-या दो-सौ पंक्तियों वाले गीत में नहीं हो सकी हैं। कुछ गीतों में तो एक से लगाकर तीन पद तक ही होते हैं। कुछ गीत इनसे बड़े भी होते हैं। इन गीतों की पहली पंक्ति को "टेक" कहते हैं।

इस प्रकार गीतिकाव्य की परिभाषा हुई कि जो गीत संगीत से पूर्ण, सवाभिव्यक्ति करने वाला, अन्तर्जगत का चित्र है, जिसमें प्रकरण या भावना की सुकुमारता है, सहज उद्गारों का प्रस्फुरण है, भाषा की सरलता है, शब्दों का सुन्दर चयन है, भाषा और भावना परस्पर एक दूसरे की सहगामिनी हैं, प्रभाव प्रत्यक्ष है और जिस गीत में संक्षिप्तता है, वही गीति-काव्य कहा जा सकता है।

———

१, जैयौ षटपद धाय कैं करि निज कृपा बिसेस।
लैयो काज बनाय कैं, दै मो यह सन्देश॥
सिदौसी लौटियो॥
—भ्रमर-दूत, पद २१

गीति-काव्य में गेयता आवश्यक क्यों ?

साहित्यकारों ने साहित्य संगीतकला-विहीन प्राणी को पशु की संज्ञा प्रदान की है। उसका कारण है। वे उस कला को कला नहीं मानते जो सौन्दर्य की सृष्टि करके हृदय में आनन्द की उत्पत्ति न कर सके। सौन्दर्य उत्पन्न करने के साधन भी अनेक हैं। काव्य-कला में भावों के द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न किया जाता है। चित्र में रेखाओं और रंगों के द्वारा तथा संगीत में नाद के द्वारा तथा नृत्य में सुकुमार शरीर के अवयवों द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं। यह सबकुछ भाव-प्रकाशन के सहायक हैं। कला की अभिव्यक्ति में परमानन्द की अनुभूति होती है। जब करुणा-कलित हृदय में विकल रागिनी बजती है तभी काव्य-कला में संगीतत्व मूर्तिमान हो जाता है। भावों से जब संगीत का सम्मिलन होता है तब उसका सौन्दर्य निखर उठता है और तभी काव्य का सौन्दर्य पर्याप्त अभिवृद्ध हो जाता है। स्वरों के उतार-चढ़ाव में अपूर्व शक्ति होती है। व्यक्ति को हिला देने और सुला देने तथा रुला देने की महान क्षमता संगीत में होती है। कुछ ही दिन हुए कलकत्ता में अनिद्रा के रोगी को एक सँगीतज्ञ ने बेला बजाकर कई घंटों तक के लिए गहरी नींद में सुला दिया था।

हममें से बहुत से व्यक्ति नृत्य के सूक्ष्म अथवा स्थूल भेदों को नहीं जानते हैं; परन्तु नृत्यकार अथवा वाद्य यन्त्रों की सम-ताल पर हमारे पैरों की अँगुलियाँ नाच उठती हैं और हमारा सिर हिल उठता है। यह सब क्या है ? यही संगीत का प्रभाव है। वायु सरसराती हुई चलती हैं, बूँदें टप-टप कर बरसती हैं, आँधी धू-धू करके अग्रसर होती हैं—इन सभी में एक संगीतात्मकता, एक लय अन्तर्निहित है। काव्य तो हमारा पुरातन गेय है। आयुर्वेद के ग्रन्थों तक में इस गेयता का प्रवेश है। वेदों के सूत्रों में तो संगीत ही सगीत है और जिस समय स्वर उदात्त अथवा अनुदात्त होगा इसके लिए संकेत विशेष का विधान भी किया गया है।

काव्य में संगीत इतना व्यापक हो गया है कि उसको पृथक नहीं किया जा सकता है। आधुनिक युग में प्रचलित अतुकान्त-छन्द (Blank Verse) में भी तो लय, गति, ताल का साम्य और स्वर साधना प्रधान हैं।

काव्य में जितने भी छन्द हैं लगभग सभी गेय हैं। ऐसे ही काव्य को गीति-काव्य कहते हैं। आधुनिक आलोचकों में से कुछ का मत है कि सूरदास आदि के पद

गीति-काव्य नहीं हैं, क्योंकि वे राग-प्रधान हैं। यह भ्रमात्मक आलोचना है। आधुनिक गीतों में भी तो राग की प्रधानता पाई जाती है। अंग्रेज 'लीरिक' शब्द के द्वारा गीत की परिभाषा दी जाती है। इसका भी कारण है। 'लीरा' नामक वाद्य-यंत्र पर गाने से उन गीतों को लीरिक कहा जाने लगा। हमारे यहाँ ऐसी बात नहीं हैं। यहां तो रसोद्रेक के साथ ही साथ संगीत का जन्म हो जाता है। काव्य और संगीत का सहज समन्वय ही गीति-काव्य का आधार है।[1]

संगीत का काम है काव्य को मधुर आह्लाद से प्रकंपित कर देना। काव्य में लय का होना आवश्यक है। गीति-काव्य का उद्देश्य है आत्म-कल्याण और परमानंद की प्राप्ति। संगीत इस साधना-क्षेत्र का साथी है।

गीत दो प्रकार के होते हैं, काव्य-गीत और लोक-गीत। लोक-गीतों की भाषा साधारण होती है।

गीति-काव्य के लिए मात्रिक छन्द अधिक उपयुक्त हैं। ऐसे छन्दों में दीर्घ और ह्रस्व मात्राओं का आश्रय प्रधान होता है। संगीत में इससे बड़ी सहायता मिलती है। आरोह-अवरोह में बाधा नहीं पड़ती। मात्रिक छन्दों में लय बँध जाती है। पद-शैली में छन्द का प्रश्न गौण रहता है। पीछे पदों को रागों में बिठा दिया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य में सौन्दर्य और आकर्षण उत्पन्न करने के लिए उसमें गेयता का होना आवश्यक है।

---

१ केवल भावमयी कला ध्वनिमय हैं संगीत।
भाव और ध्वनिमय उभय जय कवित्व नय-नीति॥
—डा० मैथिलीशरण जी गुप्त डी० लिट्०.

हिन्दी में गीति-काव्य की परम्परा

यदि देखा जाय तो हमारा गीति-काव्य वेदों के समान ही प्राचीन है। वेदों के मन्त्र गेय हैं। सँगीत से परिपूर्ण हैं। ऋग्वेद में ऊषा से सम्बद्ध ऋचाएँ विशेषकर गीतिमय हैं। उदात्त और अनुदात्त स्वरों के उच्चारण के हेतु विशेष चिन्हों का विधान भी वेदों में मिलता है। सामवेद तो गीतों से भरा हुआ है।

एक बात स्मरण रखनी होगी कि वैदिककाल से आज तक भारतीय आलोचकों और कवियों ने काव्य और गीतों में अविछिच्न्न सम्बन्ध माना है। काव्य में गेयता को आवश्यक समझा जाता रहा है। काव्य की रचना गायन के लिए ही होती रही है। 'गीता सुगीता' कह कर श्रीकृष्णोपदेश को भी गेय सिद्ध किया गया है। वेद-मन्त्रों का गान तो एक स्वयं-सिद्ध सत्य है। धार्मिक तथा समाजिक उत्सवों पर ऋचाओं तथा देवताओं के प्रति लिखी गईं स्तुतियों का गायन होता था।

वैदिक काल से ही गीतों का आरम्भ हो गया। इसी वैदिकभाषा को जब व्याकरण के नियमों में बांधा गया तो उसका नाम संस्कृत रख दिया गया क्योंकि जिसका संस्कार और शुद्धि हो जाती है वही संस्कृत कहा जाता है। वेदोक्त स्वर तीन थे, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। क्रमशः संगीत का विधान होने से लय, ताल और वाद्य का समावेश भी हुआ।

वेदों की आमनाओं के अतिरिक्त सबसे पहले महर्षि बाल्मीकि ने नवीन छंद की रचना की और इस प्रकार गीतों में छंदों का प्रयोग होने लगा।[1] संगीत का गठ-बन्धन ताल, छंद और वाद्य से हो गया। कवि का पहला श्लोक गीति-काव्य की भूमि पर अवतरित हुआ।

गन्धर्वों के द्वारा, मोक्ष प्राप्ति के हेतु, वैदिक-गान किया जाता था। सांसारिकता गौण थी। संगीत अत्यन्त समुन्नत था। संगीत को इसी कारण 'गान्धर्व विद्या' कहा जाता था।

कुछ काल के पश्चात् नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने सात स्वरों की अवातरणा की।[2] नाटकों में काव्य-गीतों का समावेश होने लगा।

---

१. मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकम्ऽवधी काम मोहितम्॥

२. स रे ग म प ध नी

कुछ समय के बाद संस्कृत का स्थान लोक-भाषा ने प्राप्त कर लिया। तभी लोक-गीतों का जन्म हुआ। हम ऐसा समझते हैं कि इन लोक-गीतों से प्रेरणा पाकर ही गीति-काव्य का उदय हुआ। ऐसे गीत 'गाथा सप्तशती' में मिलते हैं। श्रीगोवर्द्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' में सुन्दर शृंगारिक गीतों की सृष्टि हुई है। प्राकृत भाषा काल में, संस्कृत नाटकों में भी गीतों का प्रचलन हुआ। इनमें भी लोक-गीतों की प्रधानता थी। कालिदास के नाटकों में तो बड़े सुन्दर गीत पाये जाते हैं। उनके पश्चात् भी यह धारा बराबर चलती ही रही। कालिदास का 'मेघदूत' अति सुन्दर गीति-काव्य है। मृच्छकटिक, अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय तथा रत्नावली नाटकों में प्राकृत के सुन्दर गीतों के दर्शन होते हैं।

प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश का स्वरूप सामने आया। इस भाषा में जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों का विशेष स्थान रहा है। इस मार्ग में जो योग-मार्गी सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय के आचार्यगण हुए हैं, उन्होंने हिन्दी में गीति-काव्य को जन्म दिया है। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि हिन्दी कविता का आदिरूप नालन्दा और विक्रमशिला के सिद्धों द्वारा बौद्धधर्म के वज्रयान तत्त्व के प्रचार की भाषा में मिलता है। राहुल सांकृत्यायन की सम्मति में सरहा या सरहपाद (सं० ८२६) हिन्दी के आदि कवि थे। इस सहजिया सम्प्रदाय में कितने ही गायनाचार्य भी हुए थे। इनके पदों की भाषा अपभ्रंश है।[1]. इनके पदों से यह स्पष्ट हो जाता है।

सहजिया सम्प्रदाय के पश्चात् नाथ-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। इसमें नव-नाथ और गोरखनाथ ने गीति-काव्य को आगे बढ़ाया। गोरखनाथ तो हिन्दीगद्य के जन्मदाता भी माने जाते हैं। नाथ सम्प्रदाय के द्वारा सन्त-सम्प्रदाय का उत्थान हुआ, जिसमें कबीर, नानक, दादू, मलूकदास आदि हुए।

---

१. जहि मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह प्रवेश।
तहिबट चित्त विशाम करु, सरहे कहिअ उमेश॥
—सरहपाद कृत.

उठ्या सारन् बैठ्या सारन् जागत सूता।
तिन भुवने बिछाहना जाल कोई जाबिरे पूता॥
दादू का पद—उठ्या सारं बैठ विचारं संभारं जागतसूता।
तीन लोक तत जाल बिडारन कहाँ जाइगा पूता॥

—नोट :—सहजिया सम्प्रदाय की पुरानी पोथियों का संग्रह म० म० पं० हरप्रसाद जी शास्त्री ने किया है, जिसका नाम "बौद्ध गान ओ दोहा" है।

१४

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल से लेकर विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी तक परम्पराबद्ध गीति-काव्य नहीं मिलता है। बारहवीं शताब्दी में जयदेव ने 'गीत-गोविन्द' की रचना की। गीति-काव्य के इतिहास में नवीन पृष्ठ खुल गया। जयदेव के पदों में सभी काव्योचित गुणों का समावेश हुआ और उनका प्रभाव स्थायी रूप से पड़ा। उनमें माधुर्य, प्रसाद, ओज तथा आकर्षण प्रचुर मात्रा में है।[1]

साधारणरूप से हिन्दी-साहित्य के इतिहास को चार भागों नें विभाजित किया जाता है। वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल। हम इसी विभाजन के अनुसार गीति-काव्य की परम्परा का अनुसंधान करेंगे।

वीरगाथाकाल—इस युग में जहाँ मुक्तक काव्य की सृष्टि हुई वहाँ प्रबन्ध-काव्य की प्रधानता भी रही। यह निर्विवाद सत्य है कि मुक्तक गीत अनियमित तथा अत्यन्त निम्न स्तर पर लिखे गये। प्रबन्ध-काव्यों में 'रासो' के नाम से कई ग्रन्थ हैं जो उच्चकोटि में रखे जा सकते हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा का कहना है कि—"ऐसा गीति-साहित्य जिसने सूक्ष्म ज्ञान का असीम विस्तार, प्रकृति के रूपों की अनन्तता और भाव का बहुरंगी जगत् संभाला हो आगत काव्य-युगों पर प्रभाव डाले विना नहीं रहता है।" इस धारणा के अनुसार वीरगाथाकाल से भी पूर्व जो गीति-परम्परा थी उसने निश्चय ही परवर्ती साहित्य को प्रभावित किया होगा। हमारा तात्पर्य है कि साहित्य में गिने जाने वाले गीतों से भी पूर्व हमारे देश में लोक-गीतों का प्रचार रहा होगा। जैसा कि आज भी है, साहित्यिक गीतों के अतिरिक्त लोक-गीतों की अपनी पृथक सत्ता है। मंगल-सूचक अवसरों पर गाये जाने वाले विभिन्न देशीय गीतों को यदि एकत्र कर लिया जाय तो उनकी संख्या करोड़ों तक पहुँच जायगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

---

१. ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।
नृत्यति युवति जनेत समं सखि विरह जनस्य दुरन्ते॥
उन्मद मदन मनोरथ पथिक वधू जन जनित विलापे।
अलिकुल संकुल कुसुम समूह निराकुल बकुल कलापे॥
मृगमद सौरभ रभसवशंवद नवदल माल तमाले।
युवजन हृदय विदारण मनसिज नखरुचि किंशुक जाले॥
मदन महीपति कनक दण्ड रुचि केसर कुसुम विकाशे।
मिलित शिलीमुख पाटलि पटल कृतस्मर तूण विलासे॥

भक्तिकाल—यह युग गीतिकाल का स्वर्णयुग माना जाता है। सूरदास, तुलसीदास, नंददास आदि न जाने कितने निःस्वार्थी और निष्कामी सन्त-कवियों ने काव्य-सृजन करके हिन्दी साहित्य को समृद्धशाली बनाया है।

इस युग के गीति-काव्य में दो धाराओं का प्रत्यक्ष दर्शन है। एक निर्गुण और दूसरी सगुण। पदों के लेखकों ने राग-रागनियों में बाँधकर अपने काव्य को समुन्नत किया। कुछ कवियों ने मुक्तकरूप में उत्तम गीतों की सृष्टि और अभिव्यक्ति की। सूरसागर, गीतावली, कृष्ण गीतावली आदि ग्रन्थ पदों वाली परिपाटी पर लिखे गये हैं। कबीर की साखियाँ मुक्तक का उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

रीतिकाल—इस युग में गीति-काव्य की कोई वास्तविक उन्नति नहीं हुई। इसका कारण था राजनैतिक वातावरण में शान्ति का प्रादुर्भाव, कवियों का राज्याश्रय प्राप्त करना और विलासिता की बाढ़ आजाना।

मुक्तक-काव्य का अभूतपूर्व उत्थान अवश्य हुआ। दोहा, कवित्त और सवैया का प्रचलन अत्यधिक होने से गीति-काव्य अकेला पड़ गया। संगीत राज-दरबारों में मनोरंजन की वस्तु होकर जम गया तो भक्ति के पदों को लोगों ने अछूत समझ कर त्याग ही दिया। आत्म-परितोष का उद्देश्य आश्रयदाता की कृपा-प्राप्ति में परिवर्तित हो गया। इस युग में दो-चार भक्त-कवियों ने अवश्य गीत-काव्य को जीवित रखा। एक बात अवश्य है कि रीतिकाल में स्वीकृत छंद गेय होते थे। कवित्त और सवैयों को कई प्रकार से गाया जा सकता है। इसलिए अवान्तर से हम यह कह सकते हैं कि रीतिकाल में गीति-काव्य अपने परिवर्तित रूप में जीवित रहा आया।

आधुनिक-युग—इस युग का आरंभ भारतेन्दु हरिश्चन्द से माना जाता है। उन्होंने अपने सतत प्रयत्नों से जो युग-परिवर्तन किया उसी का प्रभाव हमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। इस युग के आरंभ में वर्तमान कवियों में से प्रमुख कवियों का झुकाव भक्ति की ओर अधिक रहने से पद रचना को पुनः प्रश्रय प्राप्त हुआ। आत्म-निवेदन और आध्यात्मिक दुख के साथ राष्ट्रीयता का उत्थान भी इस युग की महान् विशेषता है।

गीतों को उनका वास्तविक रूप प्रदान करने वाले कवि थे श्री जयशङ्कर प्रसाद। उनके पश्चात् तो हिन्दी साहित्य में गीतों ने प्रमुख स्थान पा लिया है और आज का युग सर्वांशतः गीति-युग ही कहा जाने योग्य है।

रीतिकाल में साहित्य का जो अधः पतन हुआ। राधा और कृष्ण की जैसी छीछालेदर की गई, उस अवनति को नष्ट करने के हेतु भारतेन्दु ने अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रयोग किया। एक ओर उन्होंने ब्रजभाषा में पद लिखे तो दूसरी ओर खड़ी बोली में गीत लिखकर उसे सार्थक सिद्ध करके साहित्यिक-रंगभूमि पर लाकर खड़ा

कर दिया। उनकी प्रतिभा चतुर्मुखी प्रमाणित हुई और साहित्य में उनका स्थान चक्रवर्ती के समान आँका गया।

भारतेन्दु-युग के सन्धिकाल में द्विवेदी युग का विस्मरण करना अकृतज्ञता होगी। द्विवेदी-युग में प्राचीन परिपाटी का परिष्कार हो चुका था। श्रीधर पाठक और मैथलीशरण जी गुप्त जैसे उद्भट कवियों का प्रादुर्भाव हो चुका था। 'भारत-भारती' राष्ट्रीय भारत की गीता बन गई। द्विवेदी जी के सतत परिश्रम और प्रयत्न से नवीन कवियों में गीति-काव्य की ओर नवीन अभिरुचि उत्पन्न हो चली थी।

प्रसाद-युग से आज तक गीतों का जितना और जैसा विस्तार तथा प्रसार हुआ वह कदाचित भक्तिकाल से भी अधिक माने जाने योग्य है। आधुनिक-युग में गीतों को साहित्यिक रूप प्राप्त हो गया। मधुर से मधुर और कोमल से कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति सरल हो गई। गीतों के क्षेत्र बन गये। छायावादी, रहस्यवादी, समाजवादी और न जाने कितने वादों से प्रभावित गीतों की रचनाएँ हो रही हैं। यहाँ तक कि हिन्दी की छोटी बहिन उर्दू भी गीतों की ओर बढ़ी चली आ रही है। सागर निजामी और जोश मलीहाबादी जैसे गीतकार उर्दू में विद्यमान हैं। हिन्दी के नाटकों में भी परिष्कृत गीतों के दर्शन हो रहे हैं। निराला जी, महादेवी वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, हरिवंशराय बच्चन आदि कितने ही प्रतिभाशाली कविवर साहित्योद्यान को काव्य-कलरव से मुखरित कर रहे हैं।

परन्तु गीतों ने जो नई करवट बदली है और 'नई राह' स्वीकार की है वह आशंका की अस्पष्ट चेतावनी है। सिनेमा के क्षेत्र से जिन गीतों की झंकार आ रही है, उनमें रीतिकालीन विलासिता की गंध है, नैराश्य का सन्देश है और साहित्यिकता के दूर हो जाने की प्रवृत्ति विद्यमान है। समय-परिवर्तन के साथ-साथ अर्थात् भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् निर्माण की ओर उन्मुख करने वाले गीतों की आवश्यकता हमारे जैसे व्यक्तियों की दृष्टि में अत्यावश्यक है—यही युग की माँग है।

इस प्रकार वैदिक-युग से लेकर आज तक गीति-काव्य की परम्परा किसी न किसी रूप में अविरल गति से चली आ रही है। और जब तक मानव का जीवन है, उसकी गुनगुनाहट के साथ साथ गीति-काव्य अमर रहेगा।

कृष्ण-काव्य का आरम्भ

गीति-काव्य के द्वारा कृष्ण-काव्य को जन्म देने वाले महाकवि विद्यापति ही हैं। ऐसा भी माना जाता है कि उनको श्री जयदेव के गीतगोविन्द से प्रेरणा प्राप्त हुई। विद्यापति ने अधिकांशतः राधाकृष्ण की प्रेम-माधुरी के गीत ही गाये हैं।

सगुणोपासना तथा भक्ति का प्रचार और प्रसार दक्षिण भारत से ही हुआ है। भागवत् में इसका उल्लेख है। भक्ति ने नारदजी से कहा कि मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न होकर कर्णाटक में बढ़ी और फिर महाराष्ट्र में कुछ कुछ क्षीण होती हुई सर्वथा जरा-ग्रस्त हो गई। वहाँ घोर कलियुग के प्रभाव से पाखंडियों ने मेरा अँग भँग कर डाला। अब मैं वृन्दावन में आकर अत्यन्त प्रिय रूपवाली अति सुन्दरी नवयुवती सी हो गयी हूँ।[1] नारदजी ने कहा, इस वृन्दावन का संयोग पाकर तू फिर नवीन तरुणी हो गई। इसलिये यह वृन्दावन धाम धन्य है कि जहाँ भक्ति सर्वत्र नृत्य करती फिरती है।[2]

दक्षिण में भक्ति-मार्ग के प्रचारक चार वैष्णव आचार्य हुए हैं। रामानुजाचार्य (सं० १०७४-११९४ वि०), ने विष्णु अथवा नारायण की भक्ति का प्रचार किया। इन्हीं के शिष्य रामानन्द ने, चौदहवीं शताब्दी में श्रीराम में नारायणत्व की प्रतिष्ठापना करके सभी के लिये भक्ति का मार्ग उन्मुक्त कर दिया। इसी परम्परा में तुलसीदास जी हुए हैं।[3]

---

१. उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धि कर्णाटके गता।
कचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ॥४८॥
तत्र घोरकलेर्योगात्पाखण्डैः खण्डिताङ्गका।
दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सहमन्दताम् ॥४९॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताहं युवती सम्यक्प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम् ॥५०॥ भागवत

२. वृन्दावनस्य संयोगात्पुनस्त्वं तरुणी नवा।
धन्यं वृन्दावनं तेन भक्तिर्नृत्यति यत्र च ॥६१॥
—भागवत, अध्याय १, स्कंध १

३. जाति-पाँति पूछे नहिं, कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई।
—तुलसीदास

निम्बार्काचार्य, बारहवीं शताब्दी में हुए। राधाकृष्ण की भक्ति के प्रचार का श्रेय आप को ही दिया जाता है। यह भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत मतवाद के मानने वाले थे। इनका जन्म बिलारी जिले के निम्बापुर ग्राम में हुआ था। इनके द्वारा रचित "सविशेष निर्विशेष श्री कृष्णस्तवराज" नाम २५ श्लोकों का एक स्तोत्र भी है। निम्बार्क सम्प्रदाय को 'सनक सम्प्रदाय' अथवा 'हंस सम्प्रदाय' भी कहते हैं।

"वस्तुतः विज्ञान स्वरूप एक ही ब्रह्म सर्व जीव-जगत का नियन्ता है। जीव और ब्रह्म में अभेद रहते हुए भी जीव का तथा ब्रह्म का विलक्षण व्यवहार है, जैसे अवतार और अवतारी, गुण और गुणी में अभेद है, परन्तु दृष्टिमात्र से भेद दिखाई देता है, वस्तुतः भेद नहीं है।" यह निम्बार्क-सम्प्रदाय का प्रथम सिद्धान्त है।[1]

इस मत में श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं और राधा तथा गोपियाँ उसी परम ब्रह्म की उत्पत्ति हैं।

तीसरे आचार्य हुए हैं मध्वाचार्य (सं० १३१४ वि०) इन्होंने शंकर के अद्वैतवाद का खंडन करते हुए द्वैत-सिद्धान्त की स्थापना की। माध्व-मत में भेद स्वाभाविक तथा नित्य है। इस मत के अनुसार परमात्मा अनन्त गुणपूर्ण है और उसका प्रत्येक गुण असीम है। इन्होंने भी श्रीकृष्ण को ब्रह्म माना है। राधा को कोई मान्यता नहीं दी गई है।[2]

चौथे आचार्य हुए विष्णु स्वामी (सं० १३७७ वि०) इस नाम के तीन आचार्य हुए हैं। वल्लभमत से पूर्व आचार्य विष्णु स्वामी का वर्णन 'वल्लभ सम्प्रदाय' के 'सम्प्रदाय प्रदीप'[3] में है। इसमें स्वामी जी का समय युधिष्ठिर के राज्यकाल के पश्चात माना है और उनको द्रविड़ देश के क्षत्रिय राजा के मन्त्री का पुत्र बताया गया है।

१. एकमेव ब्रह्म विज्ञान रूपं वस्तुतः सर्वकारकम्। जीव ब्रह्मणोक भेदेऽपि वैलक्षण्य व्यवहारोऽवतारावतारिणोरिव नित्यस्तेन न क्वापि वाक्यव्याकोपो भक्ति सिद्धश्च। न च धर्मसाङ्कर्यम्। घटकपालयोर्गुणगुणीनोश्च सत्यप्यभेदे तद्दर्शनात्।

—निम्बादित्य दश श्लोकी हरिव्यासदेव पृष्ठ २८।

२. अजड़ और जड़ प्रकृति दो प्रकार की मानी गई हैं। अजड़ प्रकृति चित् स्वरूपा है और वही लक्ष्मीरूप में स्थित रहती है। भगवान लक्ष्मी में स्त्री भाव रखते हैं। श्री, भू, ह्रीं, दक्षिणा, सीता श्रीनी, सत्या, रुक्मिणी, आदि सब लक्ष्मी के ही भिन्न रूप हैं अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, ले० डा० दीनदयालु गुप्त डी० लिट् पृ० ५२।

३. सम्प्रदाय प्रदीप पृ० १४ : ३०

'गौड़ीय दशमखण्ड"[१] के लेख में भक्ति सिद्धान्त सरस्वती जी ने देवतनु विष्णु स्वामी को ईस्वी सन् ३०० वर्ष पूर्व माना है। एक राजगोपाल विष्णु स्वामी भी बताये जाते हैं। तीसरे जो विष्णु स्वामी हुए, वे श्री वल्लभाचार्य जी के पूर्व-पुरुषों के गुरु थे।

रायबहादुर श्री अमरनाथ जी का एक लेख 'भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट एनल्स' में छपा है, जिसमें कहा गया है कि माधवाचाय तथा सायणाचार्य के गुरु श्री विद्याशंकर थे, और इन्हीं का दूसरा नाम, विष्णुस्वामी था।[२]

इसलिए विष्णुस्वामी की स्थिति का वास्तविक पता लगाना कठिन है। जो भी हो, इस सम्प्रदाय ने कृष्ण के साथ राधा की भक्ति का उपदेश दिया।

भक्ति के प्रचार में सबसे अधिक योग चैतन्य महाप्रभु तथा वल्लभाचार्य जी ने दिया। दोनों ने राधा की भक्ति को प्रमुखता प्रदान की। उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति की सरस-सरिता प्रवाहित करने का श्रेय वल्लभाचार्य को ही है। श्रीकृष्ण को आपने पर-ब्रह्म माना है। माया इसी सत्ता की शक्ति है। परब्रह्म का अनुग्रह ही इस सम्प्रदाय का "पुष्टिमार्ग" है। प्रेम और अनुराग के आधार पर श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करने पर ही हृदय में श्रीकृष्णानुभूति होती है। इसीलिए अष्टछाप के कवियों के काव्य में ज्ञान की उपेक्षा है और भक्ति-तत्व की प्रधानता है - राधाकृष्ण की भक्ति में नवों प्रकार की भक्ति का समावेश करने से कृष्ण-विषयक काव्य अत्यन्त प्रिय हो गया।

कृष्ण-भक्त कवियों को सन्त कवियों से भी बड़ी सहायता मिली, क्योंकि उनकी भक्ति भी नवधा-भक्ति के अन्तर्गत ही थी। कृष्णभक्ति-धारा के अन्तर्गत जो प्रमुख कवि हुए हैं, उनका संक्षिप्त विवरण निम्न है :—

विद्यापति—(सं० १४४५—१५३२) दरभंगा जिले के अन्तर्गत बिसपी ग्राम निवासी, राजा शिवसिंह और उनकी रानी लखिमादेवी के आश्रित, धुरंधर विद्वान् संस्कृत, अवहट्ट अर्थात साहित्यिक अपभ्रंश के विद्वान् लेखक, सरस-सुकोमल पदावली के कारण यश-मान तथा ख्याति प्राप्त हुई। आश्रित कवि होने से पदों में मनोरंजकता अधिक है। शृंगारिक जीवन के चित्रों में नग्नता अधिक है। शिव-पार्वती से सम्बद्ध पदों में भक्ति-भावना पवित्रतम है। हृदय-प्रधान होने से पदों में मार्मिकता, मधुरता तथा सरसता पर्याप्त है। इनके आस-पास ही गोविन्ददास, उमापति तथा नारायण आदि कवि भी हुए हैं।

सूरदास—(सं० १५४०—१६४२) आगरा-मथुरा वाली सड़क पर रुनकुता

---

१. गौड़ीयदशमखण्ड पृष्ठ ६२४ : ६२६

२. Bhandarkar Research Institute Annals, 1933 April to July Vol, XIV, Pt. III, IV pages 116 and 118.

ग्राम जन्मस्थान, सारस्वत ब्राह्मण, कुछ लोग जन्मान्ध मानते हैं, वल्लभाचार्य जी का शिष्यत्व ग्रहण करने के पश्चात् समस्त भागवत् का पद्य वद्ध अनुवाद किया जो सूरसागर कहलाता है। अष्टछाप के प्रमुख-कवि। इनके पदों में आत्म-परितोष और भक्ति की प्रवलता पाई जाती है। ब्रजभाषा को साहित्यिकता प्रदान करके उसे मधुरता से मंडित कर दिया। गीति-काव्य परम्परा में अपूर्व सहयोग तथा पथ प्रदर्शन करने वाले महाकवि! भ्रमरगीत के जन्मदाता।

नंददास—समय-निर्धारण अनिश्चित, सूरदास-तुलसीदास के समकालीन, विट्ठल नाथ जी के शिष्य, काव्य-कला मर्मज्ञ तथा गायक, उत्कृष्ट काव्यत्व तथा भावाभिव्यक्ति-पूर्ण सरस कवि। इनके रासपंचाध्यायी तथा भ्रमरगीत अति प्रसिद्ध हैं।

कृष्णदास—(सं० १६०० वि के लगभग) शूद्र होते हुए भी वल्लभ सम्प्रदाय के प्रधान कवि। शृंगाररस के पदों के निर्माता।

परमानंददास—(सं० १६०६ के आस पास) तन्मयता और भक्ति की विह्वलता इनके पदों के गुण हैं। शृंगार में संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का मार्मिक चित्रण किया है।

कुंभनदास—(सं० १६०७ के आस-पास) कवि तथा उच्च कोटि के गायक।

चतुर्भुजदास—कुंभनदास के पुत्र। भाषा सरल, सुव्यवस्थित तथा सरस।

छीतस्वामी—(सं० १६१२) इनके पद सरस तथा भक्ति भावना से परिपूर्ण हैं। ब्रज-भूमि के प्रति अनन्य प्रेम प्रदर्शित करने वाले सर्व-प्रथम राष्ट्र-कवि।

गोविन्दस्वामी—(सं० १६१२ वि०) उच्चकोटि के गायक तथा कवि। तानसेन भी इनके गायन सुनने को लालायित रहते थे।

मीराबाई—(सं० १५५५–१६३०) सूरदास के पश्चात् सर्वप्रथम स्त्रीभक्त तथा कवियित्री, मेड़ता जन्मस्थान, बालकाल से ही भक्ति की ओर प्रवृत्ति, शृंगार का वियोग-पक्ष अत्यन्त उज्ज्वल तथा प्रभावोत्पादक, काव्य में हृदय-पक्ष प्रधान, भाषा में देशीय-विदेशीय शब्दों का प्रयोग है परन्तु भाव-पक्ष की प्रबलता के कारण वे शब्द अटपटे नहीं जान पड़ते हैं।

हितहरिवंश—(सं० १५५९) राधावल्लभी सम्प्रदाय के संस्थापक, संस्कृत के विद्वान, गीति-काव्य में मौलिक पदों के सृष्टा, पदों में नितान्त माधुर्य्य के दर्शन होते हैं।

गदाधर भट्ट—(सं० १५९०) चैतन्य महाप्रभु के शिष्य, संस्कृत के विद्वान, भागवत् के गायक, पदों में गो० तुलसीदास जी के जैसा आत्म-निवेदन परिलक्षित होता है।

सूरदास मदनमोहन—(सं० १६००) संडीला के निवासी, भक्ति की प्रबल प्रेरणा से वृन्दावन आ गये। पदों में मार्मिकता है।

रसखान—(सं० १६१५) मुस्लिम कवि, परम भागवत, काव्य में सरसता, मधुरता और मार्मिकता, दिल्ली के पठान सरदार, शाही-कुटुम्ब के वंशधर, थोड़ा लिखकर भी अमर होने वाले।

रहीम—(सं० १६१०-८२) संस्कृत, अरबी, फारसी के विद्वान्, कुशल कवि, व्रजभाषा में सीधिकार लिखने वाले।

तुलसीदास—(सं० १५८९-१६८०) साहित्याकाश के चन्द्र, श्रीकृष्ण-गीतावली में अनेकानेक उत्कृष्ट पदों की रचना की है।

इस प्रकार भक्तिकाल से आरम्भ होकर, रीतिकाल के मध्य से अनुप्राणित होती हुई कृष्णकाव्य की धारा-वर्तमान युग में आई। इस दिशा में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, डा० मैथिलीशरण गुप्त, श्री जगन्नाथदास रत्नाकर, श्री सत्यनारायण कविरत्न, डा० रामशकर शुक्ल रसाल, श्री द्वारका प्रसाद मिश्र तथा श्री अमृतलाल जी चतुर्वेदी आदि कवियों का प्रयत्न सराहनीय तथा अनुकरणीय है।

कवि श्री जयदेव और उनका गीत गोविन्द

संस्कृत साहित्य में जयदेव नाम के कई कवियों का उल्लेख है। इन सब में से गीत गोविन्द के प्रणेता श्री जयदेव बङ्गाल निवासी थे। इनके पिता का नाम भोजदेव था और माता का नाम रामादेवी था। वीरभूमि जिले के अन्तर्गत केन्दुविल्व अथवा केन्दुली ग्राम में इनका जन्म हुआ था। कहा जाता है कि वे पन्द्रहवीं शताब्दी में विद्यमान थे परन्तु "विश्व-कोषकार" इनको इससे भी प्राचीन मानते हैं, क्योंकि श्रीधरदास के सूक्तिकर्णामृत में इनकी कविता उद्धृत है। गीत गोविन्द की एक प्राचीन प्रतिलिपि में "लक्ष्मण सेन नाम नृपति समये श्री जयदेवस्य कविराज प्रतिष्ठा" लिखा है। इससे यह माना गया है कि वे गौड़ाधिप लक्ष्मणसेन की सभा में विद्यमान थे। 'अलंकार-शेखर' में लिखा है कि वे उत्कलराज के सभा-कवि थे। इस विषय में कोई प्रबल प्रमाण नहीं दिया गया है।

छोटी आयु में ही जयदेव को वैराग्य हो गया था। वे पुरुषोत्तम क्षेत्र चले गये। एक ब्राह्मण ने अपनी कन्या का समर्पण कर दिया। उसका नाम पद्मावती था। पिता अपनी कन्या को इनके पास छोड़ कर चला गया। कहा जाता है उसे ऐसा ही आदेश श्री जगन्नाथ जी से मिला था। अन्ततः जयदेव गृहस्थ में प्रविष्ट हुए।

उन्होंने अपने घर में नारायण-विग्रह की प्रतिष्ठा की। उनका हृदय कृष्ण-प्रेम से गद्गद् होगया। तभी गीत-गोविन्द को नींव पड़ी। वही ग्रन्थ इनकी ख्याति का आधार हुआ।

किम्वदन्ती है कि गीत-गोविन्द में एक स्थान पर श्री जयदेव को यह लिखना था कि श्रीकृष्ण राधिका के चरणों में पड़ गये। चाहते हुए भी वे ऐसा नहीं लिख सके क्योंकि वे श्रीकृष्ण को जगत्पिता मानते थे। दैववशात् जब एक दिन आप समुद्र-स्नान के हेतु गये तो महाप्रभु जगन्नाथ जी स्वयं जयदेव के रूप में पधारे और उस पद के अन्त में "देहि पदपल्लवमुदारम्" लिख गये। लौटने पर उनकी पत्नी पद्मावती ने कहा कि "अभी तो आप कुछ पुस्तक में लिख कर गये थे और इतनी शीघ्रता से स्नान कर आये ?" जयदेव के पूछने पर उसने समस्त घटना का वर्णन किया। जयदेव ने बड़ा दुख प्रदर्शित किया और कहा कि "तुम्हीं धन्य हो, जिसने साक्षात् महाप्रभु के दर्शन प्राप्त किये हैं। मेरे भाग्य में यह सुख नहीं था, इसलिए मैं परम अभागा हूँ।"

जयदेव के गीत गोविन्द की महिमा चारों ओर प्रसारित हो गई। भक्त और

भावुकगण उन पदों को गाकर तथा सुनकर भावविभोर होने लगे। इस सम्बन्ध में एक प्रशंसात्मक कथा प्रचलित है कि किसी उद्यान में एक मालिन गीत गोविन्द गा रही थी। भगवान् श्री जगन्नाथ जी उसे प्रसन्नता से सुनते हुए उस उद्यान में प्रविष्ट हुए, फलस्वरूप उनके वस्त्रों में धूलि लग गई और काँटे चिपट गये। पुरी-नरेश ने सायंकाल को दर्शन के समय यह सब देखा तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। इस पर उसे स्वप्न में श्री-जगन्नाथ जी ने सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया। तभी से बराबर उनके मंदिर में गीत-गोविन्द का पाठ होता है।

कहा जाता है कि राधा-माधव इन पर अत्यन्त कृपा करते थे। एक दिन जब ये अपना छप्पर डाल रहे थे, तो धूप से व्याकुल देखकर राधामाधव, वेष बदल कर, इनको फूस उठा उठा कर देने लगे। जयदेव ने समझा कि उनकी पत्नी पद्मा है। उतर कर देखा तो वहाँ कोई नहीं था। निज-मंदिर में पहुँच कर दोनों के हाथों में कालिख लगी देखी, तो समझ गये कि हमारी सहायता करने वाले कौन थे। राधामाधव-उत्सव मनाने की इच्छा से जयदेव ने पर्यटन किया। मार्ग में डाकुओं ने मार-पीट कर, जो कुछ था वह भी छीन लिया और एक कुएँ में फेंक दिया। ये वहीं से 'कृष्ण कृष्ण' का जाप करने लगे। उस स्थान से एक राजा जारहे थे, उन्होंने इनको बाहर निकाला। तब से वे राज-प्रासाद में रहने लगे और राजाश्रय भी मिल गया।

रानी के साथ पद्मावती का अच्छा हेल-मेल हो गया। एक दिन रानी अपने भाई की मृत्यु तथा अपनी भावी का सह-गमन सुनकर रो रही थीं तो पद्मावती ने कहा कि पति के मरने पर पत्नी का सती होना स्वाभाविक है। रानी को यह बुरा लगा। एक दिन उसने परीक्षा लेने के लिए झूठ-झूठ कह दिया कि जयदेव का प्राणान्त हो गया। पद्मावती के प्राण तुरन्त छूट गये। रानी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। पश्चात् जयदेव की प्रार्थना पर भगवान ने पद्मावती को जीवित कर दिया।

इसके बाद राधामाधव को झोली में डालकर आप वृन्दावन चले आये।

जब तक जयदेव केन्दुली में रहे, लगभग १८ मील पैदल चलकर गंगास्नान करने जाया करते थे। एक दिन आप गंगा स्नानार्थ नहीं जा सके तो गंगा जी की धारा बढ़कर इनके ग्राम तक आ पहुँची। यहीं उनकी मृत्यु हुई थी। उनके स्मरणार्थ आज तक यहाँ माघ-संक्रान्ति को मेला लगता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में गीत-गोविन्द को अपार्थिव माना जाता है। कई प्रान्तीय भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है।

विद्यापति और उनके कृष्ण-विषयक गीत

संस्कृत-साहित्य में जो पद और प्रतिष्ठा श्री जयदेव ने प्राप्त की, वही मान-सम्मान हिन्दी में विद्यापति को प्राप्त हुआ, इसीलिए वे अभिनव जयदेव की उपाधि से विभूषित किये गये। महाप्रभु चैतन्य तो उनके पदों को गाते-गाते मूर्छित हो जाया करते थे। उनकी शिष्य-परम्परा ने भी इनकी पदावली को अपनाया और कुछ काल के पश्चात् चण्डीदास और विद्यापति वङ्गीय साहित्य के आदि-कवि माने जाने लगे।

परन्तु यह निर्विवाद है कि विद्यापति मैथिल थे। श्री जोन्सवीम्स ने यह प्रमाणित किया है कि पदावली की भाषा बंगला नहीं है।[1] 'विश्वकोषकार' भी ऐसा ही मानते हैं।[2] इतना ही नहीं सर ग्रियर्सन, जस्टिस शारदा चरण मित्र द्वारा उन्साहित श्री नगेन्द्रनाथ ने तथा महामहोपाध्याय हरिप्रसाद जी शास्त्री ने भी ऐसा ही माना है।[3]

मिथिला में मधुवनी सब-डिवीजन (दरभंगा) संस्कृत का केन्द्र माना जाता है। इसी के अन्तर्गत कमतौल स्टेशन से दो कोस की दूरी पर विसपी या विस्फी नामक ग्राम है। यही विद्यापति का निवास-स्थान है। राजा शिवसिंह ने, जो मिथिला-नरेश थे, यह ग्राम कविवर को पुरस्कार-स्वरूप प्रदान किया था। यहाँ विद्यापति की कुलदेवी विश्वेश्वरी का मन्दिर अभी तक विद्यमान है।

विद्यापति के पूर्वज बड़े विद्वान् और यशस्वी थे और उन्होंने बहुत से ग्रन्थों की रचना की हैं। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि विद्यापति पर वंशानुगत पाण्डित्य का पर्याप्त प्रभाव था।

इनके पिता का नाम गणपति ठाकुर था, उनके साथ वे राज-दरबार में आया-जाया करते थे। उस समय मिथिला-नरेश गणेश्वर थे। उनके देहान्त के पश्चात् कीर्तिसिंह राजा हुए, उनके पश्चात् भवसिंह गद्दी पर बैठे, तत्पश्चात् देवसिंह अधिप हुए,

---

1. Indian Antiquary vol II p. 37.
२. "विश्वकोष" भाग २१, पृष्ठ ३८४
3. An Introduction to Maithili language of North Bihar 1881-82, Pali, Asiatic Society.
—विद्यापति पदावली-नगेन्द्रनाथ कृत, भूमिका भाग
—कीर्तिलता, सं० म० म० हरप्रसाद शास्त्री

तभी शिवसिंह को युवराज बनाया गया। वस्तुतः राज-कार्य शिवसिंह ही करते थे। वे महाराज भी कहलाते थे। शिवसिंह और विद्यापति में गहरी मित्रता थी। शिवसिंह ने राजा होने पर विसपी ग्राम विद्यापति को प्रदान किया। उनकी सर्व गुण-सम्पन्ना रानी का नाम लखिमादेवी था। इन दोनों का आश्रय-प्रश्रय पाकर विद्यापति ने शृंगार की सरिता प्रवाहित कर दी। आलोचकों को एक वार पुनः कालीदास की प्रतिभा के दर्शन हुए। अन्तपुरः में भी उनके पद गाये जाते थे। उनके पदों में राजा-रानी दोनों का नाम रहता था।

विद्यापति दार्शनिक थे। उनके पदों में इसकी स्पष्ट छाया है। शिवसिंह की मृत्यु विद्यापति के सामने ही हो गई थी और उसके ३२ वर्ष पश्चात् महाकवि का शरीरान्त हो गया था।

विद्यापति का जन्म संवत् जानने का कोई विशेष साधन नहीं है। अतएव निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। उनकी रचनाओं में कीर्तिलता, कीर्ति-पताका, भूपरिक्रमा, पुरुष परीक्षा, लिखनावली, शैवसर्वस्वसार गंगावाक्यावली, विभाग-सार दानवाक्यावलो, गयापत्तलक, दुर्गाभक्तितरंगिणी, वर्षकृत्य, पदावली, आदि मुख्य हैं।

विद्यापति का वाह्यज्ञान अपरिमित था। संस्कृत, प्राकृत और मैथिली भाषाओं के परम विद्वान् थे। उनकी कवित्व-शक्ति का परिचय उनकी अनूठी उद्भावनाओं से मिलता है।

उन्होंने शृंगारिक-काव्य की जैसी सृष्टि की है और जैसा चित्रण किया है वह अद्वितीय है। प्रसंगवशात् हम केवल एक ही उदाहरण देकर अपने विषय पर आजावेंगे।

सद्यः स्नाता का वर्णन करते हुए विद्यापति लिखते हैं।

जाइत पेखल नहाइलि गोरी
कत सजे रूप धनि आनलि चोरी। २।
केस निगारइत बह जलधारा
चामरे गरम जनि मोतिमहारा।। ४।
अलकहिं तीतल तें अति सोभी
अलिकुल कमले वेढ़ल मधुलोभी।। ६।
नीर निरंजन लोचन राता
सिन्दुरमंडित जनि पंकज-पाता। ८।
सजल चीर रह पयोधर सीमा
कनक बेल जनि पड़ि गेल हीमा। १०।

ओ नुकि करत चाहि किय देहा
अवहि छोड़व मोहि तेजवऽसनेहा । १२ ।
ऐसन रस नहि पाओव आरा
इये लागि रोइ गरय जलधारा ।। १४ ।
विद्यापति कह सुनहु मुरारि
वसन लाग भावरूप निहारि । १६ ।[1]

अर्थ—स्नान करके जाती हुई गौर वर्ण नायिका को मैंने देखा (वह अत्यन्त सुन्दरी है) न जाने सुन्दरता को वह कहाँ से चुरा कर लाई है। बाल निचोड़ते समय जलधारा वह रही है, ऐसा ज्ञात होता है कि बालों में से मोतियों के हार गिर रहे हैं। बाल भींगे हुए हैं, इसलिए उसकी शोभा और भी बढ़ रही है। प्रतीत होता है कि मधु (भीगे हुए सुगंधित बालों के जल) के लोभ से भ्रमरों ने कमल को घेर लिया है। जल में स्नान करने के कारण नेत्रों में से काजल छूट गया है और आँखें लाल हो गई हैं। वे सिन्दूर में रंगे हुए कमल के पत्तों के समान लगते हैं। कुचों पर भीगा हुआ वस्त्र हैं, मानों सुवर्ण लता के फलों पर वर्फ गिर पड़ी है। वस्त्र अपने आपको छिपाना चाहता है। क्यों ? नायिका मुझे और मेरे साथ प्रेम करना न छोड़ दे, क्योंकि ऐसा रस दूसरे स्थान पर नहीं मिलेगा। यही सोचकर वस्त्र रो रहा है तथा आँसू रूपी जल की धारा गिर रही है। विद्यापति कहते हैं—हे मुरारि ! सुनो, उस नायिका की सुन्दरता देखकर वस्त्र को भी भाव लग गया है अर्थात् वस्त्र भी प्रेम में आबद्ध होकर उसे छोड़ना नहीं चाहता है।

महाकवि माघ ने शिशुपालवध में सद्यः स्नाता का जो वर्णन किया है, उसे भी पढ़िये—

वासांसि न्यवसत याति योषितस्ताः
शुभ्राभ्रद्युतिभिरहासि तैर्मुदेव।
अत्याक्षुः स्नपनगलज्जलानि यानि
स्थूलाश्रुस्रुतिभिररोदि तैः शुचेव
सर्ग ८, श्लोक ६६,

अर्थः—स्त्रियों ने नवीन शुक्ल वस्त्र धारण किये, वे वस्त्र प्रसन्नता से हँसने लगे। उनकी हँसी ही वस्त्रों की स्वच्छ कान्ति है। नारियों ने जिन वस्त्रों का त्याग किया वे शोक से व्याकुल होकर रोने लगे। वस्त्रों से जल गिरना ही उनका रोना है।

१. महाकवि विद्यापति, स्व० प० शिवनंदन ठाकुर एम० ए०, १९९८ वि० पृष्ठ ९९-१००,

संस्कृत में कहा जाता है—नैषधे पदलालित्यं, भारवेरर्थगौरवम् । उपमा कालिदासस्य माघेसन्तित्रयो गुणाः ।" पद सौन्दर्य, अर्थ गौरव और उपमा तीनों ही गुण महाकवि माघ के पक्ष में कहे गये हैं । परन्तु विद्यापति उनको कहीं-कहीं कोसों पीछे छोड़ गये हैं । इसी पद में माघ कवि वस्त्रों को रुलाकर चुप हो जाते हैं परन्तु विद्यापति के वस्त्र रसिकता के अवतार हैं जो नायिका के रूप से आकर्षित हैं और रस-भंग होने से रोते हैं ।

श्रीकृष्ण से सम्बद्ध अनेकों अनूठे पदों की रचना महाकवि विद्यापति ने की है । कतिपय उदाहरण पढ़िये :—

कमल मुखी राधा स्नान करके ज्यों ही सरिता-तट पर आई त्यों ही सामने श्रीकृष्ण दिखाई पड़े । राधा गुरुजनों के साथ थी, अतएव कृष्ण का दर्शन कैसे करती । इसलिए उसने लज्जा से मुँह नीचा कर लिया । हे सखि ! वह गोरी राधिका बड़ी चतुर है, सबको छोड़कर वह आगे चली, और ओट में जाकर अपना मुँह फेर लिया और मोती का हार तोड़ कर चिल्लाने लगी—"मोती का हार टूट गया ।" सब एक-एक कर मोती के दाने चुनने लगे और राधा श्याम का दर्शन पाकर कृतार्थ हुई । राधा की आँखें चकोर हैं, कृष्ण का मुख सौम्य चन्द्रमा है । चकोर ने उसके अमृत रस का पान किया । विद्यापति कवि कहते हैं कि दोनों के दर्शन से दोनों ने परस्पर रस की हाट खोल दी ।

"नहाइ उठल तिरे राइ कमलमुखि
समुखे हेरल वर कान । १ ।
गुरुजन संग लाज धनि नत-मुखि
कैसने हेरव बयान । २ ।
सखि हे अपरुब चातुरिगोरि
सब जन तेजि कय अगुसरि संचरि
आड़ वदन तहें फेरि । ४ ।
तहिं पुनि मोति-हार तोड़ि फेंकल
कहइत हार टुटि गेल,
सब जन एक-एक कए चुनि सँचरु
श्याम-दरस धनि लेल । ६ ।
नयन चकोर कान्ह-मुख-ससि-वर
कमल अमिय रस-पान ।
दुहु दुहु दरसन रसहु पसारल
कवि विद्यापति भान । ८ ।"

विद्यापति ने 'भ्रमर दूत' शीर्षक के अन्तर्गत कुछ पदों की रचना की है, जो सूरदास के भ्रमरगीत से निश्चय ही भिन्न है। पहला पद धनछीराग में बिठाया गया है। इस पद में नायिका चिन्तनावस्था में चित्रित की गई है। वह कहती है कि कामकला में मेरी त्रुटि हुई या उन्हीं में (नायक में) रसिकता की कमी है। मेरे पति ने, दुष्टाओं के कठोर वचनों को सुना है। इसीलिए वे मेरी अवहेलना करते हैं। हे भ्रमर ! मेरा संवाद कह देना, वसन्त में दूर देश जाकर मत वसो। क्या वहाँ भौंरे नहीं गूँजते हैं ? कोयल पंचम स्वर में नहीं गाती हैं ? कामदेव धनुप पर बाण नहीं चढ़ाता है ? क्या वहाँ कोई विरही नहीं है या विरहियों का संसर्ग भी नहीं होता है ?

"की मेलि कामकला मोरिघाटि कि ओहे न बुझए रसपरिपाटि।
तीखर वचन कन्ते दिहु कानतें विहि करु मोरु सम अवधान। ध्रुव।
भमर हमर किछु कहव सन्देस कन्त बसन्तें न रह दुरदेस।
कीदहुं भ्रमर ततएनहिं नाद पिक पंचम धुनि मधुर न नाद।।
की धनुवान मदननहिं साज, की विरही नहिं विरह समाज।
प्राचीनतालपत्र पद ८९।

निम्न पद में कृष्ण के विरह से व्याकुल राधा का सफल चित्रण किया गया है। वह कृष्ण-कृष्ण रटती हुई कृष्णमय हो जाती है। कृष्ण का राधा-विरह और राधा का कृष्ण से विरह—यह दोनों ही कष्ट राधा को सहन-वहन करने पड़ रहे हैं। वह कभी कृष्ण हो जाती तो कभी राधा।

प्रतिक्षण माधव माधव रटती हुई राधिका माधव होगई अर्थात् इतनी तन्मय हो गई कि अपने को भी माधव समझने लगी। वह भूल गई है कि वह राधा है और अपने को माधव समझकर राधा के गुणों पर मोहित होगई है। माधव ! तुम्हरा प्रेम अद्भुत है। अपने ही विरह से अपना शरीर जल रहा है। जीवन-मरण की समस्या है। प्रातः काल राधा ने सखी को कातर दृष्टि से देखा, और उनकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ पड़ी। वह प्रतिक्षण "राधा-राधा" रट रही है, किन्तु प्रेम से विह्वल होने के कारण, आधा ही वचन मुँह से निकलता है। वह राधा से माधव बन जाती है और फिर कुछ देर के बाद माधव से राधा हो जाती है। प्रेम विशाल रूप धारण करता है और उसका अभी अन्त ही नहीं होता है। परिणामस्वरूप विरह की वेदना बढ़ जाती है। जिस प्रकार दोनों ओर आग रहने पर एक कीट उसी ज्वाला से मर मिटता है, उसी प्रकार राधा को एक ओर राधा की विरहाग्नि और दूसरी ओर कृष्ण की विरहाग्नि है। इन दोनों अग्नियों की ज्वाला से राधा जली जा रही है।

अनुखन माधव माधव रटइत
राधा भेल मधाइ।

ओ निज भाव सुभावहिं विसरल
अपने गुन लुबुधाइ।
माधव, अपरुब तोहर सिनेह
अपने विरह अपन तनु जरजर
जीवनभेलसँ देह ।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छल - छल लोचनि पानि ।
अनुखन राधा-राधा रटइत
आधा-आधा वानि ।
राधा सों जब पुन तेहि माधव
माधव सँय जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत
बाढ़त विरह क बाधा।
दुहु दिसि दारु-दहन जैसे दगधई
आकुलकीटपरान ।

उपालम्भों की परम्परा

साधारणरूप से उपालम्भ का तात्पर्य है उलाहना देना। इसी को शिकवा करना या शिकायत करना कहा जाता है। जहाँ तक हमारा विचार है उपालंभ के अन्तर्जगत् में सात्विकता की समष्टि सम्पूर्णरूपेण रहती हैं। प्रेमी के प्रति ही उपालंभ अधिक प्रेषित किये जाते हैं। किसी राह-चलते पथिक को कोई उलाहना नहीं देता है, क्योंकि उसके प्रति स्नेह अथवा आदर का भाव नहीं होता है। इसके अतिरिक्त पूर्व-परिचय के अभाव में पथिक के हृदय में भी सहानुभूति का उद्रेक संभव नहीं है।[१]

जिसे हम अपना मानते हैं और जिस पर विश्वास करते हैं तथा जिसके प्रति हमारे हृदय में अगाध स्नेह होता है, उसकी ओर से कण-मात्र भी विश्वासघात की गंध आते ही हमारा हृदय विद्रोह कर उठता है।[२]

सिद्धान्ततः कार्य-कारण-सम्बन्ध स्पष्ट होने पर दुःख के भेद करुणा की नींव पड़ जाती है। इसी प्रकार स्नेह-चिक्कण चित्त पर विरह-वियोग की धूलि पड़ने से उपालंभों का जन्म हो जाता है। यह अनिवार्य है।[३] संभव नहीं है कि अग्नि प्रज्व-

---

१. कह परदेसी को पतिआरौ।
   पीछैं ही पछिताइ मिलौगे, प्रीति बढ़ाइ सिधारौ॥
   ज्यौं मृग नाद रीझि तन दीन्हौ, लाग्यौ बान बिषारौ।
   प्रीतिहिं लिएँ प्रान बस कीन्हौ, हरि तुम यहै बिचारौ॥
   बलि अरु बालि सुपनखा बपुरी, हरि तैं कहा दुरायौ।
   सूरदास प्रभु जानि भले हौ, भर्‌यौ भराइ ढरायों॥ (३१९५·
   बटाऊ होहिं न काके मीत।
   संग रहत सिर मेलि ठगौरी, हरत अचानक चीत।
   —सूरसागर, पृष्ठ १४९२। पद ४२८८.

२. तनिक कचाई देत ज्यौं सूरन लौं मुख लागि।
   —बिहारीलाल।

३. जो चाहो चटक न घटै मैलो होय न मित्त।
   रज, राजस न छवाइये नेह चीकनौ चित्त॥
   · बिहारीलाल।

लित हो और उसमें से धुआँ न निकले। यह विरहाग्नि है और उपालंभ उसमें से निसृत धूम के समान है, जो काव्य का आश्रय पाकर सुगंधि-पूर्ण हो जाता है, सहज कड़वापन उसमें से निकल जाता है। स्नेहासिक्त उपालंभों की यही विशेपता है।

कविवर घनानन्द जी ने इसकी वड़ी सुन्दर परिभापा दी है—

"पहिलैं अपनाय सुजान सनेह सौं, क्यों फिर नेह को तोरिये जू।
निरधार अधार दै धार मझार दई गहि बाँहि न बोरिये जू॥
घन आनंद आपने चातक कौं, गुन बाँधिकै मोह न छोरिये जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस, बिसास मैं यौं विप घोरिये जू॥

जहाँ तक कविता के आस्वाद का सम्बन्ध है, उसे सर्वसाधारण के पक्ष में सुलभ करने के हेतु उसका साधारणीकरण अत्यन्त आवश्यक है। यह साधारणीकरण तभी संभव है जब उसमें करुणा का पुट दिया जाय। करुणा ही एक ऐसी मानवीय स्थिति है जो विश्व के धरातल पर समानता का वातावरण उपस्थित करती है। किसी के वैभव और विलास को देखकर हमारे हृदय में प्रसन्नता के स्थान पर ईर्ष्या उत्पन्न होना मनोविज्ञान के अनुकूल है; परन्तु किसी अपरिचित व्यक्ति को कष्ट में देखकर हमारे हृदय में उसके प्रति करुणा उत्पन्न होगी, उसी का नाम सहानुभूति है। यह उदाहरण सिद्ध करता है कि मानव का मन संवेदन-शील है और उस संवेदना की पृष्ठभूमि करुणा है, जो दुःख से उत्पन्न होती है।

हर्षातिरेक के कारण हम किसी को उपालभ नहीं देते। संयोग में पिछली दुःख-भरी बातों का विस्मृत हो जाना स्वाभाविक है, क्योंकि उस समय हमें आनन्द की प्राप्ति होती है, परन्तु वियोग में जिस कल्पित अथवा अकल्पित दुःख की छाया मूर्ति-मान हो उठती है, उसी के कारण उपालंभों का जन्म होता है।

यदि श्रीकृष्ण मथुरा न चले गये होते तो गोपियों को उपालम्भ देने की आवश्यकता ही क्यों होती? इसके साथ ही साथ यदि श्रीकृष्ण के प्रति उनके हृदय में सात्विक और शाश्वत स्नेह नहीं होता तो भी वे उपालंभ नहीं देतीं। उद्धव भी तो ब्रज में पधारे थे परन्तु किसी गोपी ने, कभी भी उनके समीप कोई उलाहना नहीं भेजा। इसका कारण उद्धव के साथ स्नेह-सम्बध न होना ही था।

यों तो कवियों ने संयोग शृंगार का बड़ा ही सफल वर्णन किया है परन्तु उसमें जन-साधारण का मन रमण नहीं कर पाता है। वियोग-शृंगार से उसके हृदय में जो एक मीठी-सी कसक उत्पन्न हो जाती है, वह बार-बार उसे सहेजता है और अपने वियोग-जन्य-अनुभव की अनुभूति पाकर डूब जाता है। तात्पर्य यह है कि वियोग-शृंगार में साधारणीकरण के तत्त्व कहीं अधिक हैं और उपालंभ उसके प्राण हैं।

विश्व में प्रचलित किसी भी भाषा के साहित्य को उठाकर देख लीजिये। उस भाषा की कविताओं में प्रेमियों के ही विरह आदि के वर्णन की प्रधानता दिखाई देगी। नाना प्रकार के उपालंभों के दर्शन होंगे—जैसे एशिया के अरब और फारस आदि देशों में, वैसे ही योरुप के इटली आदि संगीत-प्रिय नगरों में भी यही पद्धति प्रचलित रही।

हमारी ऐसी मान्यता है कि उपालंभों की परम्परा अति प्राचीन है। भगवान को भी जब-जब अपनी सृष्टि में कोई न्यूनता दिखाई दी होगी तो उसने अपने स्रष्टा स्वरूप को उलाहना दिया होगा।

ऐसा जान पड़ता है कि सृष्टि के आरंभ के साथ हीं साथ उपालंभों का संसार भी निर्मित होगया होगा।

इसलिए उपालंभों का समय-निर्धारण करना अत्यन्त कठिन जान पड़ता है। बहुत खोज करने के पश्चात भी जिस प्रकार से कहानी का उद्गम स्पष्ट नहीं हो पाया है, ठीक उसी प्रकार से, निश्चितरूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि पहले उपालंभ का जन्म कब हुआ।

साहित्य के क्षेत्र में, जैसा कि माना गया है और बताया जाता है, बाल्मीकि को आदि-कवि कहा गया है। ऐसी मान्यता है कि उनकी वाणी के जो स्वर फूट उठे और उनके करुणा-पूरित हृदय से जो काव्य-धारा निर्झरित हो उठी, वही पहला पद्य है। उन्होंने क्रौंच-दम्पति के असंभावित-वियोग को देखकर बधिक से कहा— इनके शाश्वत दाम्पत्य-प्रेम में बाधा डालकर तूने घोर पाप किया। यह दोनों ही काम से मोहित प्राणी थे।[1] महर्षि की दृष्टि में यह निषाद का जघन्य अपराध था और तभी उन्होंने उसे उलाहना दिया कि उसे ऐसा निन्दनीय कर्म नहीं करना चाहिये था। मानवता के अवतार महर्षि बाल्मीकि का वह करुणोद्गार सबसे पहला उपालंभ था। इसके पश्चात् तो उपालंभों का वार्द्धक्य होता गया और संस्कृत-साहित्य में भगवान् विष्णु, चतुरानन आदि को विभिन्न प्रकार से उलाहने दिये गये। हिन्दी-कवियों ने भी इस दिशा में पीछे न रहने का संकल्प करके इसी परम्परा को स्वीकार किया। कृष्ण-काव्य में तो उपालंभों को चमका दिया गया है। गोपियों ने, चाहें वे सूर की गोपियाँ हों, चाहे नंददास की हों, अथवा कविवर रत्नाकर की गोपियाँ हों, उद्धव को ऐसी-ऐसी खरी-खरी सुनाई हैं कि उनकी समस्त "सिट्टी-पिट्टी" भूल जाती हैं। कृष्ण के प्रति उनके

---

१. मा निषाद प्रतिष्ठामृत्वमगमः शाश्वती समा :
यत्क्रौंचमिथुनादेकम् अवधी काममोहितम् ॥

उपालंभ हमारे जीवन के अत्यन्त निकट दिखाई देते है। कभी-कभी तो हम अपने आप को गोपी समझ बैठते हैं और उनके स्नेह की सरिता में अवगाहन करते ही रह जाते हैं।

अतएव हमारी यही मान्यता है कि सृष्टि के आरंभ के साथ ही साथ उपालंभों की परम्परा चल पड़ी है। यही परम्परा सुरसरिता के समान अबाध-गति और अविच्छिन्न रूप से बराबर बढ़ती चली आरही है।

———

सातवाँ अध्याय

ब्रजभाषा में कृष्ण-काव्य का आरंभ

विजय दृप्त इस्लाम के प्रवेश के कारण कम, परन्तु पारस्परिक ईर्ष्या और वैमनस्य के आधिक्य ने वीरगाथाकाल को जन्म दिया। इस युग में प्रत्येक छोटे-बड़े राजा-महाराजा के पास एक कवि रहता था, जिसका कवि-कर्तृत्व था अपने आश्रयदाता की उचित-अनुचित अतिशयोक्तिपूर्ण बड़ाई करना। इन्हीं ग्रन्थों का नाम रासो रखा गया। साधारण भाषा में 'रासा' का तात्पर्य बखेड़ा या झगड़ा ही होता है। कुछ काल पश्चात् जब मुगल-बादशाहों के पैर जम गये तो देश ने विवशता की साँस ली। पराधीन प्राणों में तड़पन और कसक तब भी शेष थी। चारों ओर से निराश होकर जनता ने जनार्दन की शरण ग्रहण करने का निश्चय किया। निर्गुण-सगुण दोनों ही मार्ग सामने थे। 'रूप' रेख बिनु जाति, जुगति बिनु' उनका क्या तो रंजन करता और क्या संरक्षण करता अतएव वे सगुण की ओर ही अधिक उन्मुख हुए जो कंस-निकेदन और द्रौपदी-रक्षक की उपाधियों से विभूषित था। इसी भावना की प्रधानता के कारण कृष्ण-काव्य का जन्म हुआ और इसका नाम भक्ति-काल रखा गया। वस्तुतः इस युग के सन्त-कवियों की काव्य-साधना निष्काम और स्वार्थहीन थी, इसीलिए भक्तियुग हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग माना गया है।

सूरदास से पूर्व, कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में हमें तीन महाकवियों के दर्शन होते हैं, जयदेव, विद्यापति और नामदेव। इनमें से जयदेव तो संस्कृत के कवि हैं और विद्यापति मैथिली भाषा के तथा नामदेव मराठी भाषा के कवि हैं। संस्कृत और हिन्दी का सम्बन्ध घनिष्ट है। मैथिली भाषा एक प्रकार से हिन्दी के अन्तर्गत ही है। जहाँ तक मराठी लिपि का प्रश्न है, वह हिन्दी से बहुत मिलती जुलती है। कम से कम जयदेव और विद्यापति को हम कृष्ण-काव्य की भूमि पर अभिनंदित कर सकते हैं।

जयदेव का कृष्ण-विषयक ग्रन्थ है, गीत-गोविन्द। इस ग्रन्थ में सरस और संगीतमय पदावली मे उन्होंने राधाकृष्ण की विलास-लीलाओं का वर्णन किया है। संस्कृत में होते हुए भी सामाजिक पदावली के कारण जन-बुद्धि-सुलभ होना उन पदों का सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण गुण है।

जयदेव ने हिन्दी में भी कुछ पद लिखे हैं। इनमें से दो पदों का सँग्रह सिख-सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रन्थ 'ग्रन्थ साहब' में किया गया है। यह दोनों पद काव्य के दृष्टिकोण से बिलकुल महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। ब्रज प्रान्त में गीत-गोविन्द का बड़ा सम्मान है। चाहें उसका पाठ न होता हो; परन्तु एक एक प्रति घर-घर में मिलना संभव है।

कविता के दृष्टिकोण से विद्यापति का काव्य-सौष्ठव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और स्तुत्य है। उनकी अनुपम भावनाएँ, अनोखी उपमाएँ, वर्णन की सरसता सभी-कुछ अद्वितीय है। यह बात दूसरी है कि वे कवि-कर्म के धरातल से इतने नीचे उतर आये हैं कि उनका काव्य अश्लील हो गया है, अतः आज का बुद्धिवादी आलोचक यह सोचता है कि विद्यापति भक्त-कवि हैं या शृंगारी? भक्ति-युग में उनके पद लोक-प्रिय हो चुके थे। यहाँ तक कि महात्मा चैतन्य इनको गाते-गाते तल्लीन हो जाते थे और अपना आपा खो बैठते थे। उनकी जीवनी में इसका उल्लेख है।[1] बंगाल में तो विद्यापति के गीतों का अतिशय प्रचार था और इसी कारण बंगाली-आलोचक विद्यापति को बंगाली ही मानते हैं।

इस वर्ग में कविवर नामदेव तीसरे कवि हैं। इनका समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी माना जाता है। ये 'विठोवा' जी के परम भक्त थे और उनकी वाणी का प्रचार तथा प्रसार उनके जीवन-काल में ही दूर-दूर तक हो गया था। महाराष्ट्र में श्रीकृष्ण को ही विठोवा कहते हैं और पण्ढरपुर में उनका विशाल मंदिर है, जहाँ वार्षिक-यात्रा होती है। नामदेव इन्हीं विट्ठल, विठोवा अथवा श्रीकृष्ण के उपासक थे। श्रीवल्लभाचार्य जी ने इसी मूर्ति के सामने नमन वंदन करके भक्ति की प्रेरणा प्राप्त की थी।[2] नामदेव जी ने प्रेम और ज्ञान से परिपूर्ण अभंग लिखे और ब्रजभाषा में पद, सोरठा तथा साखी भी लिखीं। उन्होंने समग्र भारत की यात्रा भी की। अपनी वाणी से दक्षिण भारत से लेकर उत्तर भारत तक को सरस बना दिया। यह संभव जान पड़ता है कि सूरदास तथा नंददास आदि नामदेव के गीतों से अवश्य प्रभावित हुए होंगे।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक ओर तो संस्कृत और मैथिली की धारा प्रवाहित हुई और दूसरी ओर मराठी तथा ब्रजभाषा की सरिता प्रवहमान हुई तथा उत्तरी भारत के प्रांगण ब्रजप्रांत में ब्रजभाषा के संगम से त्रिवेणी बन गई और ब्रज-प्रदेश कृष्ण-प्रयाग हो गया।

सूरदास से कुछ ही पूर्व कुछ ऐसे कवियों का पता भी चलता है जिन्होने कृष्ण-काव्य की ओर प्रगति की है। इनमें से लालचदास हलवाई का 'भागवत भाषा दशम-

---

१. जन्म १४८५ ई० कलचरल हैरिटेज आफ इंडिया सीरीज भाग २ पृ० १३१

२. भक्तमाल, भक्ति-सुधा-स्वाद तिलक, रूपकला, पृष्ठ ३१६-१७

स्कन्ध' है। यह दोहा-चौपाई में लिखा गया है। दूसरा ग्रन्थ है "हरि चरित्र"। यह दोनों ग्रन्थ यद्यपि अवधी भाषा में हैं परन्तु यत्र-तत्र व्रजभाषा का प्रयोग भी किया गया है। दोनों ग्रन्थ हस्त-लिखित हैं। डा० दीनदयालु जी गुप्त के कथनानुसार दोनों प्रतियाँ मयाशंकर याज्ञिक संग्रहालय में रक्खी हुई हैं। यह प्रति दो-सौ ढाई सौ वर्ष पुरानी लगती हैं और ऐसा जान पड़ता है कि नंददास की 'भागवत भाषा' से पचास वर्ष पूर्व लिखी गई हैं। इसका रचना-काल वि० संवत् १५०० माना जाता है। अवधी प्रधान होने के कारण इस ग्रन्थ को व्रजभाषान्तर्गत रखना उचित नहीं जान पड़ता है।

इस जाँच-पड़ताल से यह निश्चित हो जाता है कि सूरदास से पूर्व, अर्थात् सोलहवीं शताब्दी से पहले, कृष्ण से सम्बद्ध कोई प्रामाणिक रचना उपलब्ध नहीं है। विद्यापति अथवा नामदेव की रचनाएँ प्रादेशिक अधिक हैं और जयदेव तो विशुद्ध संस्कृत के कवि हैं। इसलिए सोलहवीं शताब्दी से पूर्व व्रजभाषा में किसी भी रूप में कृष्ण-काव्य नहीं लिखा गया।

अतएव व्रजभाषा में कृष्ण-काव्य के आरम्भ का श्रेय महाकवि सूरदास जी को है। इतना मानवीय अवश्य है कि इस युग के अन्य कवि, जिन्हें 'अष्टछाप' कहा जाता है, अपने पूर्ववर्ती कवियों से अवश्य प्रभावित हुए थे।

———

उपालंभ तथा विप्रलंभ शृँगार

रस शब्द अनेकार्थक है। जो चखा जाय अथवा जिसका स्वाद लिया जा सके उसे रस कहते हैं।[1] किसी कथावाचक की अनुपम वाणी से श्री भागवत का प्रवचन सुन कर हम कह उठते हैं—"कैसा रस बरस रहा है।" उस समय परमानंद प्रदत्त रस को हम चाहे सुधा कहें चाहे कुछ और बतावें, भरत मुनि का तात्पर्य आस्वादन से ही है। यों तो फलों का रस, पत्तों का रस, वैद्यक द्वारा निर्मित बहुत से रसों की बात सुनाई देती है; परन्तु इन सब में श्रेष्ठ तो काव्य-रस है। रस का अर्थ उमंग या मौज भी हो जाता है। वेद में परमात्मा को रस बताया है।[2] जल को भी रस कहते हैं, परन्तु साहित्य में रस शब्द का ग्रहण आम, पत्ते आदिक के रसों से भिन्न लिया जाता है। उसके आस्वादन का ढँग भी भिन्न होता है।

शब्द दो प्रकार का होता है, ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। ध्वनि पर अवलम्बित तथा वर्ण-विन्यास-युक्त। ध्वन्यात्मक शब्दों से व्यक्त वर्णात्मक शब्द अधिक उपयोगी होते हैं।

ध्वन्यात्मक शब्द भी आनन्द प्रदान करता है। वंशीनाद, भँवरों की गुन-गुन, चिड़ियों का कलरव इन सब में अपार शक्ति है। परन्तु वर्णात्मक शब्द इससे भी लोकोत्तर हैं; क्योंकि वह ज्ञान का आधार है।[3] साहित्य का स्थान इसीलिए संगीत से पहले माना गया है।[4] आदर तो 'सरगम' का भी होता है परन्तु भावना-भरितगीत उसे प्राण प्रदान करने में समर्थ है।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है, ऐसा महामुनि भरत का कथन है।[5] इस रसास्वादन के प्रकार भी विभिन्न होते हैं। वासनायुक्त सभ्यों को ही रस का आस्वाद होता है। रसास्वादनार्थ व्यक्ति का सरस और सामाजिक होना मुख्य है। जैसे कोई-कोई विशिष्ट योगी ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं,

---

१. रस्यते इति रसः

२. रसो वै सः

३. ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

४. साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः

५. विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः

इसी प्रकार कोई-कोई पुण्यवान् अर्थात् वासनाख्य संस्कार से युक्त सहृदय पुरुष रस का आस्वाद लेते हैं।[१] यही कारण है कि जन-साधारण को रसता प्राप्त नहीं हो पाती है।

इस विषय में रसोत्पत्ति का विवेचन करते हुए आचार्य शंकुक, लोल्लट, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने अपने विचार प्रकट किये हैं। विचार-वैषम्य-प्रधान विचारों का समावेश इस निबन्ध का विषय नहीं है, अतएव हम अपने मुख्य विषय पर आ जाना चाहते हैं।

काव्य के दो भेद हैं, श्रव्य और दृश्य। जो काव्य केवल सुना जा सकता है वह श्रव्य है और जो देखा जा सकता है अर्थात् रंगमंच पर जिसका अभिनय तथा प्रदर्शन हो सकता है वह दृश्य है।

यह रस पहले आठ माने जाते थे, पीछे इनकी संख्या नौ हो गई और अब इनमें भक्ति और वात्सल्य रस भी जोड़कर ग्यारह तक पहुँच गये हैं। इनमें शृंगार को रस-राज कहा जाता है।[२]

शृंगार की परिभाषा—जो कुछ लोक में पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह शृंगार रस कहलाता है।[३] काम के अंकुरित होने को शृंग कहते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण अधिकांश उत्तम प्रवृति से युक्त शृंगार रस कहलाता है।[४]

इस रस के देवता भगवान् विष्णु हैं। उनमें सतोगुण की प्रधानता है। वे सृजनकर्त्ता के भी सृजनकारी हैं। उनकी नाभि से विश्व-केन्द्र ब्रह्मा की सृष्टि हुई है, जो शतदलकमल पर विराजमान हैं। यह शतदलकमल अनंत जलराशि में प्रकटीभूत क्षुद्रतम पार्थिव अंश मात्र ही माना जाता है। रमा उनकी सहकारिणी शक्ति है, जो सबका पालन पोषण करती हैं। वे हिरण्यगर्भ हैं, भगवती भागीरथी उनके चरणों का पवित्रोदक है, कामदेव को भी विमोहित करने वाले अनन्त शेषशायी शृंगार के देवता क्यों नहीं होंगे। सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान विभु का स्वाभाविक आनन्द अभिव्यक्ति की

---

१. पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससंततिम्। साहित्यदर्पण

२. रौद्र, भयानक, वीररस, करुण, हास्य, शृंगार।
अदभुत, शांत, वीभत्स ये नव-रस के आधार॥

३. यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्वलंदर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते।
—भरत

४. शृंगहि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते॥
—साहित्यदर्पण

अवस्था में चित् शक्ति-सम्पन्न और चमत्कारमय होता है। उसके अहं भाव से अभिमान का आविर्भाव होता है और ममता संकलित अभिमान से रति की उत्पत्ति होती है। यही रति शृंगार की जननी है। उसका स्थायी भाव है।

यह शृंगार-रस अत्यन्त व्यापक है। विश्व की समस्त नयनाभिराम वस्तुएँ इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। इतना ही नहीं भोजन, वसन, वाणी-विलास, प्राकृतिक दृश्य, जो भी कुछ रमणीय हैं, वह सभी शृंगार के अन्तर्गत है। इसीलिए शृंगार को रसराज कहा जाता है। लगभग सभी कवियों और आचार्यों ने शृंगार को रसराज माना है।

किसी वस्तु के उपयोगी और दुरुपयोगी दोनों ही पक्ष होते है। शृंगार को जहाँ भी सात्विक भावना से मंडित करके चित्रित किया जायगा वह अत्यन्त प्रभावशाली तथा स्थायी रूप धारण कर लेगा, परन्तु जहाँ भी उसे वासनामय चित्रों के अंकन में लगाया जायगा वह अश्लीलता की रंगभूमि पर खुलकर नाचने लगेगा। भक्ति-काल और रीति-काल का यही मौलिक अन्तर है।

शृंगार के देवता भगवान् विष्णु अथवा श्रीकृष्ण को माना जाता है। इसका वर्ण श्याम है और इसके आलंबन नायक तथा नायिका होते हैं। उद्दीपन सखा, सखी, बन, बाग, उपवन, तड़ाग, चन्द्रमा, चाँदनी रात, चंदन, भ्रमर, ऋतु विकास आदि हैं। अनुभव हैं—भ्रकुटिभंग, कटाक्ष, हावभाव, मृदु मुस्कान आदि। संचारीभाव-उग्रता, घृणा, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर शेष २९ भाव।

शृंगार भी दो प्रकार का माना गया है। एक तो संयोग शृंगार तथा दूसरा वियोग शृंगार कहलाता है। इसी को विप्रलंभ शृंगार के नाम से भी पुकारा जाता है।

संयोग शृंगार—

परस्पर एक दूसरे के स्नेह में सिक्त होकर नायक और नायिका जब एक दूसरे का दर्शन-स्पर्शन करते हैं या संलापादि में रत होते हैं, तब वह सयोग शृंगार कहलाता है। उदाहरण—

"छूट्यौ गेह काज लोकलाज मनमोहिनी को,
भूल्यो है मनमोहन को मुरली बजाइबो।
देखौ दिन द्वै में रसखान बात फैलि जै है,
सजनी कहाँ लौं चन्द हाथन दुराइबो॥

कालहू कालिन्दीतीर चितयो अचानक ही,
दोउन को दोउ मुरि मृदु मुसुकाइबो।
दोऊ परे पैयाँ दोउ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें भूलि गई गैयाँ इन्हें गागर उठाइबो।

वियोग शृँगार—

इसी का दूसरा नाम विप्रलंभ शृँगार भी है। जब अनुराग अत्यन्त प्रबल हो जाता है और प्रिय-समागम का अभाव रहता है तब वियोग शृँगार की उत्पत्ति होती है। इसके तीन भेद माने गये हैं।

(१) पूर्वानुराग—मिलन अथवा समागम से पहले हृदय में जो अनुराग का आविर्भाव होता है, उसे पूर्वराग या पूर्वानुराग कहते हैं। इसके भी चार मार्ग हैं— प्रत्यक्ष दर्शन, चित्रदर्शन, श्रवणदर्शन और स्वप्न दर्शन।

"जैसी छबि स्याम की पगी है तेरी आँखिन मैं,
ऐसी छबि तेरी स्याम आँखिन पगी रहै।
कहै पदमाकर ज्यों तान में पगी है तेरी,
त्यों ही मुसकानि कान्ह प्रान मैं पगी रहै॥
धीर धर धीर धर कीरति किशोरी भई,
लगन इतै उतै बराबर जगी रहै।
जैसी रट तोहीं लागी माधव की राधे ऐसी
राधे राधे राधे रट माधवै लगी रहै।"

प्रत्यक्ष दर्शन—जब सामने देखकर ही अनुराग का आविर्भाव होता है, इसमें नायक अथवा नायिका का नयन-गोचर होना ही प्रधान माना जाता है :—

"मंजुल मुकुट केरे निकट धरीक रह्यो
उत तें उचटि लोनी लटनि में लट गो।
कहैं बलभद्र लोनि लट तें उलट फेरि
ग्रीवा कल कण्ठ की निकाई में समट गो॥
भूलो भूलो फिरयो फेर ग्रीवा कलकण्ठ हूँ तें
आंगुरीन नाभी तें अचाँक आन छट गो।
अटगो न मेरो मन कटगो निपट आली
कटि के निकट पीत पट में लपट गो॥

चित्रदर्शन—मनोहर चित्र को देखकर जब हृदय में अनुराग उत्पन्न होता है तब चित्रदर्शन विप्रलंभ शृँगार होता है:—

"मूरति मोहनी मोहन की लिखि धारी जहाँ सखियान की भोरें ।
'बेनि प्रवीन' विलोकति राधिका चित्र लिखी सी भई तेहीं तीरें ।।
जोरी किशोरी किशोर की रीझि सराहि रही हैं गुवालि गंभीरें ।
चित्त चितेरी रही चकि सी जवि एक तें ह्वै गई द्वै तसवीरें ।।

श्रवण दर्शन—रूप गुण आदि की प्रशंसा-मात्र सुनने से मन में जो प्रेम उत्पन्न होता है, वह श्रवण-दर्शन कहा जाता हैः—

"राधिका सौं कहि आई जु तू सखि साँवरे की मृदु मूरति जैसी ।
ता छिन तैं पदमाकर ताहि सुहात कछू न बिसूरति वैसी ।।
मानहु नीर भरी घन की घटा आँखिन में रही आनि उनैसी ।
ऐसी भई सुनि कान्ह कथा जु बिलोकहिगी तब होइगी कैसी ।।"

स्वप्न-दर्शन—स्वप्न में देखने से प्रीति उत्पन्न होः—

सोवत आजु सखी अपने 'द्विज देवजू' आय मिले बनमाली ।
जौ लौं उठी मिलवे कहँ धाय सोहाय भुजान भुजान पै घाली ।।
बोलि उठेई पपीगन तौलगि पीव कहाँ कहि कूर कुचाली ।
सम्पति सी सपने की भई मिलिवो ब्रजराज को आज को आली ।।',

(२) मान—प्रिय के अपराध के कारण जो क्रोध होता है, उसे मान कहते हैं । इसके भी तीन भेद हैं । लघु मान, मध्यम मान और गुरुमान ।

पान बिनु अधर अंजन बिनु नैन बड़े
उर बिनु हार कछू और मेष मेषि रह्यो
सारी मरगजी नाक नथ बिनु छूटे बार
चढ़ि रही भौंहें अरु मन महातेषि रह्यो
"आनन रुखाई छाई पियराई, 'रघुनाथ'
और तिय को मिलाप जिय अवरेखि रह्यो ।
घरी चारि परम सुजान पिय प्यारो रीझि
माने न मनायो माननी को मान देखि रह्यो ।।"

लघुमान—परस्त्री दर्शन जनितमान, जिसकी निवृत्ति हास्य द्वारा ही हो जाती है लघुमान कहा जाता हैः—

"वाही के रँगी है रंग वाही के पगी है मग,
वाही के लगी है संग आनंद अगाधा को ।
कहैं पदमाकर न चाहैं तजैं नैकु दृग
तारन तें न्यारो कियो एक पल आधा को ।।

ताहू पै गुपाल कछू ऐसे ख्याल खेलत हैं,
मान मोरिवे की देखिबे की करि साधा को।
काहू पै चलाइ चख प्रथम खिझावैं फेरि
बाँसुरी वजाइ कें रिझाइ लेत राधा को ॥"

मध्यम मान—पर स्त्री-प्रशंसा-सूचक वाक्य अथवा सम्मान-सहित उसका नाम लेते सुनकर जो मान होता है, वह मध्यम कहलाता है। यह विनय अथवा शपथ आदि लेने से दूर हो जाता है:—

"वैस ही की थोरी पैन भोरी है किशोरी यह
याही चित चाह राह और की मँझैयो जिन।
कहै पदमाकर सुजान रूपखान आगे
आन बान आनकी सु-आन कै लगैयो जिन ॥
जैसे अब तैसे साधि सोहनि मनाइ ल्याई
तुम एक मेरी बात एती विसरैयो जिन।
आजु की घरी तें जैसे भूलिहौ भले हौ श्याम
ललिता कौ लै कै नाम बांसुरी वजैयो जिन ॥"

गुरु-मान—प्रियतम को अन्य स्त्री के प्रति आसक्त जानकर मान होना। ऐसा मान भूषणादि देने या पैर पड़ने से दूर हो जाता है:—

नीकी कै अनैसी पुनि जैसी होइ तैसी तऊ
यौवन की मूरतैं न दूरि भागियतु है।
कहैं पदमाकर उजागर गोविन्द जो पै
चूकिगे कहूँ तो एतो रोष रागियतु है॥
प्रेमरस हाय तो जगाये लै हिये सों हित,
पाइलै पहिरि चखु प्रेम पागियतु है।
एरी मृगनैनी तेरी पाइ लगी बेनी पाइ
पाइ लगि तेरे फेर पाइ लागियतु है ॥"

(३) **प्रवास**—प्रिय के प्रवास अथवा परदेश चले जाने पर जो संतोष होता है वह प्रवास विप्रलंभ कहलाता है। इसके भी दो भेद माने गये हैं। भूत प्रवास और भविष्य प्रवास।

भूत प्रवास—जिसका सम्बन्ध भूतकाल से होता है :—

"कान्ह पगे कुवजा के कलोलनि डोलनि छोड़ दई हर भांती।
माधुरी मूरति देखे बिना पदमाकर लागे न भूमि सोहाती ॥

का कहिये उनसों सजनी यह बात है आपने भाग समाती।
दोष बसन्त को दीजै कहा उलहै न करील की डारन पाती ॥

भविष्य प्रवास—जिसका सम्बन्ध भविष्यकाल से होता है :—

प्रीतम जात विदेसवाँ निपट अनेस।
सिसकत खरी तरुनिया बगरे केस ॥

उपालंभ का तात्पर्य है उलाहना देना, शिकवा या शिकायत करना। वियोग शृंगार में, जैसा हम लिख आये हैं, उपालंभ ही उपालंभ है, जो उसके आधार हैं। समयानुसार यह उपालंभ छोटे-बड़े हो जाते हैं। विरह में, वियोग में, प्रेमी के पास इन उपालंभों की थाती ही शेष रह जाती है।

इसलिए जहाँ विप्रलंभ शृंगार है, वहाँ उपालंभ अवश्य होंगे। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। गीता के अन्तिम श्लोक में वर्णित नर नारायण की भाँति इनका सम्बन्ध अभिन्न है।[1]

———

1. यत्र योगेश्वर कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर
तत्र श्रीविजयो भूति ध्रुवानीतिर्मतिर्मम।
गीता अ० १८।

'भ्रमर-गीत' में विप्रलंभ-शृँगार

सूरदास श्रौर नंददास दोनों के द्वारा रचित 'भ्रमर-गीत' में विप्रलंभ शृँगार की प्रधानता है। एक प्रकार से भ्रमर-गीत वियोग शृँगार की अनूठी रचना है। दोनों ही महाकवियों ने वियोग शृङ्गार के अन्तर्गत वर्णित विभिन्न भेदोपभेदों का चित्रण किया है। हम केवल उदाहरण प्रस्तुत करना ही श्रेयस्कर समझते हैं क्योंकि विभेदों का वर्णन पिछले अनुच्छेद में हो चुका है।

(१) विप्रलंभ शृँगार—

"सोचति राधा लिखति मखनि मैं, वचन न कहति कँठ जल त्रास।
छिति पर कमल, कमल पर कदली, तापर पंकज कियौ प्रकास।
"सबै सुख लै जु गये व्रजनाथ।
बिलखि वदन चितवति मधुवन तन, हम न गई उठि साथ।।
वह मूरति चित तैं बिसरति नहिं, देखि साँवरे गात।
सूरदास प्रभु तुम्हरें बिसरें, हम सब भई अनाथ।।"
"ऐसे में नन्दलाल रूप नैनन के आगे,
"आय गए छबि छाय बने पियरे उर बागे।" नन्ददास

(२) त्रिविध वियोग। पूर्वानुराग

"हम अलि गोकुलनाथ अराध्यौ
मन, क्रम, वच हरि सौं धरि पतिव्रत, प्रेम-जोग तप साध्यौ।"

(क) श्रवण दर्शन—

गोपी सुनहु हरि संदेश।
कह्यो तुमको ब्रह्मध्यावन छोड़ि विषय विकारि।
सूर पाती दई लिखि मोहि पढ़ौ गोप-कुमारि।"
"कहन स्याम संदेस एक मैं तुम पै आयो" (नंददास)

(ख) चित्रदर्शन—

"निरखति अंक स्यामसुंदर के बार-बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम स्याम जू की पाती।।"

"ऐसे में नँदलाल रूप नैन के आगे ।
आय गए छबि छाय बने पियरे उर बागे ।।" (नं० दा०)

(ग) स्वप्न—

"हमारे हरि हारिल की लकरी
जागत सोवत, सपने सौंतुख, कान्ह कान्ह जक री ।"
"कोउ कहै—हा ! दरस देत पुनि लेत दुराई" (नंददास)

(घ) प्रत्यक्ष—

"मैं मन मोल गुपालहिं दीन्हौ ।
अंबुज वदन रसिक गिरिधर कौं, रूपनयन निरखन कौं लीन्हौं ।।"
"नैनन नंद-नंदन ध्यान ।
तहाँ यह उपदेस दीजै, जहाँ निरगुन ज्ञान ।"
"नास्तिक जे हैं लोग कहा जानें हित रूपे,
प्रग़ट भानु को छाँड़ि गहैं परछाहीं धूपे ।
हम कौं बिनु वा रूप के और न कछू सुहाय ।
ज्यों करतलगत आमलक कोटिक ब्रह्म दिखाय"
सखा सुन स्याम के ।" (नंददास)

(२) मान—

"ऊधो ! जाके माथे भाग ।
कुबजा को पटरानी कीन्ही हमहिं देत बैराग ।।
तलफत फिरत सकल व्रज बनिता चेरी चपरि सोहाग ।
बन्यौ बनायौ संग सखीरी, वैरे ! हंस वै काग ।।
लौंडी के घर डौंढ़ी बाजी स्याम राग अनुराग ।
हाँसी, कमल-नयन संग खेलति बारहमासी फाग ।।
जोग की वेलि लगावन आए काटि प्रेम को बाग ।
सूरदास प्रभु ऊख छाँडि कै चतुर चिचोरत आग ।।"
"कोऊ कहै-रे मधुप ! तुम्हैं लज्जा नहिं आवै ।
सखा तुम्हारो स्याम कूबरीनाथ कहावै ।।
यह नीची पदवी हती गोपीनाथ कहाय ।
अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठन खाय ।।
मरत कह बोल को ।" (नंददास)

(३) प्रवास—

"ऊधौ ! मन नाँहि हाथ हमारे ।
रथ चढ़ाय हरि संग गए लै मथुरा जबै सिधारे ॥"
"कोऊ कहैं—हे स्याम ! कहा इतराय गए हौ ।
मथुरा कौ अधिकार पाय महराज भए हौ ।
ऐसी कछु प्रभुता हुती जानत कोऊ नाहिं ।
अबला बुधि हम डर गईं बली डरैं जग माँहि ।
पराक्रम जानि कै ।" (नंददास)

भ्रमर-गीत की परिभाषा

श्रीकृष्ण ने अपना बाल्य-काल और शैशवावस्था का समय गोकुल में गोपियों और ग्वालों के साहचर्य में व्यतीत किया था। वे जन-साधारण के मध्य में अत्यन्त प्रिय हो गये और यहाँ तक कि गोकुल-वासी अपनी विभिन्न धारणाओं के अनुसार श्रीकृष्ण-स्वरूप का दर्शन करने लगे। गोपियों का स्नेह इस दिशा में अत्यन्त प्रबल सिद्ध हुआ। श्रीकृष्ण उनके साथ खेले, नाचे-गाये और महारास में साहचर्य का सुअवसर प्रदान करके उनके लौकिक जीवन में अलौकिकता भर दी। एक दिन कंस के निमंत्रण पर वे मथुरा जाने लगे तो गोपियों के ग्राम में मूर्तिमान शोक और दुःख प्रकट हो गये। गोपियों की स्नेह-सरिता नेत्रों के मार्ग से निसृत हो उठी। श्रीकृष्ण उनके प्रेमाधार थे। माखन की चोरी, नृत्य-लीला, शीतल-सुखद कुंजों का विहार, दान-लीला, अमानवीय उत्पातों से व्रज की रक्षा—सभी लोकोत्तर आनन्द उमड़ पड़े। अपना उज्ज्वल भविष्य उनको अंधकार से परिपूर्ण दिखाई देने लगा। फिर भी कृष्ण चले गये और गोपियों को करुण-स्वरों में विदा देनी ही पड़ी। स्नेह-सिंचित प्राण श्रीकृष्ण के साथ मथुरा चले गये और अस्थिमात्र शरीर गोकुल में रह गया। केवल एक आशा-मात्र शेष थी कि श्रीकृष्ण एक दिन अवश्य लौटेंगे। ग्वाल-बाल पेड़ों पर चढ़कर निहारा करते, गोपियाँ आहट पाते ही दौड़ पड़ती थीं; परन्तु श्रीकृष्ण के दर्शन दुर्लभ थे।

एक दिन नन्दजी भी लौट आये। समस्त गोकुल उमड़ पड़ा—श्रीकृष्ण आये होंगे। नंद को एकाकी देखकर उनका धीरज जाता रहा। उमंगों पर पानी फिर गया। सभी श्रीकृष्ण की स्मृति में घुल-घुल कर जीवन व्यतीत करने लगे।

प्रेम की मधुर-माधुरी के स्थान को वियोग के बवंडर ने ले लिया। स्थिति-अस्त-व्यस्त होगई। नागरी गोपियाँ बावरी हो गईं। रम्य रंगस्थल मरण के मैदान बन गये। मधुवन विषाक्त हो गया। वंशीवट भयानक बन गया। यमुना-तट पतन का पथ दिखाई देने लगा। प्रिय के अभाव में सारा गोकुल बे-भाव बिकने लगा।

एक दिन गोकुल में उद्धव पधारे। कहा जाता है कि उनको अपने निर्गुण-मतवाद पर बड़ा अभिमान था, इसलिए प्रेममयी गोपियों के पास ज्ञानोपदेश के हेतु श्रीकृष्ण ने उद्धव को भेजा। गोपियों ने उनका सादर स्वागत किया और धीरज से

उनके निर्गुण उपदेश को सुना, क्योंकि गोपियों की सम्मति में वे कुलीन, विद्वान् और स्याम-संदेश लेकर पधारने वाले श्रीकृष्ण के मित्र थे।[१] उद्धव का स्वागत भी विशद हुआ।[२] उनसे वार्तालाप चल ही रहा था कि इसी बीच में उड़ता हुआ एक भ्रमर आगया। उसका जैसा सहज स्वभाव है, उसने गुंजन करना आरम्भ कर दिया। उस मधुर-गुंजन में गोपियों को मधुर-माधव की वाणी का आभास होने लगा। स्मृति-सरोवर पर जो विस्मृति की काई फैली हुई थी, सो फट गई, हट गई। उन्होंने भ्रमर से पूछा कि क्या तुमको कुवजा ने भेजा है? क्योंकि श्याम का सन्देश लेकर तो उद्धव आ ही गये हैं, केवल कुब्जा ही शेष रह जाती है, सो संभव है उसने भ्रमर को अपना दूत बनाकर भेजा हो।[३]

भारतीय संस्कृति में यह शिष्टाचार के अन्तर्गत माना जाता है कि अतिथि का अपमान नहीं करना चाहिए—"घर आये घटिआई" करना उचित नहीं माना जाता है। अतएव उद्धव को सीधे रूप में उत्तर देना अशिष्टता ही समझी जायगी ऐसा जान-मानकर गोपियों ने भ्रमर का आश्रय ग्रहण करना श्रेयस्कर समझा।

भ्रमर को लक्ष्य करके गोपियों ने न केवल अपनी विरह-व्यथा ही निवेदन की वरन् उन्होंने निर्गुण का खण्डन और सगुण का मण्डन भी प्रतिपादन किया है। भ्रमर की ओट में गोपियों ने करारी चोट करते हुए उद्धव को निरुत्तर कर दिया। इतना ही नहीं, उन पर प्रेम-भक्ति का सिक्का जमा दिया।[४]

---

१. निरखत ऊधौं कौं सुख पायौ।
सुन्दर सुलज सुबंस देखियत, या तैं स्याम पठायौ॥
नीकैं हरि-संदेस कहैगौ, स्रवन सुनत सुख पैहै। (४०८९)

२. ब्रज घर-घर सब होति बधाइ।
कंचन कलस दूब दधि रोचन लै वृन्दावन आइ॥
मिलि ब्रज-नारि तिलक सिर कीनौ, करि प्रदच्छिना तासु।
पूछत कुसल नारि-नर हरषत, आए सब ब्रजबास॥ (४०९७)

३. इहिं अन्तर मधुकर इक आयौ।
निज स्वभाव अनुसार निकट ह्वै, सुन्दर सब्द सुनायौ॥
पूछन लागीं ताहि गोपिका, कुबिजा तोहि पठायौ॥
कीधौं सूर स्यामसुन्दर कौं, हमैं संदेसौ लायौ।
—सूरसागर, पद ४११९ पृष्ठ १४३८

४. अब अति चकितवंत मन मेरौ।
आयौ हो निरगुन उपदेसन, भयो सगुन कौ चेरौ॥
सूर मधुप उठि चले मधुपुरी, बोरि जोग कौ बेरो॥ (४६९७)

नन्ददास ने भी इसी परम्परा को अपनाया है।[1] भ्रमर-प्रवेश के वर्णन में नंददास ने कवि-प्रतिभा का आकर्षक उपयोग किया है। वह गोपियों के चरणों को कमल समझ कर उन पर बैठना चाहता है। श्रीकृष्ण-साम्य होने से ऐसा जान पड़ता है मानों प्रवासी प्रियतम मानिनी प्रेयसी को मनाना चाहता है।

यहाँ भी भ्रमर की ओट लेकर गोपियों ने बड़ी बड़ी और खरी बातें उद्धव को सुनाई हैं।

अतएव हिन्दी साहित्य में भ्रमर को लक्ष्य करके जो वियोग-निवेदन गापियों ने किया है, तथा अपने जिस सात्विक स्नेह का परिचय गीतों के द्वारा स्थापित किया है और निर्गुण मतवाद के समक्ष जिस सगुणमत की श्रेष्ठता सिद्ध की है—वह प्रसंग भ्रमरगीत के नाम से पुकारा जाता है।[2]

---

१. अर्घासन बैठारि बहुरि परिकरमा दीन्ही।
स्याम सखा निज जानि बहुरि सेवा बहु कीन्ही॥
बूझत सुधि नंदलाल की बिहँसत मुख ब्रजबाल।
नीके हैं बलबीर जू, बोलति बचन रसाल॥४॥

२. ताही छिन इक भँवर कहूँ तें उड़ि तहँ आयौ।
ब्रज बनितन के पुंज माँहि गुंजत छबि छायौ॥
बैठ्यो चाहत पाँय परि अरुन कमल दल जानि।
मनु मधुकर ऊधव भयौ प्रथमहि प्रगट्यौ आनि॥४५॥
—मधुप को भेस धरि।

भ्रमर-गीत का छन्द

मात्रा, वर्ण की रचना, विराम, गति का नियम और चरण के अन्त में समता जिस वाक्य रचना में पाई जाती है, उसे छन्द कहते हैं। प्रत्येक छन्द में चार-चार पद, पाद अथवा चरण होते हैं, परन्तु विषम छन्दों के लिये कोई नियम नहीं है।

छन्दों के भेद—छन्दों के मुख्यतः दो भेद हैं—मात्रिक और वर्णिक। इनके भी तीन-तीन उपभेद हैं—सम, अर्द्धसम और विषम। सम के भी दो भेद हैं—साधारण और दंडक।

मात्रिक-छन्द—वह छन्द है जिसके प्रत्येक पद में केवल मात्राओं की संख्या का प्रमाण हो, अक्षर चाहे जितने हों :—

सीय राम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इस छन्द के प्रत्येक पद में सोलह-सोलह मात्राएँ बराबर मिलती हैं। वर्णों की संख्या कम-बढ़ है, अतएव यह मात्रिक छन्द है और इसका नाम चौपाई है।

वर्णिक छन्द—जिसके प्रत्येक पद में वर्णों का क्रम, चाहे लघु हों अथवा गुरु हों, क्रम और संख्या आदि से अन्त तक एक समान हो :—

जय राम सदा सुखधाम हरे। रघुनायक शायक चाप धरे।
भव वारण दारुण सिंह प्रभो। गुणसागर नागर नाथ विभो।

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में वर्णों के लघु गुरु का क्रम और वर्ण संख्या बारह-बारह बराबर मिलती हैं। अतः यह वर्ण-वृत्त है।

मात्रा—वर्ण के उच्चारण काल में जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। जिस वर्ण के उच्चारण में अधिक समय लगे वह गुरु माना जाता है। छोटी मात्राएँ लघु तथा बड़ी मात्राएँ गुरु मानी जाती हैं। यथा, 'सिता' में तीन मात्राएँ हैं।

गण—तीन वर्णों का एक गण होता है। गण आठ हैं—मगण, नगण, भगण, यगण, जगण, रगण, सगण, तगण। संक्षेप में "यमाताराजभानसलगम्" याद रखने से सभी गणों के रेखारूप याद हो जाते हैं, जैसे यगण जानने के हेतु यमाता तीन वर्ण निकाल लीजिये : रेखारूप हुआ (। ऽ ऽ) गणाक्षर हुआ 'यमाता' इसी प्रकार मगण जानने को 'मातारा' का उपयोग किया जाना चाहिए।

सूरदास के पद—सूरदास ने भ्रमरगीत पदों में लिखा है। गीति-काव्य होने से वे राग प्रधान अधिक हैं, छन्द प्रधान कम हैं। इसी हेतु उनमें विविधता है। भ्रमरगीत के प्रथम-प्रकरण में पदों का प्रयोग है। दूसरे गीत में चौपाई तथा तीसरी गीतावली में उसी छन्द का उपयोग है, जो नंददास ने अपनाया है, केवल अर्द्धाली उसमें नहीं है :—

माया नित्यहि अंध, ताहि द्वै लोचन जैसे।
ज्ञानी नैंन अनंत, ताहि सूझत नहिं कैसे।।
बूझहु निगम बुलाइकैं, कहैं भेद समुझाइ।
आदि अंत जानौं नहीं, कौन पिता को माय।।

नंददास | मगण | सगण | सगण | भगण | सगण | गुरु
S S S । । S । । S S । । । । S S
गोपी रूप दिखाय तबै मो ह न बनवारी। =वर्ण १६

तगण | नगण | जगण | नगण | मगण
S S । । । । S । S । । । S S SS गुरु
ऊधो भ्र म हि निवारि डारि मुख मो की जारी।।=वर्ण १६

सगण | भगण | रगण | तगण | नगण | गुरुलघु
। । S S । । S । S S S । । । । S ।
अपनो रूप दिखाय कैं, लीन्हो बहुरि दुराय। = वर्ण १७

नगण | जगण | सगण | भगण | मगण | लघु
S । S । S । । । S S । । S S S ।
नं द दा स पावन भयो जो यह लीला गाय।। = वर्ण १६

भगण | जगण | गुरु
S । । । S । S
प्रेम रस पुंजनी।। = वर्ण ७

इस प्रकार विभाजन करने पर भ्रमरगीत का छन्द वर्णिक-वृत्त के अन्तर्गत नहीं आता है, क्योंकि वर्णों में समानता नहीं पाई जाती है। इसके अतिरिक्त गणों में भी साम्य नहीं है।

मात्रिक छन्दानुसार इस गीत के प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ उपलब्ध हैं। अतएव यह मात्रिक छन्द सिद्ध होता है। अर्द्धाली में १० मात्राएँ हैं और इस नियम का सर्वत्र ही निर्वाह किया गया है।

आगे बढ़कर थोड़ा और अनुसन्धान करने पर हमें इस छन्द का नामकरण भी मिल जाता है। पिंगलशास्त्र में, कुंडलिया मात्रिक विषम छन्द का वर्णन है :—

> चिन्ता ज्वाल शरीर में दावा लगि लगि जाय।
> प्रगट धुआँ नहिं संचरै उर अन्तर धुंधियाय॥
> उर अन्तर धुधियाय, जरै जिमि काँचकि भट्टी।
> रक्त मास गरि जाय रहै हड्डिन की टट्टी॥
> कहै गिरिधर कविराय सुनौ हे मेरे मिन्ता।
> वे नर कैसे जियैं कि जिन घट व्यापी चिन्ता॥

कुंडलिया छन्द में ६ पद मिलाकर १४४ मात्राएँ होती हैं। दोहा और रोला को जोड़ देने से कुंडलिया बन जाता है। इसका आदि अन्त का पद एक सा होता है। प्रत्येक पद में २४ मात्राएँ होती हैं।

इस प्रकार भ्रमरगीत के छन्द में इसका उलटा कर दिया जाता है। पहले कुंडलिया अथवा रोला का अन्तिम पद तथा उसके पश्चात् दोहा लाते हैं। दोहे में भी २४ मात्राएँ होती हैं।

> सुनत स्याम को नाम ग्राम गृह की सुधि भूली। = २४
> भरि आनँद रस हृदय प्रेम-बेली-द्रुम फूली॥ = २४
> दोहा—पुलकि रोम सब अंग भए, भरि आए जल नैन। = २४
> कंठ घुटे गद्‌गद गिरा, बोले जात न बैन॥ २४
> व्यवस्था प्रेम की॥ = १०

इस हेतु हमने इस छन्द का नाम "भ्रमरगीत-छन्द" ही उपयुक्त माना है। यह मात्रिक छन्द है जिसके प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं और अन्तिम पद अर्थात् अर्द्धाली या टेक में १० मात्राएँ होती हैं।

———

भ्रमर-गीत का कथानक और आधार

सूरदास का भ्रमरगीत—सूरसागर में भ्रमर-गीत का भाग अत्यन्त पुष्ट और महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें काव्य भी है और दार्शनिक पक्ष की विवेचना भी है। व्यंजना, माधुर्य तथा विप्रलंभ शृंगार का अनूठा सम्मिश्रण किया गया है।

श्रीमद्भागवत में भ्रमर-गीत का प्रसंग अल्प-स्वल्प ही है। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के सैंतालीसवें अध्याय में १२ वें श्लोक से २१ वें श्लोक तक यह प्रसंग वर्णित है। इन्हीं श्लोकों में भ्रमर भी पधार जाता है और गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रति उपालंभ देकर शान्त हो जाती हैं। सगुणमतवाद का मंडन कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

सूरदास ने तीन भ्रमरगीत लिखे हैं। इनमें से एक भागवत का अनुवाद है, जो दोहा चौपाई छन्दों में है। इसमें ज्ञान-वैराग्य की चर्चा विशेष रूप से की गई है। यद्यपि यह भ्रमर-गीत भी अविकल अनुवाद नहीं है; परन्तु भागवत की भावनाओं से पर्याप्त प्रभावित है। शेष दो भ्रमरगीतों की रचना पदों में हुई है। यह दोनों ही मौलिक हैं। इनमें से एक में उद्धव का गोपियों को उपदेश और गोपियों का उपालंभ देना तथा उद्धव का मथुरा जाकर श्रीकृष्ण के समक्ष गोपियों का विरह-वर्णन तथा श्रीकृष्ण का मूर्छा खाकर गिर पड़ना एक ही छन्द में दिया गया है। इन भ्रमरगीतों में न तो भ्रमर का प्रवेश ही है और न उसका गुंजन ही है। तीसरे भ्रमरगीत में कई सौ पद हैं। इसमें भ्रमर की ओट में गोपियो ने अनेकानेक उपालंभ दिये हैं, जो अत्यन्त मर्मस्पर्शी तथा हृदयद्रावक हैं।

पहला भ्रमरगीत—इसका आरम्भ सूर-सागर के ४०७८ वें पद से होता है, जब "ऊधौ रथ बैठि चले ब्रज तन समुहाइ।" उनके ब्रज पहुँचने पर यह भ्रम हुआ कि श्रीकृष्ण स्वयं आये हैं परन्तु जब यह ज्ञात हुआ कि ये श्याम नहीं हैं तो ब्रज-बालाएँ मूर्छित हो गईं। पश्चात् नन्दजी ने कुशल-समाचार पूछे। उद्धव ने श्रीकृष्ण का सन्देश कह दिया—"आवहिंगे दिन चार-पाँच मैं, हम हलधर दोउ भैया।" इसके पश्चात् ४११२ पद तक पत्रिका देना तथा गोपियों का दुख-निवेदन है। ४११५ पद में "इहिं अन्तर मधुकर इक आयो।" और यहीं से भ्रमरगीत चल पड़ता है। इसकी समाप्ति ४७१० वें पद पर हो जाती है और तब संक्षिप्त भ्रमरगीत की अवतारणा की गई है।

दूसरा भ्रमरगीत—अति संक्षिप्त रूप में दिया गया है। यह भ्रमरगीत ४७११ से आरम्भ होता है और ४७१२ वे पद पर समाप्त हो जाता है। यह भाग पदों में नहीं लिखा गया है। चौपाई तथा सार (१६, १२) छंदों के नवीन संयोग-प्रयोग से इस छन्द का निर्माण किया गया है :—

"कृष्ण पठाए हम ब्रज आए कहत मनोहर वानी।
सुनी सँदेसौ तजौ अँदेसौ तुम हो चतुर सयानी॥
गोप सखा जिय में जनि राखौ, अविगत हैं अविनासी।
मोह न माया वैर न दाया, सब घट आपु निवासी॥"

सू० सा० ना० प्र० स० पृष्ठ १६२०

तीसरा भ्रमरगीत—पद ४७१३ से आरम्भ होकर उसी में समाप्त हो जाता है। इसका छन्द भ्रमरगीत का छन्द है, जिसमें अर्द्धाली जोड़ कर नन्ददास जी ने अपना भ्रमरगीत लिखा है।

इसके पश्चात् ४७१४ वें पद से लेकर ४७७८ तक उद्धव प्रत्यागमन तथा उद्धव-श्रीकृष्ण संवाद वर्णन किया गया हैं। इस भाँति सूरदास ने लगभग सात सौ पदों में भ्रमरगीतों का समावेश करके उपालंभ परम्परा को प्राण प्रदान किये हैं।

कथानक—सूरदास और नन्ददास का युग एक प्रकार से विषमता का युग था। एक ओर मायामय अद्वैतवाद के निर्गुण ब्रह्म एवं ज्ञान तथा योग-धारा को ऊँचा उठाया जा रहा था तो दूसरी ओर सगुण ब्रह्म तथा वैष्णव भक्ति की प्रतिष्ठा हो रही थी। ज्ञान और भक्ति के उत्कर्ष परस्पर संघर्षणशील थे। श्री वल्लभाचार्य ने सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा के लिये शास्त्रार्थ किये।[1] सूरदास उनके शिष्य थे अतएव सगुणमतवाद का मंडन उनके लिए आवश्यक था।

उद्धव एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी प्रवृत्ति अहंकारमयी है, अद्वैत साधना और निर्गुण ब्रह्म के प्रति उनका अडिग विश्वास है। वे युग-धारा के प्रतीक हैं। श्रीकृष्ण का सामीप्य-लाभ करके भी वे विरह-दुःख की महानता से परिचित नहीं हैं। वे भाव की अनीति करते हैं।[2] वे यह नहीं जानते कि प्रभु-विरह की अनुभूति के अभाव के प्रेम-भजन संभव नहीं है। मध्य-युग के संत-साधक ज्ञान को ही भगवत्प्राप्ति का साधन सिद्ध कर चुके थे। उद्धव उसी सिद्धान्त के समर्थक थे। श्रीकृष्ण ने प्रेम-लक्षणा-भक्ति के दर्शनार्थ उद्धव को ब्रज जाने के लिए प्रस्तुत किया। ज्ञान-गठरी बाँध कर योगी उद्धव अभिमान के साथ प्रयाण कर गये। उनके ब्रज में आने का समाचार एक

---

१ सूर सौरभ—श्री मुंशीराम शर्मा, पृ० ५३५.
२. सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा डी० फिल् पृ० ३३०,

सखी के द्वारा प्रेममयी राधा को मिला। मानों व्याकुल मछली को सुन्दर सलिल की प्राप्ति हुई। गोकुल के घर घर में आनन्द बरसने लगा। यशोदा, नन्द और गोपियों आदि पर जो प्रभाव पड़ा उसका बड़ा सुन्दर वर्णन सूरदास ने किया है। गोकुल-वासियों ने समझा श्रीकृष्ण स्वयं आये हैं परन्तु उद्धव से साक्षात्कार होने पर उनका मन मुरझा गया। यह पहली प्रतिक्रिया हुई। श्रीकृष्ण के लिखित पत्र-सन्देश की दूसरी प्रतिक्रिया सामने आई। इन प्राथमिक प्रतिक्रियाओं के पश्चात् उद्धव ने अपना योग-सन्देश सुनाया। गोपियों की विरहासक्ति नवीन रूप से प्रज्वलित हो उठी। इसी बीच में एक भ्रमर उड़ता हुआ आ जाता है। गोपियों को शिष्टाचार के अनुसार उद्धव को चेतावनी देने का मानों सुअवसर मिल गया। भ्रमर की ओट में गोपियों ने जैसा-जैसा खंडन-मंडन किया है, वह नेत्र-हीन सूरदास की अप्रतिम प्रतिभा का परिचायक है। मानव-मन मानता ही नहीं कि बन्द आँखों से ऐसा सजीव वर्णन भी संभव हो सकता है।

यह सत्य है कि भ्रमरगीत की कथा में प्रवाह रुक जाता है, क्योंकि गोपियों के द्वारा अनेकानेक छोटे बड़े विवरणों का समावेश होता चलता है। विरह में गोपियों का प्रेम स्थिरता प्राप्त कर चुका था, परन्तु उद्धव के आगमन से वह तरंगायित हो उठता है और फिर उसके प्रवाह का बन्धन अवश्य हो उठना स्वाभाविक है। गोपियों की यह चंचलता भी क्षणिक है, क्योंकि उद्धव अपने तर्कों से स्वयं पराजित हो जाते हैं और गोपियों के गंभीर प्रेम का परिचय प्राप्त करके, सगुण के सेवक बन जाते हैं। मथुरा आकर वे स्वयं श्रीकृष्ण के समक्ष स्वीकार करते हैं कि गोपियों का स्नेह-शील विरह-दुःख ही भगवत्प्राप्ति का सुगम-साधन हो सकता है। भक्ति से विहीन योग चमत्कार के अतिरिक्त और कोई महत्त्व नहीं रखता है। ज्ञान बुद्धि-प्रधान होता है। भक्ति में हृदय की प्रधानता है। राधा और गोपियों के प्रेमाश्रुओं में उद्धव का ज्ञान गल जाता है। संक्षेप में तीनों भ्रमरगीतों का यही एक कथानक है।

आधार—यों तो सूरदास के सामने पौराणिक-मत और भागवत प्रतिपादित भक्ति-सिद्धान्त उपस्थित थे, फिर भी अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य दोनों से ही यह प्रमाणित हो चुका है कि श्रीकृष्ण के चरणों में उनका अनन्य अनुराग था। वे उनकी भक्त-वत्सलता में अगाध विश्वास रखते थे। उन्होंने संसार की असारता का अनुभव किया था और अपने आस-पास भक्तिहीन जीवन की व्यर्थता को भी पहचानते थे। सूरदास ने इसी हेतु दीन-भाव को अपनाया था। वे इसी कारण पुष्टि-मार्ग में दीक्षित हुए और भक्त-शिरोमणि कहलाये। निर्वेद और दैन्य के साथ ही साथ उनके पदों में प्रीति की प्रबल उद्भावना उपलब्ध होती है। इसी का नाम प्रेम-लक्षणा-भक्ति है। श्रीकृष्ण के ब्रज के सम्बन्धों के द्वारा सूरदास ने अपनी प्रेम-भक्ति को स्पष्ट किया है। श्रीकृष्ण के

प्रति हमें तीन प्रकार के स्नेह-सम्बन्ध दिखाई पड़ते हैं। नंद-यशोदा आदि गुरुजनों का ममतापूर्ण वात्सल्य, ग्वाल-वालों का सोहार्द्रपूर्ण सख्य भाव तथा व्रजांगनाओं का कान्त भाव। इन्हीं को क्रमशः अनुकम्पा, प्रेम और कान्ता रति कहते हैं। इन सभी भावों में आत्मीयता रहती है। तभी सूरदास के पदों में माधुरी महत् रूप से विद्यमान है।

सूरदास के युग में विभिन्न मतमतान्तर प्रचलित थे। सूरदास के उद्धव दार्शनिक दृष्टिकोण से अद्वैतवादी तथा मायावादी हैं। वे नाथ-सम्प्रदायान्तर्गत हठयोग तथा वैराग्य के प्रवल समर्थक हैं। एक प्रकार से सूरदास का युग भक्ति के उत्कर्ष का युग था, जब योग-वैराग्य की खिल्ली उड़ाई जा रही थी। ज्ञान और योग की नीरसता, व्यर्थता और अव्यवहार्यता का अनुभव जन-साधारण कर रहा था। उसी समय, जब कि लोहा गरम था, सूरदास ने चोट लगाकर उसे सांचे में ढाल दिया।

भागवत में भ्रमरगीत अत्यन्त संक्षेप से दिया गया है। सूरदास ने उसे अपनी कवि-कल्पना का सहयोग भी प्रदान किया है। इस प्रकार उनका भ्रमर-गीत वस्तुतः मौलिक ही है।

सूर का कवि-हृदय निर्गुण और निराकार में रमण नहीं कर सका। वे भक्ति को ही मुक्ति का साधन मानते थे।

उपर्युक्त कतिपय वैयक्तिक तथा सामूहिक कारण ही सूरदास-कृत भ्रमर-गीत के आधार हैं। उन्होने थोड़ा-बहुत दूसरों से भी लिया है तो उसमें बहुत-कुछ अपना भी प्रदान किया है। ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करना ही भ्रमर-गीत का मुख्योद्देश्य रहा है।

नंददास का भ्रमर-गीत—निश्चय ही नंददास सूरदास के पश्चात् हुए। वे श्री वल्लभाचार्य जी के पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रवेश करने से पूर्व उन्होने उच्चकोटि का कवि होने का परिचय दिया है। उनके यमुना-स्तुति-पद इसके प्रमाण हैं। वे रसिक भी थे।

नंददास के भँवर-गीत का आरंभ उद्धव के कथन से ही होता है। सूरदास की भाँति श्रीकृष्ण-उद्धव-संवाद का कोई प्रकरण नहीं है। भँवर-गीत में कुल ७५ पद हैं। छोटा होते हुए भी इसमें धार्मिक और दार्शनिक विवेचना भरपूर है। यह कहा जा सकता है कि तीन भमर-गीत लिखकर सूरदास ने जितनी ख्याति प्राप्त की है, उतनी ही गिने-चुने पद लिखकर नंददास ने प्रसिद्धि प्राप्त की है।

कथानक—भँवर-गीत के प्रथम अर्ध-भाग में उद्धव-गोपी-संवाद है और दूसरे भाग में कृष्ण-प्रेम में व्यथित गोपियों की अवस्था का वर्णन है। यहाँ भी उद्धव ज्ञान, योग और कर्म-मार्ग के साथ निर्गुण मतवाद का समर्थन करते हैं। गोपियों के द्वारा

सगुण का समर्थन कराते हुए भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। गोपियों और उद्धव का वार्तालाप चल ही रहा है कि एक भ्रमर उड़ता हुआ आजाता है। वह गोपियों के चरणों को अरुण-अंबुज समझकर उन पर बैठने की इच्छा करता है, तभी गोपियाँ उसे उपालंभ देने लगती हैं। अन्त में उद्धव 'निरे निराकार' रह जाते हैं और सगुणोपासिकाओं के सामने शिरसावनत दिखाई देते हैं। मथुरा लौटकर वे श्रीकृष्ण को यही सम्मति देते हैं कि आप प्रेम-मूर्ति गोपियों के मध्य, वृन्दावन जाकर रहिये—अन्यथा स्नेह का सूत्र विश्रृंखल हो जायगा। श्रीकृष्ण ने अपने वास्तविक रूप का दर्शन उद्धव को कराया—नंददास इस भँवर-गीत को गाकर धन्य होते हैं।

पद १ से लेकर २८ तक दार्शनिक-विवाद है। गोपियों ने प्रेम-भक्ति और सगुण ब्रह्म का पक्ष ग्रहण किया है। भावों की न्यूनता और कवि के विचारों की प्रधानता पूर्णरूपेण परिलक्षित होती है। गँवारी गोपियाँ पाण्डित्यपूर्ण तर्क उपस्थित नहीं कर पाती हैं परन्तु साधारण तर्कों से वे उद्धव का मुख बंद कर देती हैं। सिद्धान्तों के समर्थन में कवि ने सरस और काव्यमयी भाषा का व्यवहार किया है।

२९ वे पद में श्रीकृष्ण का स्वरूप गोपियों के सामने स्पष्ट सा हो उठता है। ३० वें पद से लगाकर ४४ वें पद तक गोपियों के विरह-निवेदन का करुणा-पूरित वर्णन है। ४५ वें पद में भ्रमर का प्रवेश होता है। ४६ वें पद से ५९ वें पद तक मधुप के प्रति उपालंभ है। ६० वें पद में गोपियों का रुदन है। ६१ वें पद से ६९ वें पद तक उद्धव का विचार-मंथन और मत-परिवर्तन का चित्रण है। ७० वें पद से ७४ वें पद तक श्रीकृष्ण-उद्धव संवाद है। अन्तिम ७५ वें पद में उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण-स्वरूप का दर्शन है। यहीं काव्य की समाप्ति है।

आधार—श्रीभागवत में सात-गीत हैं। दशम स्कन्ध के २९ वें अध्याय में वेणु-गीत है, ३१ वें अध्याय में गोपी-गीत है। ८७ वें अध्याय में युगल-गीत है और ग्यारहवें स्कन्ध के ७, ८ तथा ९ वें अध्यायों में अवधूत-गीत हैं। इन्हीं में भ्रमर-गीत है।

भागवत् में जिस प्रकार से भँवर-गीत का वर्णन है, लगभग सभी कवियों ने उसे आधार माना है, परन्तु अपनी भ्रमर-गीत की रचना में उन्होंने मौलिकता का योग भी प्रदान किया है। नंददास का भँवर-गीत भागवत का भावानुवाद भी है और मौलिकता से परिपूर्ण भी है। भागवत में उद्धव के द्वारा ज्ञान-योग का कथन उपलब्ध नहीं है। वे तो केवल नंद-यशोदा और गोप-गोपियों के विरह-शोक-विनिवृत्ति हेतु जाते हैं। हिन्दी कवियों ने उनको शुष्क ज्ञान मार्गी प्रमाणित करके विशुद्ध प्रेमी और भक्त बनाने के लिये गोपियों के पास भेजा है। नंददास ने भी इसी परम्परा को अपनाया है। उनका काव्य भागवत के दशम स्कंध के ४७ वें अध्याय के तीसरे श्लोक से आरम्भ

होता है। भागवत में गोपी-उद्धव के पारस्परिक परिचय के पश्चात् ही भ्रमर का प्रवेश हो जाता है। नंददास के भँवर-गीत में गोपियों से पराजित होने के वाद भ्रमर का प्रवेश दिखाया गया है। भागवत के कतिपय श्लोकों का भावानुवाद भी है; परन्तु उस पर मौलिकता का गहरा रंग है।

सूरदास ने भ्रमर-गीत को विविध छन्दों में वैविध्य के साथ लिखा; परन्तु नंददास ने संक्षेप में जिस सौष्ठव, कलाकारिता और मौलिकता का परिचय दिया—वह अत्यन्त मार्मिक है और नंददास को सहज में महाकवि और परम भक्तों की श्रेणी में ला देता है।

———

भ्रमर-गीत के जन्मदाता : श्री सूरदास

सूर के माहात्म्य को प्रगट करने वाली अनेकों अनुश्रुतियों से आच्छादित उनका जीवन-वृत्त सरल विवेचना की वस्तु नहीं है। मध्य युग चमत्कार-प्रधान रहा है, इस लिए सूरदास ही नहीं तुलसीदास और कबीरदास आदि प्रसिद्ध महात्माओं के सम्बन्ध में बहुत सी चमत्कार-पूर्ण घटनाओं का उल्लेख उपलब्ध होता है। आज का बुद्धिवादी व्यक्ति इन अनोखी आस्थाओं में विश्वास नहीं रखता है। उसे भक्त-कवियों की महानता से इन्कार नहीं है, परन्तु वह चमत्कार को नमस्कार करने वाला नहीं है। उसका विश्वास तो साक्षात्कार में है। इसलिए अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर ही हम संक्षेप से इस दिशा में आगे बढ़ेंगे।

सूर का समय—मूल 'चौरासी वार्ता' के अनुसार यह प्रमाणित होता है कि संवत् १५९२ विक्रमी में, जब सूरदास की भेंट महाप्रभु वल्लभाचार्य से हुई, तब वे संन्यासी-वेश में, अपने सेवकों के साथ गऊघाट पर रहते थे। यह भी प्रसिद्ध है कि सूरदास जी गो० विट्ठलनाथ जी के समय में जीवित थे। संवत् १६३४ में अकबर के 'फरमान' के अनुसार वे गोकुल में निष्कण्टक निवास करते थे। सं० १६३८ वि० में उन्हें दूसरे 'फरमान' के द्वारा गोचारण की आज्ञा भी मिल गई थी। अतएव सूरदास जी का संवत् १६३४-३८ में जीवित होना संभव है, परन्तु गो० विट्ठलनाथ जी का देहावसान सं० १६४२ वि० में हो गया था और सूरदास ने इनके सामने ही अपनी इहलीला संवरण कर दी थी। अतएव सूरदास की मृत्यु संवत १६४२ से पूर्व होनी चाहिये।

अष्टछाप के कवि कृष्णदास ने बसंत पद लिखा है। उसमें गो० विट्ठलनाथ जी के सप्तम पुत्र घनश्याम जी का बसंत खेलना वर्णित है। यह बालक संवत् १६२८ में उत्पन्न हुआ था और बसंत-क्रीड़ा के समय उसकी आयु १० वर्ष भी मानी जाय तो सूरदास का सं० १६३८ में विद्यमान होना निश्चित हो जाता है।[1]

1. खेलत बसंत वर विट्ठलेसराय। निज सेवक सुख देखत आय।
घनस्याम धाय फेंटन भराय। श्री जदुनाथ चोवा मँगाय॥
तहाँ सूरदास नाचत हैं आय। परमानन्द घोरि गुलाल लाय।
—सूर-निर्णय, ले० द्वारकादास परीख तथा प्रभुदयाल मीतल, द्वितीय संस्करण, सं० २००८ वि०, पृ० ९९।

इस प्रकार सूरदास का देहावसान संवत् १६४० वि० मानना ठीक जान पड़ता है। कहा जाता है कि सूरदास आचार्य वल्लभ से दस दिन छोटे थे। उनकी जन्म-तिथि वैशाख शुक्ल ५, सं० १५३५ वि० ठहरती है। इस प्रकार सूर की आयु १०५ वर्ष ठहरती है जो असम्भव नहीं जान पड़ती है। आज भी लोग शतायु देखे जाते हैं।

सूर के नाम—सूरदास की रचनाओं में उनके विभिन्न नाम अथवा उपनाम मिलते हैं।[1] सूरदास, सूर, सूरज, सूरजदास, सूरश्याम और सूर सुजान, सूर सरस, सूरजश्याम, सूरजश्याम सुजान भी हैं। कहीं-कहीं सूरदास मदनमोहन का प्रयोग भी है।

डा० जनार्दन मिश्र ने सूरज, सूरजदास और सूरश्याम के नाम से मिलने वाले पदों को प्रक्षिप्त बताया है।[2]

डा० दीनदयालु गुप्त ऐसा स्वीकार नहीं करते हैं। वे उपर्युक्त नामों को सूरदास के नाम ही मानते हैं।[3] सूरजदास मदनमोहन नामक एक कवि सूरदास के पश्चात् हुए हैं—उनका विवरण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में दिया है।

डा० मुंशीराम जी शर्मा ने इन नामों के विषय में विस्तार से विवेचना की है और वे भी इन नामों को सूरदास के नाम ही मानते हैं।[4]

श्री परीख तथा मीतल जी मानते हैं कि उनका वास्तविक नाम सूरज ही था, उसका लघु रूप सूर है।[5] सूरजदास, सूर और सूरश्याम यह नाम सूरदास ने अपने ही माने हैं।[6] इस प्रकार सूरज, सूरजदास, सूर, सूरदास तथा सूरश्याम उन्हीं के उपनाम ठहरते हैं। अधिकांश में सूर और सूरदास नाम ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

"सूर सागर सारावली" में 'सूरज' उपमान का अत्यधिक प्रयोग हुआ है परन्तु डा० ब्रजेश्वर वर्मा इस ग्रन्थ को किसी 'सूरजदास' नामक कवि की रचना मानते हैं।

---

१. सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा। सूर निर्णय—श्री परीख तथा मीतल पृ० ४७, पृष्ठ ३।

२. सूरदास · ले० डा० जनार्दन मिश्र पृष्ठ ३७

३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—ले० डा० दीनदयालगुप्त पृष्ठ १९६

४. सूर सौरभ—ले० डा० मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ ५० (द्वितीय भाग)

५. सूर निर्णय—पृष्ठ ४८

६. नाम राखे मोर सूरजदास, सूर सुस्याम" साहित्यलहरी पद ११८

जहाँ तक 'सूर-स्याम', 'सूरदास-स्वामी', 'सूर-प्रभु' आदि नामों का सम्बन्ध है, वे समस्त पद हैं, पृथक नहीं हैं। सम्भव है कहीं कहीं सूरज या सूरजदास का प्रयोग कविता में मात्राएँ ठीक करने अथवा उसमें समान लय उत्पन्न करने के लिए किया गया हो।

प्रक्षिप्त अंशों की उपस्थिति असंदिग्ध नहीं है। महाभारत तक में प्रक्षिप्तांशों की उपलब्धि है। थोड़े ही दिन पूर्व बम्बई के एक प्रसिद्ध प्रकाशक के द्वारा वितरित 'रामायण' में "अहिरावण वध" और "लवकुश काण्ड" छापे गये थे। वर्षों तक प्रक्षिप्त-अंशों का भी पाठ होता रहा। इसलिए नाम-लोभ के कारण कुछ परवर्ती कवि इस ओर उन्मुख हुए हों तो कोई आश्चर्य नहीं है।

जो भी हो, हमारी सम्मति में 'सूर, सूरदास' नाम अथवा उपनाम ही अधिक प्रामाणिक है। 'समस्त पदों' को पृथक नहीं मानना चाहिये।

जन्म-स्थान—'साहित्य लहरी' के वंश-परिचय वाले पद में सूरदास के पिता का जन्मस्थान आगरा के निकटवर्ती 'गोपाचल' का उल्लेख है। परन्तु सूरदास भी वहीं उत्पन्न हुए थे यह निश्चित नहीं है।

श्री हरिराय जी कृत भाव-प्रकाश वाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूरदास का जन्म-स्थान दिल्ली से चार कोस ब्रज की ओर स्थित 'सीहीं' नामक ग्राम बताया गया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुन्दरदास ने सूरदास की जन्मभूमि आगरा के पास रुनकुता ग्राम में मानी है। गह स्थान आगरा से मथुरा जाने वाली सड़क पर है। यहाँ से लगभग दो मील दूर यमुना है, जहाँ जलप्रवाह उलटा हो गया है। इसका नाम "रेणुका-क्षेत्र" है। इसी के पास ही गऊघाट है—जहाँ सूरदास का निवास-स्थान बताया जाता है।

इन पंक्तियों के लेखक का जन्म आगरा में ही हुआ है। हमने कई बार रुनकुता जाकर यह जानने की चेष्टा की है कि रेणुका-क्षेत्र अर्थात् रुनकुता सूरदास का जन्म-स्थान है या नहीं है। कोई ग्रन्थ, शिलालेख अथवा अन्य कोई प्रमाण हमें नहीं मिला। यहाँ तक कि किम्वदन्तियाँ भी सुनने को नहीं मिलीं कि सूरदास यहीं पैदा हुए थे। वहाँ के वृद्ध-जन उनका गऊघाट पर रहना अवश्य बताते हैं।

डा० दीनदयाल जी गुप्त ने 'साहित्यलहरी' के वंशावली वाले पद को, आइने अकबरी, मुन्ताखिव उत्तवारीख तथा मुंशियात अबुलफज्ल को अप्रामाणिक माना है। इनमें सूर की जन्मभूमि ग्वालियर अथवा लखनऊ बताई गई है।

हमारी सम्मति में गोपाचल, रुनकुता या गऊघाट को सूरदास का जन्म-स्थान

मानने के लिए कोई प्रबल या निर्बल प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतएव हम सीही-ग्राम को ही उनका जन्म-स्थान मानते हैं।

माता-पिता—हरिराय जी की 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से यह ज्ञात होता है कि उनके माता-पिता अत्यन्त निर्धन थे। सूरदास अन्धे थे अतएव उनकी उपेक्षा स्वाभाविक थी। उनके वैवाहिक जीवन का वर्णन भी उपलब्ध नहीं है। माता-पिता का नामोल्लेख भी नहीं है। उर्दू पुस्तकें इस विषय में अप्रामाणिक हैं अतएव उनमें कथित रामदास सूरदास के पिता नहीं माने जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि उनकी वंश-परम्परा आदि का कुछ भी पता नहीं चलता है।

जाति—इस विषय में विभिन्न मत प्राप्त हैं। कुछ उनको भाट मानते हैं, कुछ ढाढ़ी, कुछ जाट तथा कुछ उनको निम्न-जाति का ठहराते हैं। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है कि उनकी रचना में ब्राह्मण होने का आभास भी नहीं मिलता, बल्कि ब्राह्मण न होने की कुछ परोक्ष साक्षी मिल जाती है। क्योंकि सूर ने अपने को कई स्थानों पर पतित माना है। उन्होंने अपने काव्य में कहीं भी ब्राह्मणों की प्रशंसा या स्तुति नहीं की है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूरदास की जाति का कोई उल्लेख नहीं है। अतएव सूरदास संभव है, ब्राह्मण न हों। इस प्रकार शंकास्पद करके इस प्रश्न को छोड़ दिया गया है।

डा० ब्रजेश्वर जी 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' को अप्रामाणिक नहीं मानते हैं। इस वार्ता में उनको कई स्थानों पर सारस्वत ब्राह्मण माना गया है। "वल्लभ दिग्विजय" के अनुसार भी वे सारस्वत ब्राह्मण ही ठहरते हैं।[1] कांकरोली से प्रकाशित 'प्राचीन वार्ता रहस्य' में 'अष्ट सखान की वार्ता' की सं० १७५२ वाली प्रति से जो 'सूरदास की वार्ता' उद्धृत की गई है उसमें भी उनको सारस्वत ब्राह्मण माना गया है। सूर-सौरभ के लेखक डा० मुंशीराम शर्मा भी उनको ब्राह्मण मानते हैं।

इस विषय में हमारी मान्यता भिन्न है। दिल्ली से ब्रज की ओर आते समय जो 'सीही' ग्राम सूरदास का जन्म-स्थान माना गया है, वह दिल्ली से लगभग पाँच-छह कोस दूर स्थित है। यहाँ से कुछ दूर आगे चलकर कोसी कलाँ के आस-पास से ही ब्रज-प्रदेश आरम्भ हो जाता है। नवीन और प्राचीन जनगणना के अनुसार ब्रजप्रदेश में तथा उसके आस-पास ब्राह्मणों और जाटों की संख्या ही अधिक है। ब्राह्मणों में भी सनाढ्य ब्राह्मणों का आधिक्य है। गोवर्धन और गोकुल आदि स्थानों में सनाढ्य ब्राह्मण ही पुजारी-वर्ग में हैं। वे श्रीकृष्ण को क्षत्रियावतार मानते हैं और उनका प्रसाद नहीं पाते हैं। सम्भव है सूर ने इसी ब्राह्मणत्व को 'महराने के पांड़े' और 'बाँभन करम

---

१. वल्लभ दिग्विजय, श्री यदुनाथ, पृष्ठ ५०.

कसाई' के नाम से संबोधन किया है, क्योंकि उनकी भक्ति तो सख्य भाव की थी। उसमें छुआछूत के लिए स्थान पाना अशक्य था। यहाँ के सनाढ्य ब्राह्मणों को सनौड़िया, सनावड़, असनाढ्य भी कहते हैं। सूरदास ने स्पष्ट लिखा है कि :—"सूरदास प्रभु तुम्हरी भगति लगि, तजि जाति अपनी" इससे यही प्रमाणित होता है कि वे उच्चकुलोत्पन्न थे। निम्न जाति का व्यक्ति अपनी जाति को त्यागने का अभिमान कैसे कर सकता है।

ब्रजप्रदेश से आगरा और आगरा से ग्वालियर तक सनाढ्य ब्राह्मणों का ही आधिक्य है। सूरदास सीही ग्राम से चलकर गऊघाट की ओर आये। दिल्ली से ऊपर पंजाब प्रान्त की ओर नहीं बढ़े, जहाँ सारस्वत ब्राह्मणों का आधिक्य है। व्यक्ति समष्टि की ओर ही उन्मुख होता है। गऊघाट पहुँचने के पश्चात स्वाभाविक रूप से उनको सेवकों और जातीय लोगों का सहयोग प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार वर्षों के विवाद के पश्चात् महात्मा तुलसीदास की जन्म-भूमि सोरों मानी गई है और उनको भी सनाढ्य ब्राह्मण माना गया है। अतएव हमारी मान्यता है कि सूरदास ब्राह्मण थे और सनाढ्य ब्राह्मण थे।

जन्म-तिथि—सूरदास ने 'साहित्य लहरी' को सं० १६१७ वैसाख शुक्ल अक्षय तृतीया रविवार को समाप्त किया। "सूर-सारावली" ६७ वर्ष की अवस्था में लिखी। डा० दीनदयालु जी मानते हैं कि यदि 'साहित्य लहरी' की रचना 'सूर-सारावली' से १५ वर्ष प्रश्चात् मान लें तो सूरदास उस समय ८२ वर्ष के ठहरते हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय की मान्यता है कि सूरदास आचार्य वल्लभ से १० दिन छोटे थे। निजवार्ता का यह उल्लेख, "सो सूरदास जी जब श्री आचार्य जी महाप्रभु को प्राकट्य भयो है तब इनको जन्म भयो है।" किम्वदन्ती से मिल जाता है। आचार्य की जन्म-तिथि सं० १५३५ है और संवत् १६१७ में से ८२ वर्ष निकालने पर सूर का जन्म संवत् भी १५३५ आ जाता है।

आचार्य के वंशज भट्टू जी महाराज ने "माधव सुक्ला पंचमि ऊपर छट्ठ अधिक सुखदाय" सूरदास की जन्म-तिथि मानी है। वे सं० १८७९ में उत्पन्न हुए थे।

इसलिए सूरदास की जन्मतिथि सं० १५३५ की वैशाख शुक्ला ५, मङ्गलवार ही सिद्ध होती है।

अन्य घटनाएँ—सूरदास को गऊघाट पर ही वल्लभाचार्य जी ने शरण में लिया। लगभग सं० १५६६ की यह घटना है। उनकी शिक्षा और पाण्डित्य के विषय में कुछ ज्ञात नहीं होता। वे स्वाभाविक कवि और गायक थे—किसी से उन्होंने इस

विषय का अध्ययन किया, यह भी स्पष्ट नहीं है। भगवल्लीला की प्रेरणा उन्हें वल्लभाचार्य जी से ही मिली। वे उनके गुरु, पिता, स्वामी सभी कुछ थे। तुलसीदास और सूरदास की भेंट भी हुई थी।

रचनाएँ—सूरदास जी की २५ रचनाएँ मानी जाती हैं। सूर-सारावली, साहित्यलहरी, सूर सागर, भागवत भाषा, दशमस्कंध भाषा, सूर-सागर सार, सूर रामायण, मानलीला, राधारसकेलि-कौतुहल, गोवर्धन लीला या सरस लीला, दानलीला, भँवरगीत, नाग लीला, ब्याहलो, प्राणप्यारी, दृष्टिकूट के पद, सूर शतक, सूरसाठा, सूर पचीसी, सेवाफल, सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद, हरिवंश टीका, एकादशी माहात्म्य, नलदमयन्ती और रामजन्म। इनके अतिरिक्त काँकरौली के सरस्वती भण्डार में सूरदास कृत स्वरूप वर्णन, चरण चिन्ह वर्णन और दो बारहमासी भी उपलब्ध हैं।

सूर-सारावली से विनय के पद तक की रचनाएँ सूरदास की हैं। हरिवंश टीका, एकादशी माहात्म्य, नलदमयन्ती और रामजन्म चारों का सूरदास कृत होना संदिग्ध है।

सूर-सागर—इस ग्रन्थ में लगभग पाँच हजार पद हैं। इसकी सबसे प्राचीन प्रति सं० १७५३ की लिखी हुई नागरी प्रचारिणी सभा काशी को प्राप्त हुई है। दशम स्कंध पूर्वार्द्ध वाले संस्करण की प्राचीन प्रतिलिपि सं० १६९७ की लिखी हुई उदयपुर में है। सूर-सागर भागवत का अविकल अनुवाद नहीं है, यद्यपि आधार वही है।

भ्रमर-गीत—यद्यपि कतिपय विद्वानों ने भ्रमर-गीत को सूर-सागर से पृथक् मान लिया है, वस्तुतः वह उसी का एक अंग है। भ्रमर गीत तो सूरदास ने छन्द और पद दोनों ही शैलियों में लिखा है, परन्तु दोनों का ही सन्निवेश सूर-सागर में है।

भ्रमरगीत का समय—हमने यह माना है कि सं० १५६६ के लगभग श्री वल्लभाचार्य जी ने सूरदास को शरण में लिया था। इसके पश्चात् उन्होंने सूरदास को ३१-३२ वर्ष की आयु में, भागवत के "दशम स्कंध की अनुक्रमणिका" भागवत की टीका स्वरूप स्वरचित "सुबोधिनी" और भागवत सार समुच्चय रूप 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' सुनाया। इसी के फलस्वरूप सूरदास जी ने श्रीकृष्णलीला-विषयक सहस्रों पदों की रचना की। इन्हीं का संग्रह "सूर-सागर" है।

सूर-सागर के पश्चात् सूर सारावलि की रचना हुई और उसके पश्चात् साहित्य-लहरी लिखी गई। साहित्य-लहरी का रचना-काल संवत् १६१७ माना है। सूर-सारा-

वली ६७ वर्ष की अवस्था में लिखी गई अर्थात् संवत् १६०२ में उसकी रचना हुई।[1] इतने बीच में सूर-सागर के पाँच हज़ार पदों का निर्माण हुआ। ३२ वर्ष की आयु में भी यदि सूरदास ने वल्लभ सम्प्रदाय को अपनाया तो आचार्य महोदय से ज्ञान प्राप्त करने में उन्हें अधिक से अधिक आठ वर्ष लगे होंगे। चालीस वर्ष की अवस्था होते न होते सूरदास ने दो-तीन हज़ार पद लिख ही लिये होंगे। इस प्रकार सूर-सागर की सम्पूर्ण रचना के हेतु २७ वर्ष दिये जा सकते हैं। सूर-सागर धारावाहिक रचना होने से, सम्भव है, अन्तिम समय तक निर्मित होता रहा हो। परन्तु सूरसागर का अन्तिम ४९३६ वाँ पद सिद्ध करता है कि उसकी रचना ६७ वर्ष की आयु तक समाप्त हो गई होगी। इस प्रकार हम इस निर्णय पर आते हैं कि सूरसागर का रचना-काल संवत् १६७५ होना चाहिये और समाप्ति-काल सं० १६०२ होगा।

भ्रमर-गीत दशमस्कंध के पूर्वार्ध भाग में है। इसमें लगभग ७०० पद हैं। उत्तरार्ध में २४८ पद हैं। एकादश स्कंध में ४ पद हैं तो द्वादश स्कंध में ५ पद हैं। तात्पर्य यह है कि भ्रमरगीत के पश्चात् २५७ पदों की रचना करके सूर-सागर समाप्त कर दिया गया। इन पदों की रचना के हेतु हम अधिक से अधिक दो वर्षों का समय पृथक कर दें तो २५ वर्ष शेष रहेंगे। अब ४९३६ में से हमारे पास २५७ पद निकाल देने से ४६७९ पद रह जाते हैं। इनमें सात सौ पद भ्रमरगीत के हैं। इस प्रकार केवल ३९७९ पद शेष बचते हैं। इनके लिए यदि बीस वर्ष भी दे दें तो भ्रमरगीत की रचना के हेतु तीन वर्ष बच रहते हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत का रचना-काल संवत् १३५५ तथा समाप्ति-काल संवत् १३५८ निर्धारित होगा।

सूरदास की चक्षु-हीनता

सूरदास जी के अन्धत्व के सम्बन्ध में दो मान्यताएं प्रचलित है। एक पक्ष तो यह मानता है कि वे जन्मांध थे और दूसरा दल यह स्वीकर करता है कि वे कुछ समय पश्चात् नेत्र-हीन हो गये थे। स्वयं सूरदास ने अपने अंधेपन अथवा निपट अन्धे होने का वर्णन कई स्थानों पर किया है परन्तु अन्तः साक्ष्य से यह किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं होता कि वे जन्मान्ध थे।

किसी रूपसी के कारण इनको नेत्र-विहीन होना पड़ा—यह घटना नितान्त अप्रामाणिक हैं। बिल्वमंगल नामक कोई व्यक्ति इस घटना का नायक रहा होगा जो नेत्र-हीनता के कारण पीछे सूरदास भी बना दिया गया होगा।

---

१. 'गुरु प्रसाद होत यह दरशन सड़षठ बरस प्रवीन' का यह भाव है कि सूरदास जी को भगवान के दर्शन प्राप्त हुए उस समय उनकी अवस्था ६७ वर्ष की थी।

जन-श्रुतियों और अन्तर्साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य दोनों से उनका अंन्धा होना तो सिद्ध होता है परन्तु वे जन्मान्ध थे इसकी पुष्टि कहीं से नहीं होती है। सूरदास जी ने वृद्धावस्था में जो पद लिखे हैं उनमें अपनी इन्द्रियों की अशक्तता का वर्णन किया है। यह सभी कथन सामान्य कोटि के हैं। इनमें भी जन्मान्ध होने का कोई वर्णन उपलब्ध नहीं है। केवल हरिराय जी ने सूर के जन्मान्ध होने पर बड़ा बल दिया है। भक्तमाल के टीकाकार महाराज रघुराज सिंह भी सूरदास को जन्मान्ध ही मानते हैं।

सूरदास का एक पद है, जो आरंभिक पद कहा जाने योग्य है, उसमें उन्होंने लिखा है :—

> चरन कमल बन्दौं हरि राई।
> जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अँधरे को सब कछु दरसाई ।।
> बहिरो सुने मूक पुनि बोले, रंक चलै सिर छत्र धराई।
> सूरदास स्वामी करुणामय बार बार बदौं तिहि पाई ।।

इस पद में वर्णित अन्धा सूरदास को मानकर, दिव्य दृष्टि के द्वारा विश्व-दर्शन की कल्पना आस्तिक लोग करते हैं, परन्तु इस पद से ही स्पष्ट है कि परिपाटी के अनुसार ही वर्णन किया गया है। सूर के अन्धेपन से और इस पद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

भक्तमाल में नाभादास जी ने सूरदास को चक्षु-हीन लिखा है। डां० दीनदयालु जी गुप्त ने प्रकारान्तर से सूरदास को जन्मान्ध माना है।

हिन्दी साहित्य में कुछ ऐसे सज्जन भी हैं जो सूरदास को जन्मान्ध नहीं मानते हैं। मिश्र बन्धुओं की सम्मति में कविता में ज्योति के, रंगों के तथा ऐसे मनोरम वर्णन है जिनसे सूर का जन्मान्ध होना विश्वसनीय नहीं है।[1] डा० श्यामसुन्दरदास जी का कथन है कि सूर वास्तव में जन्मान्ध नहीं थे।[2] डा० वेणीप्रसाद मानते हैं कि अंग्रेजी कवि मिल्टन की भाँति वय-वृद्धि पर ही सूरदास अन्धे हुए होंगे।[3] आचार्य नलिनी मोहन सान्याल भी उन्हें जन्मान्ध नहीं मानते हैं।[4] इन सभी विद्वत्जनों का निर्णय यही है कि यदि सूरदास जन्मान्ध होते तो ऐसा मनोरम वर्णन या रंगों या ज्योतियों

---

१. हिन्दी नवरत्न पृ० २३०
२. हिन्दी साहित्य पृ० १८५
३. संक्षिप्त सूर-सागर पृ० ६
४. भक्त शिरोमणि सूरदास पृ० १०

का चित्रण नहीं कर पाते। ऐसा ही मत श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का है।[१] डा० ब्रजेश्वर वर्मा भी यही कहते हैं। डा० रामरतन भटनागर एवं त्रिपाठी भी यही मानते हैं।[२] डा० दीनदयालु जी गुप्त उनको बाल-काल से ही अंधा मानते हैं—परन्तु किस अवस्था से यह स्पष्ट नहीं है।[३]

डा० मुंशीराम शर्मा मानते हैं कि सूरदास क्रान्तिदर्शी एवं महात्मा थे। दिव्य दृष्टि युक्त होना या अनायास देख लेना उनके लिए आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए।[४] सूरदास के समकालीन श्रीनाथ भट्ट एवं प्राणनाथ कवि ने उनको जन्मान्ध माना है।[५] उनके पदों में सर्वत्र अन्धत्व का उल्लेख है। कहीं-कहीं जन्मान्धता का वर्णन भी है—"सूरदास सों कहा निहोरी, नैनन हू की हानि"—"सूर की बिरियाँ निठुर होइ बैठे, जन्मै-अन्ध कर्‌यौ।"—"रह्यौ जात एक पतित, जनम को आँधरो, 'सूर' सदा को।"[६]

यह कहना कि नेत्रहीन होने से चटकीले रंगों और मनोरम दृश्यों का वर्णन संभव नहीं है अतः सूरदास जन्मान्ध नहीं थे, कुछ सबल नहीं ज्ञात होता। स्वर्गीय बच्चू सूर को जिन्होंने आज से दो वर्ष पूर्व देखा होगा और उनकी रामायण सुनी होगी तथा विभिन्न वस्त्राच्छादित व्यक्ति का साङ्गोवाङ्ग वर्णन सुना होगा वह कभी चकित-विस्मित नहीं होगा। वे भी जन्मान्ध थे और ऐसा वर्णन करते थे मानों दोनों नेत्रों से देख रहे हों, हमने स्वयं ऐसा चमत्कार देखा है दिव्य दृष्टि का। अन्धों या जन्मान्धों का गुणी अथवा कलाकार होना तो स्वाभाविक सा है। आज भी ऐसे बीसियों व्यक्ति मिल सकते हैं।

इसलिए हमारी ऐसी मान्यता है और अन्तर्साक्ष्य तथा वहिर्साक्ष्य से प्रमाणित भी है कि सूरदास जी जन्मान्ध ही थे और भगवत्कृपा से उन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। भ्रमरगीत की रचना बन्द आँखों से करने वाले अमर महाकवि सूरदास इस दृष्टि से भी वंदनीय और अनुकरणीय हैं।

---

१. सूर संदर्भ पृ० ३४
२. सूर साहित्य का भूमिका पृ० १३
३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० २७२-७३।
४. सूर-सौरभ प्रथम भाग पृ० २०
५. संस्कृति मणिमाला—"जन्माधो सूरदासोदभूत........"
६. सूर निर्णय—पृ० ७३-७५

जो जन्मान्ध होता है वह सूर कहलाता है और जो पीछे अन्धा हो जाता है उसे सूर नहीं कहते हैं। परासोली में सूरदास जी का शरीरान्त हुआ। उस समय उन्होंने गो० विट्ठलनाथ जी के दर्शनों की इच्छा प्रकट की थी। यह दर्शन श्रवणेन्द्रियों द्वारा उनकी वाणी का श्रवण करना ही था, नेत्रों से प्रत्यक्ष दर्शन करने वाली बात नहीं है।

सूर वस्तुतः ही हिन्दी साहित्याकाश के सूर थे। उनके विश्व से विरागी मन में अनुरागी मोहन की माधुरी छवि आड़ी होकर अड़ गई थी और तभी उन्होंने पीड़ा, कसक और वेदना से मिश्रित, गोपियों के रूप में, भ्रमरगीत के द्वारा अपना विरह निवेदन किया है।

———

भ्रमर-गीत में बाल-जीवन और विरह-जीवन के चित्र

सूरदास-कृत भ्रमर-गीत में श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बद्ध जो चित्र उपलब्ध हैं, वे वियोग शृंगार के सन्निकट हैं। उनमें संयोग-शृंगार की भावना का अभाव है। इन चित्रों की परम्परा नंद के व्रज लौटने पर ही आरंभ हो जाती है।[1] श्याम-राम को छोड़ कर नंद व्रज में आ गये हैं। समस्त गोकुल में शोक छा जाता है। परन्तु यह समस्त पद भ्रमर-गीत से बाहर हैं अतएव इनका विश्लेषण-विवेचन हमारा लक्ष्य नहीं है।

उद्धव के व्रजागमन से हम भ्रमर-गीत का आरंभ मानते हैं। उद्धव का दर्शन पाकर सभी को आनन्द होता है। नीति भी यही है कि मित्र का मित्र हमारा प्रिय होता है। उद्धव ने श्रीकृष्ण का संदेश दिया कि वे चार-पाँच दिन में आने वाले हैं। हमारे खिलौने सम्हाल कर रख लेना, कहीं राधिका चुरा कर न ले जाय। जिस दिन से हम यहाँ आये हैं, उस दिन से न तो सायंकाल को दूध पिया है और न छाछ-मही के दर्शन ही हुए हैं। चार पंक्तियों में श्रीकृष्ण के अन्तर की व्यथा का बड़ा ही मार्मिक चित्रण है। उनकी गहरी वेदना मूर्तिमान हो उठती है। पीड़ा के भार से व्यक्ति के प्राण दब जाने पर वह मूक हो जाता है, ऐसी ही कुछ दशा श्रीकृष्ण की हो गई है:—

कह्यो कान्ह सुनि जसुदा मैया।
आवहिंगे दिन चार-पाँच मैं, हम हलधर दोउ भैया॥
मुरली बेंत विषान हमारो, कहूँ अबेर सबेरो।
मति लै जाइ चुराय राधिका, कछुक खिलौना मेरो॥
जा दिन तें हम तुम सौं बिछुरे, काहु न कह्यो कन्हैया।
प्रात न कियो कलेऊ कबहूँ, साँझ न पय पियो घैया॥
कहा कहौं कछु कहत न आवै, जननी जो दुख पायो।
अब हम सौं बसुदेव देवकी, कहत आपनो जायो॥

---

1. सूरसागर दशमस्कंध, ना० प्र० स० पद ३७४६, पृष्ठ १३२९ प्रथम संस्करण संवत् २००७ वि०—"नंदहिं आवत देखि जसोदा, आगें लैन गई।"

कहिए कहा नंद बाबा सौं, बहुत निठुर मत कीन्हो ।
सूर हमहिं पहुँचाइ मधुपुरी, बहुरि न सोधैं लीन्हो ।[१]

प्रिय के प्रवास का दोष गोपियाँ विधाता के ही सिर रखती हैं । स्नेह शील मातृ-हृदय का यह सात्विक परिचय है । युग-युग से मानव अपने हृदय को, विधाता को कोस कर, सान्त्वना देता रहा है । इसी प्रकार गोपियाँ बालकृष्ण के वात्सल्य का स्मरण करती हैं:—

"हम तौ सब बातनि सचु पायौ ।
गोद खिलाइ पिवाइ देह पय, पुनि पालनैं झुलायौ ।।
देखत रहो फनिग के मनि ज्यों, गुरुजन ज्यौं न भुलायौ ।
अब नहिं समुझति कौन पाप सौं, विधना सो उलटायौ ।।
बिनु देखें पल-पल नहिं छन-छन, ये ही चित हीं चायौ ।
अबहिं कठोर भये ब्रजपति सुत, रोवत मुँह न धुवायौ ।।
तब हम दूध, दही के कारन, घर-घर बहुत खिझायौ ।
सो अब सूर प्रगट ही लाग्यौ, योगऽरु ज्ञान पढ़ायौ ।।"

उनके स्मृति-पटल से बाल्यकाल की छीना-झपटी की स्मृति मिट नहीं पाती है । उनकी वह मधुर-मूर्त्ति बड़ी आनन्ददायक है:—

"वा जुवती के गोरस कौं हरि, इक दिन बहुत अरे ।
ऊधौ वे बातें क्यों बिसरति, छाँड़ि न हठहिं परे ।।
ता दिन कौं देखी यह अंचल, ऐंचत ओप भरे ।।
आपु सिखाइ ग्वाल सबहिन कौं, न्यारे रहे खरे ।।
सो मूरति नैनन मैं लगि रही, अंग-अंग चपल परे ।
सूर स्याम देखें सचु पइयै, राखि सँदेस धरे ।।"

गोपियों को आश्चर्य है तो यही कि श्रीकृष्ण अपने बाल-जीवन की सुखद घटनाओं को कैसे भूल गये हैं ? गोचारण, मुरली-वादन, राधा-संग, गोपी-प्रेम क्या उन्हें सभी विस्मृत हो गये हैं ? बचपन को वापस लाने के लिए तो बड़े-बड़े दार्शनिक भी लालायित रहते हैं और उसे भूल नहीं पाते हैं । यह श्रीकृष्ण कैसे हैं जो सब को भूल बैठे हैं:—

"वे, हरि, बातें क्यौं बिसरीं ।
आवत राधा पंथ चरन-रज, हित सौं अंक भरी ।।
भाँति-भाँति किसलय कुसुमावलि, संज्या सोभकरी ।
निमिष वियोग होत तन तलफत, ज्यौं जल बिनु मछरी ।।

---

१. पद ४०६१, पृष्ठ १४३१, सूरसागर ।

गोचारन मिस जात सघन बन, मुरली अधर धरी।
नाद-प्रनालि प्रवेस घोष में, रिझवत तिय सगरी।।"

गोपियाँ श्रीकृष्ण के बचपन की वास्तविकता भली-भाँति जानती हैं। उनका बचपन गोपियों के नेत्रों में बसा हुआ है। सखियों को सबसे बड़ा दुख यही है कि "बालापन का साथी" कुबिजा के हाथों में पड़ कर उनसे दूर हो गया है।

"साँवरो साँवरि रैन को जायो।
आधी राति कंस के आसनि, बसुद्यो गोकुल ल्यायो।।
नंद पिता अए मातु जसोदा, माखन मही खवायो।
हाथ लकुटि कामरि काँधे पर, बछरुन साथ डुलायो।।
कहा भयो मधुपुरी अवतरे, गोपीनाथ कहायो!
ब्रज बधु अनि मिलि साँट कटीली, कपि ज्यौं नाच नचायो।।
अब लौं कहाँ रहे हो ऊधो, लिखि-लिखि जोग पठायो।
सूरदास हम यहै परेखो, कुबरी हाथ बिकायो।।"

गोपियों की सबसे बड़ी शिकायत यही है कि जब श्रीकृष्ण को गोकुल-निवास करना ही नहीं था तो बाल्य-काल में गोवर्धन उठाकर व्रज की रक्षा ही क्यों की थी। वेणु-नाद के द्वारा गोपियों का आकर्षण ही क्यों किया। वियोग में मोहन के मधुर-चरित्र उभरते चले आ रहे हैं:—

"स्याम को यहै परेखो आवै।
तब वह प्रीति चरन जावक सिर, अब कुबिजा मन भावै।।
तब तक पानि धरयो गोबरधन, कत ब्रज बिपति छुड़ावै।
अब वह रूप अनूप कृपा करि, नैननि क्यौं न दिखावै।।
तब कत बेनु अधर धरि मोहन, लै लै नाम बुलावै।
अरु कत लाड़ लड़ाइ राग-रस हँसि हँसि कंठ लगावै।।
जो सुख-संग समीप रैन-दिन, तिन कत जोग सिखावै।
जिहि मुख अमृत पियो रसना भरि, तिहि क्यों विषहि पियावै।।
कर मीड़ति पछताति मनहि मन, क्रम क्रम करि समुझावै।
सोइ सुनि सूरदास अब बिरहिन, इहि दुख दुख अति पावै।।"

श्रीकृष्ण बालक-पन से ही चोरी करने में प्रवीण थे। गोपियों को पता नहीं उन्होंने यह स्वभाव कहाँ से ग्रहण किया था। फिर भी बचपन की दूध, दही और माखन की चोरी अखरने वाली नहीं थी; परन्तु गोपियाँ मन-मानिक की चोरी सहन करने को प्रस्तुत नहीं हैं। राजनीति में तो राजा को सुख-समृद्धि, विराट्-स्वराट् का

लोभ होता है परन्तु श्रीकृष्ण योग का उपदेश देकर योगी बने जा रहे हैं—यह कैसी विडम्बना है:—

"गोपालहिं बारे ही की टेव।
जानति नहीं कहाँ तें सीखे, चोरी के छल छेव।।
तब कछु दूध दह्यौ लै खाते, करि रहतीं हम कानि।
कैसें सही परति अब हम पै, मन मानिक की हानि।।
ऊधौ, नँदनँदन सौं कहियौ, राजनीति समुझाइ।
राजहु भये तजत नहिं लोभहिं, जोग नहीं जदुराइ।।
बुधि विवेक अरु वचन चातुरी, पहिलैं लई चुराय।
सूरदास प्रभु के गुन ऐसे, कासौं कहिए जाय।।"

श्रीकृष्ण का बचपन गोपियों को इतना प्रिय क्यों है, इस रहस्य को शुष्क ज्ञानी उद्धव नहीं समझ सकते हैं। गोपियों का परम विश्वास है कि माधव व्रज को नहीं भूल सकते हैं।

"हम तें हरि कबहू न उदास।
रास खिलाइ, पिलाइ अधर रस, क्यों बिसरत ब्रज बास।।
तुम सौं प्रेम कथा कौ कहिवौ, मनौं काटिवौ घास।
बहिरौ, तान-स्वाद कह जानै, गूँगौ बात मिठास।।
सुनि री सखी बहुरि हरि ऐहैं, वह सुख, वहै विलास।
सूरदास ऊधौ अब हमकौं, भए तेरहौं मास।।"

चेष्टा करने पर भी गोपियाँ श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का विस्मरण नहीं कर पाती हैं। उनके चरित्र, चितवन, चाल, मुसकान, मंद-ध्वनि-संयुक्त-गायन, नटवर-वेष, वाग्विनोद सभी पीड़ा प्रदान करने वाले हैं:—

"लरिकाईं कौ प्रेम कहो अलि कैसें छूटत।
कहा कहौं ब्रजनाथ चरित, अंतरगति लूटत।।
वह चितवनि, वह चाल मनोहर, वह मुसकानि, मंद-धुनि गावनि।
नटवर-भेष नंद नन्दन कौ, वह बिनोद, वह बन तें आवनि।।
चरन-कमल की सौंह करत हौं, यह संदेस मोहि विष लागत।
सूरदास पल मोहि न बिसरत, मोहन मूरति सोवत जागत।।"

एक पद में तो श्रीकृष्ण के बाल-जीवन की समस्त घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है। इस पद में वर्णनात्मकता ही प्रधान है। भावना पक्ष कुछ दबा हुआ-सा जान पड़ता है:—

"ह्यां हरि जू वहु क्रीड़ा करी। सो तौ चित तें जात न टरी ।।
ह्यां पय पीवत बकी सँहारयौ। सकट तृनावर्त ह्यां हरि मारयौ।।
बच्छासुर कौं इहां निपात्यौ। बका, अघा ह्यां हरिजू घात्यौ ।।
हलधर मारयौ धेनुक कौं इहां। देखो ऊधो हतो प्रलब जहां ।।
ह्यां तें ब्रह्मा बच्छ गयौ हरि। और किए हरि लागी न पल घरि।।
ते सब राखे सैंति नरहरी। तव ह्यां ब्रह्मा अस्तुति करी ।।
ह्यां हरि काली उरग निकास्यौ। लग्यो जरावन अनल सुनास्यौ।
वस्त्र हमारे हरि जू ह्यां हरे। कहां लगि कहियँ जे कौतुक करे ।।
हरि, हलधर ह्यां भोजन किए। विप्र-तियनि कौं अति सुख दिए ।।
इहां गोवर्धन कर हरि धारयौ। मघवा रिस तें हमैं उबारयौ ।।
सरद निसा में रास रच्यो इहँ। सो सुख हम पै बरनि जात कहँ ।।
वृषभासुर को इहां संहारयौ। भौमऽरु केसी इहां पछारयौ ।।
ह्यां हरि खेलत आँखि मिचाई। कहँ लगि बरनें लीला गाई ।।
सुनि-सुनि ऊधो प्रेम-मगन भयौ। लोटत धर पर ज्ञान गरब गयौ ।।
निरखत व्रज-भू अति सुख पावे। सूरज-प्रभु गुन पुनि-पुनि गावे ।।"

नंददास का भँमर गीत—संक्षिप्त होने के कारण इसमें बाल-जीवन के गिने-चुने ही चित्र उपलब्ध हैं। उद्धव के प्रति तर्कशीला गोपियाँ निराकार का परिहार करती हुई श्रीकृष्ण को ही परम ब्रह्म मानकर उनके बाल-जीवन का वर्णन करती हैं:—

"जो मुख नाहिन हतो कहो किन माखन खायो ?
पाँयन बिनु गो सँग कहो बन-बन को धायो ?
आँखिन में अंजन दियौ, गोवर्धन लै हाथ।
नंद जसोदा पूत हैं कुँवर कान्ह ब्रजनाथ ।।
सखा सुन स्याम के।"

गोपियाँ उनकी बाल-लीला का स्मरण करके आकुल व्याकुल हो जाती हैं और उपालंभ देती हुई कहती हैं कि विरहानल में जलाना ही अभीष्ट था तो गिरि-धारन करके श्रीकृष्ण ने उन्हें क्यों बचा लिया:—

"कोउ कहैं—अहो स्याम ! चहत मारन जो ऐसे।
गिरि गोबर्धन धारि करी रच्छा तुम कैसे ।।
ब्याल अनल विष ज्वाल तें राखि लिए सब ठौर।
अब बिरहानल दहत हो हंसि हसि नंदकिसोर ।।
चोरि चित लै गए।

सूरदास ने अपने भ्रमर-गीत में बाल जीवन के अनेकों चित्र उपस्थित किये हैं, परन्तु यह सभी वियोग-शृङ्गार प्रधान हैं। नंददास ने इस ओर अधिक दृष्टिपात नहीं किया है। सूरदास के वर्णनों में करुणा और वेदना का स्पष्ट आधिक्य है।

विरह जीवन के चित्र

सूरदास ने गोपियों के विरह-जीवन से सम्बद्ध अनेकों चित्र प्रस्तुत किये हैं। इन चित्रों में अनुभूति का गहरा रङ्ग विद्यमान है। सरस हृदय का आकर्षण इसीलिए सहज हो जाता है। लगभग सभी मानसिक दशाओं का संचार इन पदों में उपलब्ध है।

संयोग-समय में आनन्दोल्लास उत्पन्न करने वाले प्राकृतिक पदार्थों का वियोग के दिनों में दर्शन पाकर जो पीड़ा होती है, उसकी अभिव्यंजना के हेतु कवियों ने उपालंभों की परम्परा को प्रसारित किया है। सूरदास और नंददास के भ्रमर-गीत इसी परिपाटी के अद्वितीय उदाहरण हैं।

भ्रमर-गीत के पहले ही पद में विरहावस्था की पराकाष्ठा दिखाई पड़ जाती है। श्यामसुन्दर के हाथों से लिखे हुए अक्षरों का देखना तो दूर रहा, पत्रिका देखते हो नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आते हैं और उनके संयोग से पत्रिका पर लिखे हुए अक्षर भीग जाते हैं, मसि फैल जाती है और श्याम की पत्रिका श्याम हो जाती है। विरह की चरमावस्था (climax) का दर्शन कवि-कर्तृत्व और प्रतिभा से मूर्तिमान हो उठता है :—

> "निरखति अंक स्यामसुन्दर के वार-बार लावति लै छाती।
> लोचन जल कागद मसि मिलि कैं ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती॥"

इतना सुख मिला कि प्रिय की पत्रिका प्राप्त हुई, परन्तु अब भी शंका है। श्री कृष्ण ने किसी अन्य व्यक्ति से तो नहीं लिखवादी है ? स्वयं अपने ही हाथों लिखी है ?— इस सबका समाधान गोपियाँ उद्धव से चाहती हैं। अत्यन्त मनोवैज्ञानिक तथ्य का समावेश सूरदास ने किया है। आनन्द-दायक चर्चा का पुनः पुनः सुनना स्वाभाविक है :—

> "पाती मधुवन तें आई।
> ऊधौ हरि के परम सनेही, ताके हाथ पठाई।
> कोउ पढ़ति कोउ धरति नैंन पर, काहूँ हृदै लगाई।
> कोउ पूछति फिरि-फिरि ऊधौं कौं, आपुन लिखी कन्हाई ?
> बहुरौ दर्द फेरि ऊधौ कौं, तब उन बाँचि सुनाई।
> मन मैं ध्यान हमारो राख्यौ, सूर सदा सुखदाई॥"

इस प्रकार श्यामसुन्दर की पत्रिका पाकर वैसा ही प्रेमोद्रेक हुआ जैसा मन-मोहन को पाकर होता। 'अंक' और 'स्याम' शब्दों में कैसा श्लेप है ? स्याम की पत्रिका ही स्याम हो गई। जैसे गोपियाँ श्याम के अंक अर्थात् गोद या शरीर का आलिंगन पाकर सुखी होतीं वैसे ही कृष्ण के लिखे अक अर्थात् अक्षर देखकर कोई उसे पढ़ती है, कोई छाती से लगाती है और बार-बार उद्धव से पढ़वाती हैं। शब्द-साम्य बड़ा सुन्दर है।

पत्रिका पाकर ही सन्तोष नहीं है। वे तो श्रीकृष्ण का दर्शन चाहती हैं :—

"ऊधौ कहा करें लै पाती।
जौ लौं मदनगुपाल न देखें, बिरह जरावत छाती॥"

विरह में, पत्रिका सुन कर श्रवण-दर्शन तो हो गये परन्तु गोपियाँ अपने नेत्रों का लाभ भी प्राप्त करना चाहती हैं :—

"अँखियाँ हरि दर्शन की भूखीं।
कैसें रहति रूप-रस राचीं, ये बतियाँ सुनि रूखी॥"

यहाँ भूखी शब्द का प्रयोग अत्यन्त लाक्षणिक है। भूख तो भोजन से ही शान्त हो सकती है। सुन्दर-सुन्दर व्यंजनों की सूची गिनाना तो भूख का वर्द्धन करना है, फिर उद्धव की बातों में तो वह सरसता भी नहीं है, जिससे कुछ पाने की आशा हो सके। इसीलिये नेत्रों ने प्रतिज्ञा कर ली है कि श्रीकृष्ण-दर्शन पाये बिना सन्तुष्ट नहीं होंगे :—

"ऊधौ इन नैननि नेम लियौ।
नँद नँदन सौं पतिव्रत राख्यौ, नाहिंन दरस बियौ॥"
"हरि मुख निरखि निमेष बिसारे।
ता दिन तें ये भए दिगंबर, इन नैननि के तारे॥"
"और सकल अँगनि तें ऊधौ अँखियाँ अधिक दुखारी॥"

श्रीकृष्ण-प्रवास के पश्चात् गोपियों की दशा अत्यन्त दीन-हीन हो गई है। कृश-शरीर, मंदाग्नि, अरुचि, नेत्रों से जल प्रवाह—सभी कुछ अनोखा सा दिखाई पड़ रहा है :—

"गोविंद के बिछुरे तें ऊधौ जानी बिरह की बात।
हौं सूखी बहु भाँति गात अति, ज्यौं तरुवर के पात॥
भूल्यो भोजन भाव सफल कृत, बचन न नैंकु सुहात।
सहज बहत लोचन जल-सरिता, सूर बुड़त उतरात॥"

वियोगावस्था में चारों ओर से विपदा ही विपदा दिखाई देती है। संयोगावस्था में सुखद लगने वाली घटाएँ, दामिनी, चन्द्र आदि सभी विरहानल को प्रज्वलित करने

वाले सिद्ध हो रहे हैं। विरहिणी ब्रजांगनाएँ इन विषम परिस्थितियों में पड़कर धैर्य्य-हीन हो गई हैं :—

"ऊधो, इतने मोहि सतावत।
कारी घटा देखि वादर की, दामिनि चमक डरावत।।
हेम-सुता पति कौ रिपु व्यापै, दधिसुत रथ न चलावत।
अंबू खंडन शब्द सुनत ही, चित्त चकृत उठि धावत।।
कंचनपुर-पति कौ जो भ्राता, ता प्रिय बलहिं न आवत।
संभू-सुत कौ जो वाहन है, कुहुकै असल सलावत।।"

फिर धीरज धारण की भी सीमा होती है। अन्ततः कोई कहाँ तक सन्तोष का साथ पकड़े बैठा रहे। विराम-विश्राम, भोजन, घर-आँगन कुछ भी तो अच्छा नहीं लगता है। इसके पश्चात् संयोगावस्था के सुखद स्थानों को देखकर पुरानी-स्मृति हरी हो जाती है।

"कहाँ लौं मन में राखैं धीर।
सुनौ मधुप अपने इन नैननि, बिनु देखें बलवीर।
घर-आँगन न सुहात रैन-दिन, भूले भोजन चीर।
दाहत देह चंद चदन-सुख, औरो मलय समीर।।
छिन-छिन वहै सुरति आवत जब चितवति जमुनातीर।
सूरदास गड़ि रहे हिये मैं, सुन्दर स्याम सरीर।।"[1]

वियोग की कथा अकथनीय है। जीवित रहते हुए भी मृतक हैं :—

"हम तिय मृतक जियत ससि साखी।"

इतना ही दुःख नहीं है वरन् समस्त अनुकूल साधन प्रतिकूल हो गये हैं। कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। कितना मनोवैज्ञानिक वर्णन है :—

"हमकौं दुःख भई ये सेजें।
ऊधो कमल नयन की बतियाँ छिदि-छिदि जात करेजें।।"

विरहिन के घर में तो सदैव ही वरसात का निवास रहता है। आर्द्रता कभी पीछा ही नहीं छोड़ती है। उसके लिए यह सबसे विषम समस्या है—

---

१. तुलना कीजिये

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर।।

—बिहारीलाल

"इहिं विधि पावस सदा हमारें ।
पूरब पवन स्वास उर ऊरध, आनि मिले इक ठारें ।।
बादर स्याम सेत नैनन में, बरषि आँसु जल ढारें ।
अरुन प्रकास पलक दुतिदामन, गरजनि नाम पियारें ।।"

गोपाल की अनुपस्थिति में सब ठाठ बिगड़ गया है। यहाँ तक कि सुखदा वस्तुओं के स्वभाव में भी प्रवल परिवर्तन हो गया है। जो लताएँ श्याम-सँयोग के समय शीतलता प्रदान करती थीं, वे ही अब ज्वलित-ज्वाल के समान हो गई हैं। कैसा कारुणिक वर्णन है :—

"बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें।
तब वै लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजें।
यह ऊधो कहियो माधौ सौं मदन मारि कीन्हीं हम लुंजें।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग जोवत अँखिया भई छुंजें ।।"

विरहिणी राधा का सम्पूर्ण चित्र चार-पंक्तियों में चित्रित करके सूरदास जी ने कमाल कर दिया है। श्रीकृष्ण के प्रेमाम्बु से आर्द्र साड़ी को राधा इसीलिए नहीं धुलवाती है कि उसमें से प्रेम रस निकल जायगा। कैसा मोह है, कैसा गाढ़ा स्नेह है। मुँह लटका रहता है, नेत्र उठाकर देखती भी नहीं है, केश बिखरे हुए हैं, मुख मलीन हो रहा है जैसे हिमकर की मारी हुई नलिनी।[1] इस पर भी श्याम के संदेश ने तो पहाड़ ही ढा दिया—जीते जी ही राधा मर गई। उसे विरह दुख ही क्या कम था परन्तु इस भ्रमर ने तो उसे जी भर कर जला दिया।

"अति मलीन वृषभानु कुमारी ।
हरि श्रम जल भीज्यौं उर अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी ।
अधमुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी ।
छूटे चिकुर, बदन कुम्हिलाने, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी ।।"
हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिन, दूजे अलि जारी ।
सूरदास कैसें करि जीवैं, व्रज बनिता बिनु स्याम दुखारी ।।"

---

१. नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद जंत्रित प्राण जाहिं किहिबाट ।।
सीता के इस वियोग की तुलना राधा के विरह से कीजिये । प्राणों का प्रति बंधन करने वाला कोई नहीं है फिर भी वे निकलते नहीं है । कैसी समस्या है ? सीता की व्यथा से राधा की व्यथा सैकड़ों गुणी अधिक हैं ।

भ्रमर-गीत में ऐसे-ऐसे बीसियों चित्रण सूरदास ने किये हैं। यह बड़े ही प्रभावोत्पादक और मनोवैज्ञानिक हैं। सहजरूप में मानव-मन का आकर्षण करना इनके लिए अत्यन्त सरल हैं।

नंददास—ने भी अपने भ्रमरगीत में विरह जीवन के कई प्रभावोत्पादक चित्र उपस्थित किये हैं। विरह की व्यथा से व्याकुल होते हुए भी गोपियाँ अपने आपको प्रगाढ़-प्रेमिका मानती हैं और कली-कली से रस प्राप्त करने वाले भ्रंमर को चेतावनी देती हुई कहती हैं :—

"······मधुप कहा तू रस को जानै।
बहुत कुसुम पै वैठि सबै आपुन सममानै।
आपन सम हमको कियो चाहत है मतिमंद।
द्विविध ज्ञान उपजाय कैं दुखित प्रेम आनन्द।।
कपट के छंद सौं।"

निर्बल और निराश प्राणी के पास रोना उसकी सन्तुष्टि का अन्तिम साधन माना गया है। नंददास की गोपियाँ जब भाव-विभोर हो जाती हैं तो दुःख के भार से उनका हृदय फटने लगता है।

"यहि बिधि सुमिरि गोविन्द कहत ऊधव प्रतिगोपी।
भृँग संग्या करि कहत सकल कुल-लज्जा लोपी।।
ता पाछे इक बार ही रोईं सकल व्रजनारि।
हा करुनामय नाथ हो! केसव! कृष्ण! मुरारि।।
फाटि हियरो चल्यो।"

एक प्रकार से नंददास ने विरह-जीवन के सजीव चित्र उपस्थित नहीं किये हैं। उनकी गोपियाँ तर्कशीला अधिक हैं, भाव-प्रवणता उनमें कम दिखाई देती है। अपनी मनोदशा और शारीरिक व्यथा-वर्णन की अपेक्षा ऊद्धव को निरुत्तर करना अथवा पराजित करना उनका चरम लक्ष्य जान पड़ता है।

विरह की एकादश अवस्थाएँ : भ्रमरगीत में उनका चित्रण

काव्य के क्षेत्र में वियोग की ग्यारह दशाओं का वर्णन उपलब्ध है। इनके नाम हैं, अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्छा और मरण।

इस अनुध्याय में हमें यह बताना अभीष्ट है कि सूरदास और नंददास ने अपने-अपने भ्रमर गीतों में इन ग्यारहों दशाओं का वर्णन कितनी सफलता से किया और इस दृष्टिकोण से भ्रमरगीत कहाँ तक विप्रलंभ श्रृंगार-प्रधान सर्वोत्कृष्ट काव्य है।

(१) अभिलाषा—नायक-नायिका अथवा प्रेमी और प्रेमिका के वियोग हो जाने पर परस्पर एक दूसरे के मिलने के अर्थ अनेक प्रकार की चित्त-चेष्टाओं को अभिलाषा कहते हैं :—

"सुन्दर सुजान पर मन्द मुसकान पर,
बाँसुरी की तान पर ठौरन ठगी रहै।
मूरति विशाल पर कंचन सी माल पर
हँसन सी चाल पर खोरन खगी रहै॥
भौंहें धनु मैन पर लोने जुग नैन पर
शुद्धरस बैन पर वाहिद पगी रहै।
चंचल से तन पर साँवरे बदन पर,
नंद के नंदन पर लगनि लगी रहै॥"

सूरदास :—

"जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ, लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु 'न्हात खसै जनि बार।"
"ऊधौ कहा करें लै पाती।
जौ लौं मदन गुपाल न देखें, विरह जरावत छाती॥
निमिष निमिष मोहि बिसरत नाहीं, सरद सुहाई राती!

पीर हमारी जानत नाहीं, तुम ही स्याम सँघाती ।।
सूरदास—प्रभु कहा चहत हैं, कोटिक बात सुहाती ।
एक बेर मुख बहुरि दिखावहु, रहै चरन-रज-राती ।"

नंददास— "कोउ कहैं—अहो दरस देहु पुनि बेनु बजावौ ।
दुरि-दुरि बन की ओट कहा हिय लोन लगावौ ।।
हमकौं तुम पिय एक हो तुमकौं हमसी कोरि ।
बहुत भाँति के रावरे प्रीति न डारो तोरि ।।
एक ही वार यौं ।"

(२) चिन्ता—चित्त में, वियोग के कारण, किसी भी प्रकार की चिन्ता उत्पन्न हो जाय ।

"नैया मोरी तनिक सी बोझी पाथर भार ।
चहु ँ दिसि अति भँवरें उठति केवट है मतवार ॥"

सूरदास—

ऊधौ कैसे है वे लोग ।
करि बहु प्रेम गह्यौ अविवेकहिं, लिखि लिखि पठवत जोग ।।
कीजै कहा, नहीं बस काहू, व्यापत बिरह बियोग ।
सूरदास-प्रभु मिलौ कृपा करि, गोपिन व्यापत रोग ।।

नंददास—

कोउ कहैं-अहो स्याम ! चहत मारन जो ऐसे ।
गिर गोवर्धन धारि करी रच्छा तुम कैसे ।।
व्याल अनल विष ज्वाला तैं राखि लए सब ठौर ।
अब बिरहानल दहत हो हँसि हँसि नंदकिसोर ।
चोरि चित लै गए ।

(३) स्मरण (स्मृति)—वियोग समय में प्रिय के पूर्व सँयोग समय की बातों का स्मरण आना ।

"सघन कुंज, छाया सुखद, सीतल, मंद समीर ।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ।"

सूरदास :—

वे बातें जमुना तीर की ।
कबहुँक सुरति करत हैं मधुकर, हरन हमारे चीर की ।।
लीन्हे बसन, देखि ऊँचे द्रुम, रबकि चढ़न बलबीर की ।

देखि-देखि सब सखी पुकारति, अधिक जुड़ाई नीर की ।।
दोऊ हाथ जोरि करि माँगें, व्वाई नंद अहीर की ।
सूरदास-प्रभु सब सुख दाता, जानत हैं पर पीर की ।।

नंददासः— जो मुख नाहिन हतो कहो किन माखन खायो ?
पायन विन गो संग कहो बन-बन को धायो ?
आँखिन में अंजन दियो गोवर्धन लयो हाथ ।
नंद जसोदा पूत हैं, कुँवर कान्ह व्रजनाथ ।।
सखा सुन स्याम के ।

(४) गुण-कथन —वियोग में प्रिय के गुणानुवादों का कथन करना ।

सूरदास :—

मधुकर ! स्याम हमारे चोर ।
मन हरि लियौ तनक चितवनि मैं, चपल नैन की कोर ।।
पकरे हुते हृदय उर अंतर, प्रेम प्रीति कैं जोर ।
गए छँड़ाइ तोर सब बंधन, दै गए हँसनि अकोर ।।
चौंकि परी जागत निसि बीती, इत मिल्यौ इक भौंर ।
सूरदास-प्रभु सरबस लूट्यौ, नागर नवल-किसोर ।।

नंददास :—

कोउ कहै री ! मधुप भेस उनही को धारयौ ।
स्याम पीत गुंजार बैन किंकिन झनकारयो ।।
वा पुर गोरस चोरि कैं आयो फिर यहि देस ।
इनको जनि मानहु कोऊ कपटी इनको भेस ।।

(५) उद्वेग—प्रिय के विरह की व्याकुलता के कारण मन का कहीं भी न लगना उद्वेग कहलाता है ।

"छन होत हरी री मही को लखे छन जोवति है छन जोति छटा ।
अवलोकति इन्दुवधू की पत्यारी बिलोकति है छन कारी घटा ।।
तकि डारि कदम्बन की तरसैं तउ देखत नाचत मोर अटा ।
अध ऊरध आवत जात भयो चित नागरी को नट कैसो बटा ।।"

सूरदास :—

कहाँ लौं राखैं मन मैं धीर ।
सुनो मधुप अपनें इन नैननि बिनु देखैं बलबीर ।।

घर-आँगन न सुहात रैन-दिन, भूले भोजन, चीर ।
दाहत देह चंद-चंदन सुख औरौ मलय समीर ।।

नंददासः—

कोउ कहै—रे मधुप ! कहा मोहन गुन गावै ।
हृदय कपट सौं परम प्रेम नाहिन छवि पावै ।।
जानति हौं सब भाँति कै सरबस लियौ चुराय ।
यह बौरी व्रजबासिनी को जो तुम्हें पतियाय ।।
लहे हम जानि कै ।

(६) प्रलाप—प्रिय के प्रति निरर्थक वाक्यालाप को प्रलाप कहते हैं ।

"प्रानन के प्यारे तन ताप के हरन हारे,
नन्द के दुलारें व्रज वारेउ महत हैं ।
कहै पदमाकर उरुझे उर अन्तर यौं,
अन्तर चहे हू जे न अन्तर चहत हैं ।।
नैननि बसे हैं अंग अंग हुलसे हैं रोम-
रोम निरसे हैं निकसे हैं को कहत हैं ।
ऊधौ वे गोविन्द कोऊ और मथुरा में यहाँ—
मेरे तो गोविन्द मोहि-मोहि में रहत हैं ।।"

सूरदास :—

कहियो ठकुराइति हम जानी ।
अब दिन चारि चलहु गोकुल में, सेवहु आइ बहुरि रजधानी ।।
हमकौं हौंस बहुत देखन की, संग लियें कुबिजा पटरानी ।
पहुनाई व्रज की दधि माखन, बड़ो पलँग अरु तातो पानी ।।
तुम जनि डरो ऊखल तो तोरयो, दाँवरि हू अब भई पुरानी ।
वह बल कहाँ जसोमति कें कर, देह रावरें सोच बुढ़ानी ।।
सुरभी बाँटि दई ग्वालनि कौं, मोर-चन्द्रिका सबै उड़ानी ।
सूर नन्द जू के पा लागौं, देखहु आइ राधिका स्यानी ।।

नन्ददास . —

कोउ कहै-ये निठुर इन्हें पातक नहिं व्यापै ।
पाप पुन्य के करनहार ये ही हैं आपै ।।
इनके निर्दय रूप में नाहिन कछू विचित्र ।
पय पीवत ही पूतना मारी बाल-चरित्र ।।
मित्र ये कौन के ।

(७) उन्माद—वियोगावस्था में अत्यन्त संयोगोत्कण्ठित होकर मोहपूर्वक रोदन, हँसी अथवा बकवादादि व्यापार को उन्माद कहते हैं :—

सूरदास :—

स्याम ! तुम ठग सों प्रीति करी ।
काटे नाक पिछौरे पोंछत तातैं सब सुधरी ॥
ह्याँ ऊधौ काहे कौं आए, कौन सी अटक परी ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु, सब पाती उघरी ॥

नन्ददास :—

कोउ कहैं—अहो दरस देत पुनि लेत दुराई ।
यह छल बिद्या कहौ कौन पिय तुम्हें सिखाई ॥
हम पर-बस आधीन हैं ताते बोलत दीन ।
जल बिनु कहौ कैसे जिएँ गहिरे जल की मीन ॥
बिचारहु रावरे ।

(८) व्याधि—वियोग दुःख जनित शरीर की कृशता तथा अस्वास्थ्य को व्याधि कहते हैं :—

"वेदन ये जाने को निवेदन ये माने कौन,
वेदन उदोत होत छेदन ये छाती है ।
पी की बतियाँ सुनि कै तीकी अति आँसुन की,
उमड़ी नदी सी बढ़ि नदो सी सुहाती है ॥
सी कहे सुहाति जाहि सो कहे बिषम बात,
बिषु बिषुमेख की लहर छहराती है ।
घूमि घूमि गिरत भुजानि भरे झूमि झूमि,
सखी मुखचन्द चूमि चूमि बिलखाती है ॥"

सूरदास :—

अति मलीन वृषभानु कुमारी ।
हरि-स्रम-जल भींज्यौ उर-अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी ॥
अध-मुख रहति अनतनहिं चितवति ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी ।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी ॥
हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिन, दूजे अलि जारी ।
सूरदास कैसें करि जीवें, ब्रज बनिता बिनु स्याम दुखारी ॥

नन्ददास :—

अहोनाथ ! रमानाथ और जदुनाथ गोसांई ।
नंद नंदन विडराति फिरत तुम बिनु सब गाई ।।
काहे न फेरि कृपालु ह्वै गो ग्वालन सुधि लेहु ।
दुख जलनिधि हम बूड़हीं कर अवलंबन देहु ।।
निठुर ह्वै कहँ रहे ।

(९) जड़ता—वियोग दुःख से सम्पूर्ण इन्द्रियों की गति का अवरोध हो जाना :—

सूरदास :—

बिनु माधव-राधा-तन सजनी ! सब विपरीत भई ।
गई छपाय छपाकर की छबि, रही कलंकमई ।।
लोचन हू तें सरद-सारसै सुछबि निचोय लई ।
आंच लगै च्योनो सोनो ज्यों त्यों तनु-धातु हई ।।
कदली-दल सी पीठि मनोहर सो जनु उलटि गई ।
संपति सब हरि हरी, सूर प्रभु विपदा दई दई ।।

नंददास :—

सुनत स्याम को नाम ग्राम गृह की सुधि भूली ।
भरि अनंद रस हृदय, प्रेम-वेली-द्रुम फूली ।।
पुलकि रोम सब अंग भए, भरि आये जल नैंन ।
कंठ घुटे गदगद गिरा, बोले जात न बैन ।।
व्यवस्था प्रेम की ।

(१०) मूर्छा—वियोग की दशा में शरीर से सम्बद्ध सुख दुखादिक का ज्ञान न रहना :—

सूरदास :—

मेरे मन इतनी सूल रही ।
वै बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नँदलाल कही ।।
सोचति अति पछताति राधिका मूर्छित धरनि ढही ।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें बिथा न जाति सही ।।

नंददास :—

सुनि मोहन सँदेश रूप सुमिरन ह्वै आयो ।
पुलकित आनन कमल अंग आवेस जनायो ।।

विह्वल ह्वै धरनी परीं व्रज बनिता मुरझाय ।
दै जल छींट प्रबोधहीं ऊधव वैन सुनाय ।।
सुनो व्रजनागरी ।

(११) मरण—जब किसी भी प्रकार से प्रिय-मिलन की आशा शेष नहीं रह जाती है तो वह दशा मरण दशा कही जाती है ।

इन दुखियान कौं न चैन सपनेहू मिल्यो,
ता तें अति व्याकुल विकल अकुलायँगी ।
प्यारे हरिचन्द जू की बीती जानि औधि प्रान
चाहत चल्यो पै एतो संग न समाँयगी ।।
देख्यो एक बार हू न नैन भरि तोहि या पै
जौन जौन देश जैहैं तहाँ पछितायँगी ।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय !
देखि लीजो आँखि ये खुली ही रहि जायँगी ।।

सूरदास :—

जो पै कोउ मधुवन लौं जाइ ।
पतिया लिखी स्यामसुन्दर कौं, कंकन देहौं ताइ ।।
नैन-नीर सारंग-रिपु भीजत, जुग सम रैनि बिहाइ ।
अब यह भवन भयो पावक सम, हरि बिनु मोहि न सुहाइ ।।
पछिली प्रीति कहा भइ ऊधौ, मिलते बेनु बजाइ ।
सूरदास प्रभु प्रान गये तें, कहा करौगे आइ ।।

नंददास :—

यहि बिधि सुमिरि गोविन्द कहत ऊधव प्रति गोपी ।
भृंग्य संज्ञा करि कहत सकल कुल-लज्जा लोपी ।।
ता पाछें इक बार ही रोईं सकल ब्रजनारि ।
हा करुनामय ! नाथ हो ! केसव ! कृष्ण ! मुरारि ।।
फाटि हियरो चल्यो ।।

———

भ्रमर-गीत में रसों का परिपाक

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" नाट्यशास्त्र के निर्माता भरतमुनि ने ऐसा माना है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के मिलने से स्थायी परिपूर्ण होकर रस संज्ञा को प्राप्त होता है। रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में भट्ट लोल्लट, भट्ट नायक, शंकुक तथा अभिनवगुप्ताचार्य के विभिन्न मत हैं—परन्तु इस प्रसंग में उनका वर्णन हमारा विषय नहीं है।

हिन्दी साहित्य में रसों की संख्या नौ मानी जाती है। इधर कुछ काल से भक्ति और वात्सल्य को भी रस संज्ञा प्रदान की जाने लगी है। इस प्रकार रसों का योग ग्यारह हो जाता है। नौ रसों में शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, तथा शान्त रसों की गणना की जाती है।

(१) शृंगार रस—विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से शृंगार उत्पन्न होता है। इसका स्थायीभाव रति है। दूसरे से हृदय मिल जाने के कारण जो स्नेह उत्पन्न होता है, उसे रति कहते हैं। आलम्बन नायिका-नायक और उद्दीपन सखा, सखी, वन-उपवन, विहार, हाव भाव, मुसकान आदि होते हैं। इस रस के देवता कृष्ण हैं, जिनका रँग श्याम है। इसके दो भेद हैं, सँयोग शृंगार तथा वियोग शृंगार जिसे विप्रलंभ शृंगार भी कहते हैं। विप्रलंभ के भेदोपभेदों का वर्णन हम अन्यत्र कर चुके हैं। इसके तीन भेद हैं, पूर्वानुराग, मान और प्रवास। पूर्वानुराग के चार भेद हैं, श्रवण, चित्रदर्शन, स्वप्न दर्शन और प्रत्यक्ष दर्शन। मान भी तीन प्रकार का होता है, लघुमान, मध्यम मान और गुरु मान। प्रवास भी दो भाँति के पाये गये हैं, भूत प्रवास और भविष्य प्रवास। वियोग की ग्यारह दशाएँ मानी जाती हैं। अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्छा और अन्तिम दशा मरण।

भ्रमर-गीत में शृंगार के विप्रलंभ-भाग का पूर्ण परिपाक हुआ है। इस पर हम पिछले अनुच्छेदों में प्रकाश डाल चुके हैं। एक प्रकार से भ्रमरगीत विप्रलंभ प्रधान ही है। संयोग शृंगार का उसमें प्रभाव भले ही हो परन्तु वियोग शृंगार का पूरा आधिपत्य दिखाई पड़ता है। सूर और नंददास दोनों ही इस दिशा में अत्यन्त सफल कहे

जा सकते हैं। वे वियोग-शृंगार के महाकवि हैं।

(२) हास्य रस—इसका स्थायी भाव हास है। कुरूपता और अनुचित कथन अथवा व्यंग्य इसके उद्दीपन हैं तथा उसके पात्र आलम्बन हैं। इसी प्रकार से मध्य अथवा उच्च स्वर से हँसना अनुभाव है तथा चपलता, चंचलता आदि संचारी भाव हैं। प्रमथ देवता हैं। रंग श्वेत है।

"ऊधो ! तेरे यार ऐसे ह्वै हैं रिझवार जाय—
जानती विचार तो पै सूधो हों न जायबो।
करती विचार भाँति भाँति के सुभाय भाय,
केती बड़ी बात हुती वाको अटकायबो॥
ग्वाल कवि पीठन पै एक एक हाँडी बाँधि,
नीके मनमोहन कों करतीं रिझायबो।
या तो कहूँ कोऊ बहुरूपिया तलास करि
सीख लेतीं हम सब कूबर बनायबो।"

सूरदास :—

ऊधो, अब कछु कहत न आवै।
सिर पर सौति हमारे कुबिजा, चाम के दाम चलावै॥
कछु इक मंत्र करयो चन्दन मैं, तातैं स्यामहिं भावै।
अपनैं ही रँग रचे साँवरे, सुक ज्यौं बैठि पढ़ावै॥
तब तो कहत असुर की दासी, अब कुल-वधू कहावै।
नटिनी लौं कर लिये लकुटिया, कपि ज्यौं नाच नचावै॥
टूट्यौ नातो या गोकुल को, लिखि लिखि जोग पठावै।
सूरदास-प्रभु हमहिं निदरि, दाढ़े पर लोन लगावै॥

नंददास :—

कोउ कहै—कहो मधुप ! स्याम जोगी, तुम चेला।
कुब्जा तीरथ जाय कियो इन्द्रिन को मेला।
मधुबन सुधि बिसराय कै आए गोकुल माँहि।
इहाँ सबै प्रेमी बसें तुम्हरो गाहक नाँहि॥
पधारो रावरे॥

(३) करुण रस—प्रिय की हानि अथवा मरण आलम्बन तथा उनकी दुखित दशा, प्रिय वस्तुओं का दर्शन, गुण-श्रवण आदि उद्दीपन, रोना, पृथ्वी पर गिर पड़ना आदि अनुभाव, भाग्य की निन्दा, पश्चात्ताप आदि संचारी भाव और शोक जिसका

स्थायी भाव है, वह करुणरस कहलाता है। इसके देवता वरुण हैं और रंग कबूतर-जैसा है।

"डोलत बाल मराल की चालन रेलत लाल फिरैं ब्रज खोरी।
सोहत माल बिसाल हिये तर मोहत नील सौं पीत पिछौरी।।
साथ सखा सिर मोर पखा धरि हाथ नचावत है चकडोरी।
फेरि कहौ कब देखिहौं ऊधव स्याम लला बलराम की जोरी।।"

सूरदास :—

जा दिन तैं गोपाल चले।
ता दिन तैं ऊधौ या ब्रज के, सब स्वभाव बदले।
घटे अहार बिहार हरष हित, सुख सोभा गुन गान।
ओज तेज सब रहित सकल विधि, आरत असम समान।।
बाढ़ी निसा, बलय आभूषन, उर-कंचुकी उसास।
नैनन जल अंजन अँचल प्रति, आवन अवधि की आस।।
अब यहि दसा प्रगट या तन की कहियौ जाइ सुनाइ।
सूरदास-प्रभु सो कीजो जिहिं, वेगि मिलहिं अब आइ।।

नन्ददास :—

यहि विधि सुमिरि गोविन्द कहत ऊधव प्रति गोपी।
भृंग्य संज्ञा करि कहत सकल कुल लज्जा-लोपी।।
ता पाछे इक बार ही रोईं सकल ब्रज-नारि।
हा करुनामय ! नाथ हो ! केसव ! कृष्ण ! मुरारि।।
फाटि हियरो चल्यो।

(४) रौद्ररस—क्रोध की स्थिरता को रौद्ररस कहते हैं। शत्रु ही इसका आलम्बन है और रिपु की उमंग ही उद्दीपन है। भ्रूभंग, नेत्रों की लालिमा, अधर, दशनादि अँगों का स्फुरण अनुभाव हैं। गर्व तथा चपलता संचारी भाव हैं इसके देवता रुद्र हैं तथा वर्ण लाल है।

सूरदास :—

जाहु जाहु आगे तें ऊधौ, हौं तो पति राखति हौं तेरी।
काहे को अब रोष दिखावत, देखत आँखि बरत है मेरी।,
तुम जु कहत संतत हैं गोविन्द, सुनियत हैं कुबिजा उन घेरी।
दोउ मिले तैसेई तैसे, वें अहीर, वह कंस की चेरी।।
तुम सारिखे बसीठ पठाए, कहिए कहा बुद्धि उन केरी।
सूर-स्याम वह सुधि बिसराई, देत फिरत ग्वालन सँग हेरी।।

नन्ददास :—

ताहि भँवर सौं कहैं सवै प्रति उत्तर वातैं।
तर्क-वितर्कनि जुक्त प्रेम-रस-रूपी घातैं ॥
जनि परसौ मम पाँव रे ! तुम मानत हम चोर।
तुमही सों कपटी हुते मोहन नन्द किसोर ॥
यहाँ तैं दूरि हो।

(५) वीररस—इसका स्थायी भाव उत्साह है। सेना के वाजे, कोलाहल आदि उद्दीपन हैं। पर-विभव आलम्बन है। अंगस्फुरण तथा नेत्रों की लालिमा अनुभाव हैं। गर्व, असूया और उग्रतादि संचारी हैं। इसके देवता चन्द्र हैं तथा वर्ण सुवर्ण है। युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर आदि इसके अनेकों भेद हैं।

"सिवि दधीचि बलि जो कछु भाषा।
तन धन तजेउ वचन प्रन राखा ॥" धर्मवीर

सूरदास :—

गोकुल सबै गोपाल-उपासी।
जोग-अंग साधत जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी ॥
यद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहत चरनन रसरासी।
अपनी सीतलताहि न छाँडत यद्यपि है ससि-राहु गरासी ॥
का अपराध जोग लिखी पठवत प्रेमभजन तजि करत उदासी।
सूरदास ऐसी को बिरहिन माँगति मुक्ति तजे गुनरासी ॥

नन्ददास :—

कौन ब्रह्म की जोति ? ग्यान कासौं कहो ऊधो।
हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधो ॥
नैन, बैन, स्रुति, नासिका, मोहन रूप लखाय।
सुधि-बुद्धि सब मुरली हरी प्रेम ठगौरी लाय ॥
सखा सुन स्याम के।

(६) भयानक रस—भय की स्थिरता को भयानक रस कहते हैं। भयंकर दृश्य विभाव हैं और कम्प अनुभाव हैं। मोहादि संचारी हैं। देवता काल हैं और वर्ण कृष्ण अर्थात् काला है :—

"डरपे गीध वचन सुनि काना।"

सूरदास :—

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें ।
तब ए लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजें ।।
वृथा वहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलें, अलि गुंजें ।
पवन पानि घनसार संजीवनि दधिसुत किरन भानु भई भुंजें ।।
ए ऊधो कहियो माधव सौं विरह कदन करि मारत लुंजें ।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन ज्यौं गुंजें ।।

नन्ददास :—

कोउ कहै—इन परसुराम ह्वै माता मारी ।
फरसा काँधे धरी भूमि छत्रिन संघारी ।।
सोनित कुंड भराय के पोषे अपने मित्र ।
इनके निर्दय रूप में नाहिन कछू विचित्र ।।
बिलग कह मानिये ।

(७) बीभत्स रस—ग्लानि की स्थिरता को बीभत्स रस कहते हैं। पींव, मेद, मज्जा, रक्तादिकों की दुर्गन्धि विभाव हैं। तनकंप, रोमांच आदि अनुभाव हैं। मोह, मूर्छा संचारी हैं। देवता महाकाल हैं और वर्ण नीला है—"मर्जहिं भूत पिशाच बैताला ।"

सूरदास :—

ऊधो यहै अचंभो बाढ़ ।
आप कहाँ व्रजराज मनोहर, कहाँ कूबरी राढ़ ।।
जिहिं छन करत कलोल संगरति, गिरिधर अपनी चाढ़ ।
काटत हैं परजंक ताहि छिन, कै धौं खोदत खाढ़ ।।
किधौं सदा विपरीत रचत हैं, गहि गहि आसन गाढ़ ।
सूर सयान भये हरि बाँधत, माँस खाइ, गल हाढ़ ।।

नन्ददास :—

कोउ कहै-री ब्रह्म दोष सिसुपाल नरेसै ।
ब्याह करन कों गयौ नृपति भीषम के देसे ।।
दल बल जोरि बरात कौं ठाढ़े हैं छबि बाढ़ि ।
इन छल करि दुलही हरी छुधित ग्रास मुख काढ़ि ।।
आपने स्वराथी ।

(८) अद्‌भुत रस—आश्चर्य की पूर्ण स्थिरता को अद्‌भुत रस कहते हैं। असंभावित वस्तु, चरित्र तथा वार्ता इसके आलंबन हैं। गुणों की विचित्रता अथवा

महिमा उद्दीपन हैं। वाक्यों की विचलता, कंपन तथा रोम उठना अनुभाव हैं। वितर्क तथा संदेहादि संचारी हैं। देवता ब्रह्मा हैं तथा वर्ण पीला है :—

"दिखरायो मातहिं निज अद्भुत रूप अखण्ड।
रोम-रोम प्रति राजहीं कोटि-कोटि ब्रह्मण्ड॥"

सूरदास :—

वैद मिल्यो कुबिजा कौं नीको।
कबहूँ छुवत न पानि पानि सौं, उपकारी नित ही कौ॥
चल्यो जु चलन नगर नारिन में, रोग न रह्यो कहीं कौ।
बनी तिहारी उनकी ऊधौ, आयौ जस को टीको॥
रंग पर रंग लग्यौ रे मधुकर, मधुप भयौ जु तहीं कौ।
सूरदास प्रभु समुझि न देखो, मँगनी चढ़ो चही कौ॥

नन्ददास :—

कोउ कहै—जे परम धर्म स्त्रीजित पूरे।
लच्छ लच्छ संधान धरे आयुध के रूरे॥
सीता जू के कहे तें सूपनखा पै कोपि।
छेदी अंग, बिरूप कै, लोगन लज्जा लोपि॥
कहा ताकी कथा।

(९) शांतरस—निर्वेद अर्थात् वैराग्य की स्थिरता को शान्तरस कहते हैं। सत्संगति और गुरु इसके आलंबन हैं। तपोवन तथा मृतक आदि उद्दीपन हैं। रोमांच अनुभाव हैं। घृति और मति आदि संचारी हैं। देवता नारायण हैं और वर्ण श्वेत है—

"मानुष हौं तौ वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गोप गुवारन।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं वहि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥"

सूरदास :—

उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो! तरछे ह्वै जु अड़े॥
जदपि अहीर जसोदानन्दन तदपि न जात छँड़े।
वहाँ बने जदुबंस महाकुल हमहिं न लगत बड़े॥
को वसुदेव, देवकी है को, ना जानैं औ बूझैं।
सूर स्यामसुन्दर बिनु देखैं, और न कोऊ सूझैं॥

नन्ददास :—

जो ऐसे मरजाद मेंटि मोहन को ध्यावें।
काहे न परमानन्द प्रेम पद पी को पावें॥
ग्यान जोग सव कर्म तें प्रेम परे है साँच।
हौं यहि पटतर देत हौं हीरा आगें काँच॥
बिषमता बुद्धि की॥

इस प्रकार भ्रमर-गीत में नवों रसों का अच्छा सम्मिलन दृष्टिगोचर होता है।

भ्रमर-गीत में प्रधान रस कौन है ?

जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है रसों की संख्या नौ अथवा ग्यारह मानी जाती है। वस्तुतः भक्ति रस कोई पृथक रस नहीं है, उसका समावेश तो शान्तरस में ही हो जाता है। इसी प्रकार वात्सल्य रस भी शृंगार के अन्तर्गत आ जाता है। फिर भी, इस अनुच्छेद में हम ग्यारहों रसों को ध्यान में रखकर विवेचन करना उचित समझते हैं।

हास्यरस का स्थायी भाव हास होता है। व्यंग्योक्तियाँ अथवा कटूक्तियाँ भी हास्य की अवतारणा में सहायक सिद्ध होती हैं। परन्तु वे विशुद्ध हास्य उत्पन्न करने में असमर्थ होती हैं। कहीं-कहीं अनूठी उक्तियों से हास्य की सृष्टि अवश्य देखने में आती है परन्तु सम्पूर्ण काव्य हास्यरस-प्रधान नहीं है। अल्पांश में ही हास्य के दर्शन होते हैं।

करुणा रस का स्थायी भाव शोक है। गोपियों की जिस वेदना का चित्रण भ्रमर-गीत में है, वह शोक का स्वरूप नहीं माना जा सकता है। मरण अथवा प्रिय की अपार हानि इसका लक्षण है। इसके अतिरिक्त चिर-प्रवास भी करुण रस के अन्तर्गत आ सकता है। गोपियों की कसक में विरह की प्रधानता है, आत्मनिवेदन है। इस हेतु समस्त काव्य में करुणा ही प्रधान नहीं है। तर्कशीला गोपियों के उपालंभ केवल करुणा-पूरित ही नहीं हैं, उनमें दाहकता और तर्क-बुद्धि का समन्वय है। फिर भी, करुणारस का प्राबल्य मानना युक्तियुक्त तथा उचित माना जा सकता है।

रौद्ररस का स्थायी क्रोध है। रिपु इसका आलंबन होता है। गोपियों का शत्रु तो कोई है ही नहीं। जहाँ तक कुब्जा का प्रश्न है वे उसके प्रति ईर्ष्या की भावना तो रखती हैं, परन्तु गोपियाँ उसे शत्रु नहीं मानती हैं। दो-एक पद इस रस से सम्बद्ध हैं भी, परन्तु उनकी गणना नहीं के बराबर होने से काव्य में रौद्ररस की प्रधानता नहीं है।

वीररस का स्थायी भाव उत्साह है। गोपियों में श्रीकृष्ण-दर्शन की जो अभिलाषा है, उसे उत्साह की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती है, क्योंकि उत्साह के वशवर्ती होकर अंगों का स्फुरण स्वाभाविक है, तमक, चमक और दमक तीनों ही आवश्यक हैं। यदि वीररस ही प्रधान होता तो गोपियाँ सबला दिखाई पड़तीं परन्तु वे नितान्त अबला हैं, यहाँ तक कि 'बरसाऊ बदरा' भी उनको भय-त्रस्त कर देते हैं और उनसे त्राण पाने के हेतु भी उन्हें श्रीकृष्ण की आवश्यकता है। गोपियों के द्वारा कहे गये कुछ शब्द उनको धर्मवीर सिद्ध कर सकते हैं परन्तु काव्य में वीररस प्रधान नहीं है।

भयानक रस का स्थायी भाव भय है। गोपियों को यदि भय है तो उसमें सात्विकता है। वह कँपकँपाने वाला भय नहीं है। रोमांच कराने वाला डर नहीं है। दो-एक पदों में उसकी व्यंजना है। समग्र काव्य इस रस से वंचित है।

बीभत्स रस का स्थायी भाव ग्लानि है। गोपियों में ग्लानि की भावना तो कहीं भी नहीं देखी जाती है। ऐसा वर्णन भी भ्रमर-गीत में कहीं नहीं आया है। बड़ी कठिनता से एक-दो पंक्ति दृष्टिगोचर भी हो जावें तो कोई लाभ नहीं है। सम्पूर्ण काव्य इस रस से रिक्त है।

अद्‌भुत रस का स्थायी भाव आश्चर्य है। कोई ऐसी बात हो, जिसे देख सुनकर व्यक्ति आश्चर्य-चकित हो जाय। गोपियों ने श्रीकृष्ण के कतिपय अलौकिक चरित्रों की चर्चा अवश्य की है, परन्तु ऐसे पद भी गिने-चुने हैं। अतएव काव्य में अद्‌भुत मुख्य नहीं है।

शान्तरस का स्थायी भाव निर्वेद अर्थात् वैराग्य है। यदि गोपियों के हृदय में विराग होता तो भ्रमर-गीत का सृजन ही संभव नहीं था। अनुरागमयी गोपियों के स्नेह-शील भावों का चित्रण करके ही तो सूरदास और नंददास अमर हो गये हैं। उद्धव अवश्य विरागी चित्रित किये गये हैं परन्तु अन्त में उनका निर्वेद भी सात्विक स्वेद में खेद प्रकट करता हुआ बह जाता है और वे स्वयं बावली गोपियों के गुणगान करते हुए निर्गुण मतवाद के अभिमान का विसर्जन कर देते हैं। इसलिए भ्रमर-गीत में शान्तरस की प्रधानता भी नहीं है।

भक्तिरस का स्थायी भाव प्रेम माना जाता है। यह भक्ति भी नौ प्रकार की मानी गई है।[१] गोपियों की रागात्मिका वृत्ति इस नवधा भक्ति की ओर उन्मुख दिखाई देती है, परन्तु ऐसा नहीं है कि इस भक्ति के अतिरिक्त उनकी प्रगति किसी अन्य दिशा में नहीं है। वे तर्क-वितर्क के द्वारा अपने मत का मंडन भी करती हैं। ईर्ष्या से पूरित कुब्जा को भी बुरा-भला कहती हैं और श्रीकृष्ण को भी शेष नहीं छोड़ती हैं। गोपियों में श्रीकृष्ण की भक्ति है, अवश्य है; परन्तु उसमें विरह की वेदना का प्राधान्य होने से

१. संतों का संग, भगवत्कथा प्रसंग में रति, गुरुपद-पंकज-सेवा, मानरहित भक्ति, गुण-गान, मंत्र-जाप, भजन, कर्मशीलता, श्याममय विश्व-दर्शन, यथा लाभ संतोष, छलहीनता अर्थात् सरल हृदय से भगवान् का विश्वास। रामायण ३५। अरण्यकाण्ड

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं, पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

—भागवत स्कंध ७ अ० ५ श्लोक २३,

'यथा लाभ सन्तोष' के दर्शन नहीं हैं। अतएव भ्रमर-गीत में भक्ति रस 'सिरमौर' नहीं हैं।

वात्सल्य रस का स्थायी रति ही मानना चाहिये । इसे हम राग, स्नेह या चाव भी कह सकते हैं। इसका आलंबन बालक ही होता है। भ्रमर-गीत के श्रीकृष्ण बाल कृष्ण नहीं है। वे अब किशोर हो चुके हैं। उनकी बाल-लीला से सम्बद्ध कुछ पद अवश्य उपलब्ध हैं परन्तु भ्रमर-गीत में नितान्त बाल्यकाल की चर्चा नहीं है। इस हेतु इस काव्य को वात्सल्य प्रधान नहीं कहा जा सकता है।

शृंगार का स्थायी भाव रति है। इसके दो भेद है, संयोग शृंगार और वियोग शृंगार। भ्रमर-गीत में संयोग शृङ्गार का नितान्त अभाव है। जहाँ तक वियोग अर्थात् विप्रलंभ शृङ्गार का सम्बन्ध है, उसकी पूरी अवतारणा की गई है। विरह की एकादश अवस्थाएं भी भ्रमर-गीत में उपलब्ध हैं, जिनका दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

गोपियों ने उपालंभों के रूप में विरह-निवेदन किया है। श्रीकृष्ण के प्रति उनके हृदय में निश्छल प्रेम है। प्रिय-प्रवास के कारण उनके हृदय में जो पीड़ा है, वेदना है, उसका अत्यन्त मार्मिक चित्रण भ्रमर-गीत में किया गया है, सूर ने विस्तार के साथ— तो, नंददास ने गागर में सागर को भर कर।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भ्रमरगीत में शृंगार रसान्तर्गत विप्रलंभ-शृगार-रस ही प्रधान है, अन्य रसों की अवस्थिति गौण है।

कवि प्रसिद्धि और भ्रमर

संस्कृत और हिन्दी दोनों ही भाषाओं के साहित्यिक क्षेत्रों में भ्रमर का उपयोग-प्रयोग हुआ है। अधिकांशत: भ्रमर को विलासी, अविश्वासी तथा स्वार्थी ही कहा गया है।

कवि प्रसिद्धि के अनुसार भ्रमर में सहज-सात्विकता (Sincerity) नहीं होती है। वह तो प्रफुल्ल-कलिका और मधुर-मकरंद का ही मित्र होता है। यह भी मान्यता है कि स्वार्थ सम्पूर्ण होते ही उसकी गति में 'परिवर्तन हो जाता है।

भ्रमर को लक्षण-ग्रन्थों में नायक का प्रतीक माना गया है:—

"सोनजूही सेवती निवारी सों विराजी भये,
राजी भये निरखि गुलामी मुख तेरी है।
फूली फुलवारी बीच राजै चारु चन्द्रिका सी
सघन निकुंज की अँधेरी में उजेरी है।
सहज सुबास छवि-पानिप के पुंज भरे
रावराना सुकवि हजारन में हेरी है।
मान सिख मेरी ये री मालती न मान करु
तेरे मकरन्द पै मलिन्द देत फेरी है॥"

भ्रमर-गुंजारण को मदन अर्थात् कामदेव का मोहन-मंत्र भी माना गया है और भ्रमर की गुन-गुन उसी मंत्र के शब्द बताये गये हैं:—

"मौर वारे मंजुल रसालन पै धीर धरि
भीर भरि भौंरन के गुंज गुंजरत हैं।
मदनगुरू के मनौं चेला चहुँ ओरन तें
मान के उचाटन के मंत्र उचरत हैं।"

भ्रमर के वर्ण की उपमा, कवियों ने नेत्रों, केशों आदि से भी दी है। भौंरे की श्यामता में जो आकर्षण है, वह कवि के लिए अवर्णनीय ही रही है। कपोल पर जो श्याम-तिल है, वह मानों कमल-दल पर मतवाला भ्रमर-शिशु है, सोता हुआ नहीं वरन् मधु-मस्त:—

"रूप की रासि मैं कै रसराज को अंकुर आनि कढ़्यो शुभ होना।
कै शशि ने तम ग्रास कियो तिहिं को रह्यो शेष दिखात सो कोना॥

प्यारी के गोल कपोलन पै द्विजराजि रह्यो तिल श्याम सलोना।
कै मधुपान पर्‌यो अलमस्त किधौं अरविन्द मलिन्द को छौना ।।"

नेत्रों के विषय में तो भ्रमर की उपमा अनेकों प्रकार से दी गई है। कहीं-कहीं तो उसमें अनूठापन अत्यधिक है:—

"कैधों अनुराग कों लपेटि के सिंगार बैठो,
कैधों कौल पांखुरी में डोलत भँवर हैं ।।"

भ्रकुटियों को भौंरे के पंखों से समानता देकर विचित्र कल्पना का सृजन किया गया है :—

"भौंह दुहूँन को भाव सखी सुर की उर तें न टरें पल टारें।
भीजें मनौं मुख अम्बुज के रस भोंर सुखावत पंख पसारें ।।"

गोपियों ने श्रीकृष्ण और भ्रमर दोनों को समान मानकर ही भ्रमर को विश्वासघाती ठहराया है :—

कोउ कहै री ! मधुप भेस उनही को धार्‌यौ,
स्याम पीत गुंजार बैन किंकिन झनकार्‌यौ
वा पुर गोरस चोरि कै आयो फिरि यहि देस।
इनको जनि मानहु कोऊ कपटी इनको भेस ।।
चोरि जनि जाय कछु।

सूरदास जी की गोपियों ने भी ऐसा ही माना है :—

"मधुकर काके मीत भये।
द्यौस चारि करि प्रीति सगाई, रस लै अनत गये ।।
डहकत फिरत आपने स्वारथ, पाखंड अग्र दये ।।
चांड सरें पहिचानत नाहीं, प्रीतम करत नये ।।
सूरदास-प्रभु धूति धर्म ढिग, दुख के बीज बये ।।"

कमल और भ्रमर का स्नेह अत्यत प्रसिद्ध है। यह मान्यता है कि मकरन्दपायी भ्रमर रात्रि को कमल का सामीप्य लाभ करने की इच्छा से जलज-दल पर रह जाता है और सूर्यास्त के साथ ही साथ कमल सम्पुट लगा जाता है, परिणामस्वरूप दूसरे दिवस भ्रमर का शव जल पर तैरता दिखाई देता है। यह उसके सात्विक-स्नेह का उदाहरण है। आश्चर्य यह है कि कठिन-काष्ट के भेदन में निरत रहने वाला भ्रमर कमल की कोमल पंखुड़ियाँ काट कर बाहर कैसे नहीं आ पाता है ? कहा जाता है कि यह त्याग और मरण उसके प्रेम का प्रतीक है। वह प्रेमी को तनिक भी कष्ट देना उचित नहीं मानता।

इस प्रकार जहाँ एक ओर कमल के प्रति स्वार्थी और विश्वासघाती होने का

आरोप लगाया जाता है, वहाँ दूसरी ओर उसे सच्चा-प्रेमी भी सिद्ध किया गया है।

परन्तु इस मान्यता में कितने अंशों तक सत्य वर्तमान है, यह नहीं कहा जा सकता है। हमने स्वयं सूर्यास्त के समय घंटों बैठकर इस परिपाटी का अनुसन्धान करने की चेष्टा की है कि भ्रमर कमल दल में बन्द होता है या नहीं। उषः काल से प्रभात की अरुणिमा तक विकसित-प्रफुलित होने वाले कमलों में से किसी में भी भ्रमर का शव हमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ। कवि-प्रसिद्धि में, सत्य का अंश हो, तो भले ही हो, परन्तु वास्तविकता के धरातल पर यह कल्पना ही जान पड़ी है। ठीक उसी प्रकार जैसे मराल के विषय में कहा जाता है कि वह दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है। वस्तुतः वह कमल-नाल से प्राप्त होने वाले लसदार-दूध के समान द्रव-पदार्थ को पी लेता है और पानी को छोड़ देता है। इसी कारण उसका नीर-क्षीर-विवेक कवि-प्रसिद्धि का विषय बन गया है। ऐसी ही कुछ बात भ्रमर और कमल के विषय में सम्भव हो सकती है।

तथ्य यह है कि हिन्दी साहित्य में भ्रमर का उपयोग अनेकों प्रकार से हुआ है। इसमें भी उसके दो रूपों को प्रधानता प्रदान की गई है—धृष्ट और शठ। अत्यन्त अपमानित होने पर भी लज्जाहीन, निश्शंक अपराध करने वाले पुरुष को धृष्ट नायक कहते हैं और छलपूर्वक अपराध छिपाने में चतुर तथा अपना काज साधने के निमित्त मधुरभाषी पुरुष को शठ-नायक कहते हैं। इन दोनों ही तथ्यों का आरोप भ्रमर पर किया गया है और किया जाता है। श्रीकृष्ण पर इसीलिए भ्रमरत्व का आरोप करते हुए भ्रमर-गीत को जन्म दिया गया है।

भ्रमर के विभिन्न नाम

एक ही वस्तु के विभिन्न नामकरण के हेतु हिन्दी साहित्य परमुखापेक्षी नहीं हैं। उसे संस्कृत भाषा का अपरिमित बल प्राप्त है। इसके अतिरिक्त वह स्वयं भी समृद्धिशाली है। भ्रमर के नामों का उल्लेख इस प्रकार पाया जाता है:—

१. मधुव्रत = मधु पीना ही जिसकी प्रतिज्ञा है।
२. मधुकर
३. मधुप
४. अलि
५. द्विरेफ
६. भृंग
७. सारंग
८. पटपद
९. भ्रमर
१०. अलिंद
११. चंचरीक
१२. पानी का भंवर
१३. भ्रमरावर्त
१४. जल अलि
१५. आवर्त्त
१६. भौंरा

भ्रमर का परिचय : उसका स्वभाव : प्रक्रियाएं

प्राणि-विज्ञान के अन्तर्गत भ्रमर (Lemellicornia) को गोवरीला (Coleoptera) वंश के अन्तर्गत माना जाता है। साधारण रूप से उसे भी Beetle ही कहते हैं, वस्तुतः भारतीय दृष्टिकोण से गोवरीला और भ्रमर में भेद होता है। परन्तु शारीरिक बनावट आदि में साम्य होने से भ्रमर को इसी वंश में रखा गया है। लगभग १५००० प्रकार के भ्रमर समस्त विश्व में पाये गये हैं, इनमें से लगभग १३०० भारतवर्ष में देखे गये हैं। यह स्वयंसिद्ध है कि हजारों वर्षों से प्राणि-विज्ञान की दिशा में भारत अप्रगतिशील रहा है, अतएव विभिन्न भ्रमरों का संग्रह या संचय नहीं हो सका है, परन्तु जो भी हुआ है उसकी संख्या तेरह सौ मानी गई है। हमारा विचार है कि अनुसंधान करने पर यह संख्या कहीं अधिक सिद्ध हो सकती हैं।

इस वंश के अन्तर्गत वर्णित भ्रमर प्रायः पृथ्वी के भीतर से खोद कर निकले हुए प्राणि (Fossil) के समान होता है। यह उसकी आरम्भिक अवस्था होती है। उत्पन्न होने के पश्चात् भी भ्रमर बहुत समय तक बिल में रहता है। यह बिल या तो काठ के लट्ठों में, पेड़ों में अथवा मिट्टी की दीवारों में बना लिये जाते हैं। शिशु अवस्था में इनके शरीर का घनत्व अधिक होता है और मांस-पेशी सुदृढ़ होती हैं परन्तु चंचलता अथवा आकर्षण बहुत होता है। किसी-किसी शाखा के भ्रमर अत्यन्त सुस्त तथा विश्रामशील होते हैं। कोई-कोई गहरे रंग वाले होते हैं और उनके सिर तथा पंजे और कमर आदि बड़े ही आकर्षक होते हैं।

आकार-प्रकार—भ्रमर को स्पर्शज्ञान कराने में उसके बाल बड़ी सहायता प्रदान करते हैं। इनको Antenna कहते हैं। यह बाल छोटे होते हैं और दस स्थानों पर संयुक्त होते हैं। प्रत्येक बाल में तीन गांठें सी होती हैं। भ्रमर की बनावट में उसके अवयव परस्पर संयुक्त होते हैं और शरीर के भाग से संबद्ध होते हैं। यह निर्माण ऐसा होता है कि भ्रमर को बैठने में कष्ट नहीं हो पाता है। जब इन अवयवों को सिकोड़ कर भ्रमर बैठ जाता है तो इनकी अवस्था बंद पंखे के समान हो जाती है। तनिक सी हलचल होने पर यह समस्त अवयव पंखुड़ियों की भाँति बिखर जाते हैं और वायु के स्पर्श से फैल जाते हैं। भ्रमर की उड़ान में पतले बाल और अवयव सभी उसकी सहायता करते हैं। जब वह विश्राम करता है तो यह सब संकुचित हो जाते हैं। साधारण प्राणियों से कहीं अधिक चेतनात्मक-वृत्ति भ्रमर की होती है। यह भी

कहा जाता है कि स्पर्शज्ञान कराने वाले कोमल तंतुओं की सहायता से भ्रमर को सुगंधि का परिचय तत्काल हो जाता है तथा इसी तंतु अथवा केशों के द्वारा उसे सुनाई भी देता है। यह सम्भावना सत्य हो सकती है। परन्तु कण्ठ-स्वर का साम्य लगभग इस वंश के सभी प्राणियों में पाया जाता है। यह तंतु नर भ्रमर के शरीर में कुछ लम्बे तथा घने होते हैं और भ्रमरी के शरीर में पतले तथा भ्रमर की अपेक्षा कुछ कम स्थूल होते हैं। यही दोनों का भेद है। यह भी देखा गया है कि भ्रमरी विश्रामशीला होती है और भ्रमर द्वारा आकर्षित किये जाने पर द्रुतगति से उसकी ओर धावित होती है। कतिपय भ्रमरियों के पंख नहीं होते हैं और वे पृथ्वी में बिल बना कर रहती हैं तथा भ्रमरों को आकर्षित करती हैं। ऐसी भ्रमरियाँ अत्यन्त साधारण तथा अनाकर्षक स्वरूप वाली होती हैं परन्तु भ्रमर सुन्दर तथा आकर्षक रूप वाले होते हैं। ऐसा कहा जाता है कि भ्रमर-भ्रमरी के पारस्परिक आकर्षण का कारण एक प्रकार की सुगंधि होती है।[1] यह सुगंधि दूध के रंग की होती है।[2]

भ्रमर का सिर वक्षस्थल (Thorax) में घुमा हुआ होता है, इसीलिए उसके नेत्र भी विवर (Prothoracic cavity) में छिपे रहते हैं। कुछ भ्रमर ऐसे भी होते हैं जो अपने सिर आदि को पेट के नीचे करके गेंद के समान गोलमोल हो जाते हैं। इस गोलाई में वे छिप जाते हैं।

सिर का अग्रभाग······(Clypeus) कहलाता है जो कभी-कभी विचित्र ढंग तथा आकार का दिखाई देता है। नेत्र के आस-पास का भाग जो····(Canthus) कहलाता है, अपना स्थान विशेष रखता है।

मुख की बनावट विभिन्न भ्रमरों में पृथक-पृथक होती है। यह उनके खाद्य-पदार्थों पर निर्भर होती है। कुछ भ्रमर काटने में असमर्थ होते हैं। कुछ भ्रमरों के दाँत होते हैं, परन्तु इनकी संख्या अत्यन्त अल्प होती है। कुछ भ्रमरों के मुखाग्र में एक लम्बी नली-सी होती है, जिसे चुभाकर वे रस-पान कर लेते हैं।

लगभग सभी भ्रमर मुक्त-गति से उड़ने की शक्ति-समन्वित होते हैं। पंखहीन भ्रमरों की श्रेणी में अधिकांश मादाएँ ही देखी गई हैं।

भ्रमर के पैरों की बनावट में भी विभिन्नता होती है।...(Tarsi) में पाँच जोड़ होते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें चार या तीन ही जोड़ होते हैं। सामने का भाग (Tibiae) खाद्य प्राप्त करने में परम सहायक होता है। इनके पंजे

---

1. An incident recorded by M. Persis in Petites Nouvelles Entoniotogiques, 1874, p. 383.

2. M. Reveliere happened to observe in Corsica, the fauna of British India, Coleoptera, Vol I, 1910, p 3.

साधारण होते हैं और समान स्वरूप वाले होते हैं परन्तु उनमें पकड़ने की शक्ति पर्याप्त होती है, चुभने की शक्ति कम रहती है। उड़ते समय यह पंजे ढीले हो जाते हैं अथवा कभी-कभी शरीर में सिकोड़ कर छिपा लिये जाते हैं। अग्रभाग (Tibiae) अधिकांश में खोदने के कार्य में प्रयुक्त किया जाता है। इसके अग्रभाग में कुछ दाँत भी होते हैं। इसके अग्रभाग से रीढ़ की पतली हड्डी जुड़ी रहती है जो अंत तक जाती है। जांघ (Femora) में कुछ विविधता होती है। परन्तु भ्रमर में कुछ अधिक शक्तिवान होती है। कलगी (coxae) प्रायः लम्बी होती हैं।

जो दिखाई दे सकते हैं ऐसे छह उदर सम्बन्धी वृत्त खण्ड (Ventral Segments) होते हैं।

यह भी कहा जाता है कि भ्रमर के मस्तिष्क भी होता है। भ्रमर की आन्तरिक बनावट का विवरण फ्रांसीसी भाषा में विस्तार से दिया गया है।[1] इस विषय में प्रोफेसर कोल्बे ने भी प्रशंसनीय प्रयत्न किया है।[2] यह पुस्तक जर्मन भाषा में है।

अंडज आकार—भ्रमरों के अंडों में विविधता नहीं होती है तथा वे सरलता से पहचाने जा सकते हैं। बाहर आने पर उसका शरीर लम्बा होता है तथा टेढ़ा-मेढ़ा होता है, अंग्रेजी के अक्षर C की भांति उसका स्वरूप होता है। पैर परिपक्वावस्था में होते हैं और टेढ़ापन लिये हुए होते हैं। बचपन में भ्रमर अपने पैरों के स्थान पर पीठ को अधिक प्रयोग में लाता है। वह पीठ के बल ही बैठता है। वह बिल या काठ के खोल में निश्चेष्ट होकर पड़ा रहता है। पालक भ्रमर बालक भ्रमर के हेतु खाद्य-सामग्री एकत्रित करके उसके समीप उपस्थित कर देता है। बालक भ्रमर पीठ की शक्ति से घिसटता है और समान धरातल पर रख देने से उलट जाता है। सिर बड़ा होता है, बहुत कड़ा होता है और कुछ भ्रमरों की पीठ पर कुब्ब भी देखा गया है। तीनों धड़ सम्बन्धी खण्ड (thorocic segments) छोटे होते हैं, ताकि सभी पैरों को संकुचित करके सिर के पास लाया जा सके। स्वाभाविक आवरण (Integument) शक्तिवान होता है। नेत्र कमजोर होते हैं परन्तु स्पर्श ज्ञान कराने वाले केश मजबूत होते हैं। जबड़ा (Maxillae) मांसल होता है। साधारणतया उसमें नुकीले दांत होते हैं। ओष्ठ (Labium) छोटा और कोमल होता है और दो जोड़ों वाली धड़कन (Palpi)

---

1. "Considerations generales sur l' Anatomie Comparative des Animaxx articules." elaluoraltely illustrated by Monograph of straus Durckhilm published in 8128.

2. Investigations have been collcted by prot. Kalbe in his "Einfiihrung in die Kenntniss der Insecten," 1897.

से सम्बद्ध होता है। पीठ का भाग रीढ़ की पतली हड्डी से जुड़ा रहता है। पैरों में चार जोड़ होते हैं जो एक लम्बमान संधि योग (a long basal joint) कलगी (the coxa) तथा लघु चरणों (a short trochanter) जंघा (the femur) तथा अग्रभाग (tibio tarsus) कहे जाते हैं। इनका सचित्र वर्णन जर्मन के कलाकार श्री शियोद ने किया है।[1]

श्रवणेन्द्रिय—इस वंश के लगभग सभी प्राणियों की श्रवणेन्द्रियाँ समान होती हैं। यह दो भागों में विभाजित होती हैं।[2] ऐसा कहा जाता है कि पंखों के आस-पास कुछ ऐसा स्थान होता है, जहाँ से ध्वनि शीघ्रता से सुनाई पड़ जाती है। इन छेदों से टकराकर ध्वनि एक खरखराहट उत्पन्न करती है और यदि कीट-पतंग अत्यन्त समीप हो तो मानव भी उस टकराहट को सुन सकता है।

सन्तानोत्पत्ति—प्रायः भ्रमरी का आकार प्रकार भ्रमर से कुछ छोटा होता है और उसकी शारीरिक बनावट प्रकृतिगत इस प्रकार की होती है कि वह गर्भ धारण कर सके। इसलिए दोनों में यौन-संबन्धी विभिन्नता होना स्वाभाविक है।

भोजन तथा प्रक्रियाएँ—बालक भ्रमर अधिकांश में निर्जीव शाक-पात पर रहते हैं और जब वे किशोरावस्था को प्राप्त कर लेते हैं तो रस-पदार्थों अथवा रससिंचित पौधों से अपना भोजन प्राप्त करते हैं। भ्रमर के अंडे गोलाकार अथवा तनिक दीर्घवृत्ताकार (Elliptical in Shape) होते हैं। इनका अन्तर्भाग कुछ पीले रंग का होता है। यह अंडे प्रायः धरती के भीतर रहते हैं। अंडों की संख्या अधिक नहीं होती है। कोई-कोई भ्रमरी तो छह अंडे ही देती है और कभी-कभी दो-दो तीन-तीन वर्षों तक अडे नहीं दिये जाते हैं। धरती में बिल खोदकर भ्रमरी अपने अण्डों को प्रश्रय प्रदान करती है। शिशु भ्रमर के पालन-पोषण में माता-पिता दोनों ही सहयोग प्रदान करते हैं। प्राणियों में प्रायः पत्नीव्रत या पतिव्रत नामक कोई वस्तु नहीं पाई जाती, फिर भी भ्रमर अपनी भ्रमरी के साथ अर्द्धांगिभाव से रहता बसता है।[3]

---

1. By Shiodte in Natur historisk Tidsskrift (3) ix—1874—Am Soc. Linn. delyon, Vol. xxii, by Perris—1875.

2. The Transations of Eentomological Society of London 1904, p. 709.

3. The Fauna of British India including ceylone and Burma, Coleoptera, Lamellicarnia, cetoniinae and Dynastinal, by G. J. Arrow, July 1910, p. 1—20

अण्डों में नष्ट हो सकने की सम्भावना कम रहती है। भारतीय भ्रमर तो अपने अण्डों को ·····(Heliocopris) तथा······(Catharsius) नामक पदार्थों से लपेट देते हैं परन्तु उस आवरण में वे वायु प्रवेश के अर्थ छोटे-छोटे छिद्र भी बना देते हैं।

लगभग सभी प्रकार के भ्रमरों का जीवन समान होता है। शीत या उष्ण देशों में रहने पर भी उनके दैनिक कार्यक्रम में या उनके जीवन-यापन में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। ऐसा डा० ओहोस का मत है। वे प्राय: सूखी लकड़ी को खाते हैं और ऐसे ही पेड़ों की डालियों में पाये जाते हैं। भ्रमरी अपने शिकार को पकड़ कर विल में ले जाती है और अपनी नुकीली, सुई के समान पतली नोक से उसे छेदकर मार डालती है।[1]

विभिन्न देशों में पाये जाने वाले भ्रमरों का विस्तृत विवरण और विभाजन लगभग बीस-वंशों में किया गया है।[2] इनके जन्म लेने, सुनने आदि का विस्तृत विवरण भी प्राप्य है, जो हमने संक्षेप में ऊपर दिया है।[3]

भ्रमर—(आगरा प्रान्त में)

आगरा के आस-पास जो भ्रमर पाया जाता है, उसी से मिलते-जुलते भ्रमर देहरादून, बम्बई, खानदेश, वेलगाम, कनारा, बंगाल तथा आसाम की जैन्तिया पहाड़ियों में भी पाये जाते हैं। इस भ्रमर का शव पेरिस के अजायबघर (अद्भुतालय) में संगृहीत है।

इसे अंग्रेजी भाषा में 'एनोमाला पोलीटा' (Anomala Polita) कहते हैं। इसका वर्णन लगभग उसी प्रकार से दिया गया है जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं।

अंग्रेजी में भ्रमर को Coleoptera के अन्तर्गत रखा गया है। वंशानुक्रम से वह Lamellicornia का वशवद कहा जाता है तथा उसके कुटुम्ब का नाम Scarabaeidae है और उप-कुल का नाम Rutelinae है।[4]

1, J. Fabre, Souvenirs Entomologiques vol. III

2. Field Book Insects by Frank E. Luty 1918, p. २७१ 364.—London.

3. The world of Insects by Carl D. Duncan Ph. D and Gayle pickwell, 1939. London.

4. The Fauna of British, India including ceylone and Burma, Coleoptera, Lamellicornia, Part II, by G. J. Arrow, May 1917, p. 146—47.

वस्तुतः जिसके दोनों पंख परस्पर संयुक्त (Sheathwings) हो जाते हैं उसे "कोलियोपटेरा" की उपाधि से सम्वोत किया जाता है। यह पख उड़ते समय तो खुल जाते हैं परन्तु जब भ्रमर विश्राम करता है तो इस प्रकार जुड़ जाते हैं कि उनमें प्रथकता का आभास भी नहीं हो पाता है।

कुछ अन्वेषणकर्ताओं का यह मत भी है कि भ्रमर को जो कुछ भी घास-पत्ते आदिक प्राप्त हो जाते हैं, वह उन्हीं से अपना जीवन-यापन कर लेता है।[1]

जिन विद्वानों ने इसका नाम Rutelides बताया है, वे भी यह मानते हैं कि भ्रमरों में विभिन्नता होती है और इनका जीवन तीन रूपों में विकसित होता है आरम्भिक अर्थात् अण्डे के भीतर, शिशुअवस्था और युवावस्था।[2] भ्रमर कभी बूढ़ा भी होता है इस पर किसी ने कोई प्रकाश नहीं डाला है। जैसा हमारा अध्ययन है, उसके आधार पर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि अपने आकार-प्रकार तथा बनावट के कारण भ्रमर में बुढ़ापे की कोई प्रतिक्रिया सम्भव नहीं है।

विस्तारभय से हमने इस दिशा में आवश्यक अंगों पर ही प्रकाश डालना उचित समझ कर सक्षेप में भ्रमर का वर्णन किया है।

---

1. Insects orders p. 246,

2. The Cambridge Natural History, Edited by Sir S. F. Harmer, Supdt of University Museum of Zoology and Sir A, F, Shipley Lecturer on Morphology of Invertebrates, Vol VI 1922, London. p. 184—85.

The Insect Book by Leland O. Howard Ph. 1901, Newyork.

आठवाँ अध्याय

नंददास : एक परिचय : जीवनी

भक्त-कवियों में अपना 'ठोर-ठिकाना' स्पष्ट न करने की साधारण प्रवृत्ति उपलब्ध होती है। इसका एकमात्र कारण यही जान पड़ता है कि वे अपने कवि-कर्तृत्व को प्रकाश में नहीं लाना चाहते थे अथवा आत्मप्रशंसा से दूर रहने की इतनी चेष्टा करते थे कि आत्म-कथा भी उसमें डूबकर रह जाती थी। सूरदास के समान ही नंददास जी के सम्बन्ध में भी साक्षियों का ही आश्रय लेना पड़ता है।

जन्म-स्थान—'भक्तमाल' में नंददास को रामपुर का निवासी बताया गया है। "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' में भी उनको पूर्व देश का ही निवासी कहा है। पाटन से प्राप्त हस्तलिखित 'अष्टछाप वार्ता' में भी उनका ग्राम रामपुर ही माना है। भक्तमाल की टीकाओं तथा 'भक्त-नामावली' में इस दिशा में कुछ भी प्राप्त नहीं है। कवि ने स्वयं अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। इन सब प्रमाणों से केवल इतना ही पता चलता है कि नंददास रामपुर के निवासी थे। यह रामपुर गोकुल-मथुरा से पूर्व की ओर स्थित माना गया है। इस दिशा में सोरों है, जिसके पास रामपुर है, जो एटा जिले के अन्तर्गत है। तुलसीदास जी के सोरों निवासी सिद्ध होने से अब यह भी माना जाने लगा है कि नंददास का रामपुर भी यही है।

जाति-कुल—'भक्तमाल' में लिखा है कि नंददास सुकुल थे। इसका तात्पर्य कुछ आलोचक उनके उच्चवंशीय होने से लगाते हैं। वस्तुतः तुलसीदास जी के समान ही नंददास का आस्पद शुक्ल था। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' में नंददास को सनौड़िया अर्थात् सनाढ्य ब्राह्मण बताया गया है। काँकरौली के विद्या-विभाग में संवत् १६६७ वि० की लिखी हुई "चौरासी वैष्णव की वार्ता" नामक जो पुस्तक है उसके साथ 'गुसांई जी के चार मुख्य सेवकन की वार्ता' भी संयुक्त हैं। इसमें भी नंददास को सनाढ्य ब्राह्मण माना है तथा तुलसीदास का भाई कहा गया है। 'मूल गोसांई चरित' में नंददास कान्यकुब्ज लिखे गये हैं। इस ग्रन्थ को अब प्रामाणिक नहीं माना जाता है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नंददास का जन्म शुक्ल आस्पद

वाले संनाढ्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनके माता-पिता के सम्बन्ध में कहीं भी-कुछ भी नहीं लिखा है। स्वयं कवि ने भी इस ओर कोई इंगित नहीं किया है।

जन्म तिथि—'साहित्य-लहरी' सूरदास जी की रचना है। इसका समय संवत् १६१७ वि० माना जाता है। कहा यह जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना सूरदास जी ने नंददास की विद्वत्ता के अभिमान को नष्ट करने के लिए की थी। एक पंक्ति है—"नन्द नन्दनदास हित साहित्य लहरी कीन्ह।" इसका तात्पर्य यही लिया जाता है रहा है कि नंददास के हेतु ही यह रचना हुई। इसलिए नंददास की शरणागति का समय सं० १६१७ वि० सिद्ध होता है। यदि अनुमान से नंददास जी की आयु उस समय २। वर्ष की भी मानली जाय तो उनका जन्म संवत् १५९० वि० माना जा सकता है। इतनी छोटी आयु के अनुमान का कारण है। शरणागति के पश्चात् नंददास की लौकिक वृत्ति उन्हें पुनः गृहस्थाश्रम की ओर ले गई और जब गोस्वामी विट्ठलनाथ जी स्थायी रूप से गोकुल में रहने लगे तब वे उनकी शरण में फिर आगये। यह घटना सम्वत् १६२४ वि० की है। '२५२ वैष्णवों की वार्ता' में नंददास का एक पद है:—"जयति रुक्मिणी नाथ पद्मावती प्राणपति बिप्रकुल छत्र आनंदधारी।" यह पद निश्चय ही सं० १६२४ के बाद का है क्योंकि गोस्वामी विट्ठलनाथ का विवाह पद्मावती से सम्वत् १६२३ में हुआ था। यदि प्रौढ़ावस्था में शरणागति ग्रहण की होती तो नंददास में लौकिकता के प्रति इतना आकर्षण नहीं होता। इसी मान्यता पर हमने उनको पचीस वर्ष का ही माना है। यह यौवन-काल जो बीस से तीस तक के मध्य में होता है नेत्रहीन वासनोन्मुख तथा अत्यन्त आकर्षणप्रिय होता है। मानव नंददास अवश्य ही इन्द्रिय-लिप्सा से प्रभावित हुए होंगे।

वैराग्य के बाद का जीवन—दूसरी बार शरण में आने के पश्चात् नंददास गोवर्द्धन का परित्याग नहीं कर सके। गोकुल और गोवर्द्धन दोनों स्थानों पर स्थित मन्दिरों में श्रीकृष्ण-दर्शन और सेवा उनका सात्विक जीवन बन गया। दैनिक-चर्या और उनका जीवन यही था कि वे भगवद्-चर्चा करते थे अथवा पद-रचना करके उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण के सामने गाते थे।

'दो सौ वैष्णवों की वार्ता' तथा 'अष्ट सखान की वार्ता' में यह भी उपलब्ध है कि बीरबल उनसे मिलने आये थे और सम्राट अकबर ने उनको आमन्त्रित किया था। नंददास अकबर की परिचारिका-सेविका से मिलने उसके डेरे पर गये तथा तुलसीदास जी ने उनको रामभक्त बनाने का प्रयत्न किया और उनसे भेंट करने को ब्रजधाम में पधारे।

इन घटनाओं का थोड़ा-सा विश्लेषण अप्रासंगिक नहीं होगा। तुलसीदास जी के द्वारा नंददास को रामभक्त बनाने का असफल प्रयत्न कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण ज्ञात पड़ता

है । ऐसा लगता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय के महत्त्व को ऊँचा उठाने के लिए इस कथा का सृजन किया गया है। तुलसीदास अपने भाई नंददास से भेंट करने ब्रज में आये, यह एक सत्य घटना है । जान पड़ता है, इसी भेंट के आधार पर यह किम्वदन्ती चल पड़ी है ।

अकबर ने जब मानसी गंगा पर अपना डेरा लगाया तब नंददास उनकी जिस परिचारिका से मिलने जाते थे उसका नाम 'रूप मंजरी' था । वार्ता में इस भेंट का विवरण दिया है कि नंददास अपने एक मित्र से मिलने जाया करते थे । यह प्रसिद्ध है कि सम्राट की यह सेविका परम वैष्णवी थी ।

इसी अवसर पर बीरबल भी आये थे और उनसे तथा नंददास जी से भेंट हुई थी । राजा बीरबल हिन्दू तथा धार्मिक व्यक्ति थे, अतएव नंददास का उनके पास जाना स्वाभाविक हो सकता है ।

जहाँ तक अकबर की भेंट का प्रश्न है, वह भी सँभव जान पड़ती है । अकबर सहृदय तथा सरस सम्राट था। भक्तों, सन्तों और महान् व्यक्तियों से भेंट करने में उसे बड़ी प्रसन्नता होती थी । वह ऐसे लोगों का समादर करता था । इसलिए अकबर के द्वारा नददास को आमंत्रित करना कोई आश्चर्य नहीं है ।

मरण-तिथि—"दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" में लिखा है कि नंददास की मृत्यु अकबर के सामने हुई थी। इतिहास साक्षी है कि अकबर का शरीरान्त संवत् १६६२ वि० में हुआ था । इस प्रकार नंददास का देहान्त इस समय से पूर्व हो हो जाना प्रमाणित होता है। वार्ता के अनुसार अकबर अपने साथ बीरबल को लेकर ब्रजधाम गये थे और बीरबल के द्वारा अपने आने की सूचना नंददास को दी थी । इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि नंददास की मृत्यु बीरबल के जीवन-काल में ही हुई थी । बीरबल का शरीरान्त सवत् १६४३ में हुआ, जब वे कश्मीर-विग्रह में गये हुये थे । अतएव नंददास के गोलोकवास का संवत् १६४३ से पूर्व होना चाहिये।

नंददास जी की मृत्यु का वर्णन जिस पुस्तक में दिया गया है, उसका नाम "गुसाईं जी के मुख्य सेवकन की वार्ता" है । इसके छठें प्रसंग में नंददास का वर्णन है। "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" में भी इसीसे मिलता-जुलता वर्णन है । इन पुस्तकों से यह स्पष्ट है कि रूपमंजरी और नन्ददास की मृत्यु कुछ ही थोड़े अन्तर से हुई । यह समाचार जब गो० विट्ठलनाथ जी को सुनाया गया तो उन्होंने नन्ददास की भूरि-भूरि प्रशंसा की । ऐसा कहा जाता है कि अकबर-नन्ददास भेंट के समय सम्राट ने नन्ददास से एक विचित्र प्रश्न किया जिसे सुनकर उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया । उसी समय रूपमन्जरी ने भी देह-त्याग कर दिया । गोस्वामी जी का देहावसान संवत् १६४२ में हुआ । अतएव नन्ददास का गोलोकवास सं० १६[illegible] में माना जा सकता है ।

अन्यान्य विवरण—श्री मीतल जी ने अपने ग्रन्थ में बताया है कि नन्ददास के पिता का नाम जीवाराम था, जो दो भाई थे। दूसरे बन्धु का नाम आत्माराम था, जो तुलसीदास जी के पिता थे।[1] वे नंददास से बड़े थे। इन दोनों ने सोरों में ही शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की। दोनों ही नृसिंह जी के शिष्य थे।

सोरों में नंददास तुलसीदासजी के निरीक्षण में रहते थे। उन्हीं के साथ नन्ददासजी ने काशी आदि स्थानों का भ्रमण किया था। एक बार मना करने पर भी नंददास द्वारिका चल दिये। मार्ग भूलकर वे सिंहनद जा पहुँचे। वहाँ एक खत्रानी के स्वरूप पर मोहित होकर उसके घर के चक्कर लगाने लगे। प्रतिदिन उस स्त्री का दर्शन आवश्यक हो गया। खत्रानी के घर वालों ने अपनी अप्रशंसा देखकर नन्ददास जी को दूर करने का अथक परिश्रम किया परन्तु सफलता नहीं मिली। अन्त में वे लोग यात्रा के हेतु ब्रज को चल दिये। नंददास उनके पीछे-पीछे गोकुल तक आ गये। खत्रानी के घरवालों ने अपनी कष्ट-कथा गो० विट्ठलनाथ जी से निवेदन की, तब गोस्वामी जी ने नन्ददास को बुलवाया। उनके उपदेश से नन्ददास का मोह दूर हो गया और वे पुष्टि-सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गये।[2] यह घटना संवत् १६०७ के लगभग बताई जाती है। तब उनकी आयु लगभग सत्रह वर्ष रही होगी।

साम्प्रदायिक जनश्रुति है कि सूरदास जी ने नन्ददास जी को गृहस्थाश्रम भोगने के लिए आदेश दिया था। नन्ददास ने सहमति प्रकट नहीं की, परन्तु सूरदास ने उनको समझाया कि अभी तुम्हारे हृदय में वैराग्य की दृढ़ता नहीं आई है, अतएव दाम्पत्य-सुख का उपभोग करके तब पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होना।

नन्ददास अपने ग्राम रामपुर वापस आये। उन्होने कमला नामक एक कन्या से विवाह किया। उससे जो पुत्र हुआ उसका नाम कृष्णदास रखा गया। रामपुर का नाम परिवर्तित करके श्यामपुर रख दिया गया। वहाँ एक तालाब भी बनवाया गया जिसका नाम श्याम-सर हुआ।

रचनाएँ—उनके द्वारा लिखित १५ ग्रन्थ बताये जाते हैं।

१. अनेकार्थ मंजरी या अनेकार्थ नाममाला

२. मान मंजरी (नाम मंजरी, नाममाला, नामचिन्तामणि माला)

३. रस मंजरी

४. रूप मंजरी

५. विरह मंजरी

---

१. "अष्ट छाप परिचय" पृष्ठ ३०६ संस्करण द्वितीय सं० २००६ वि०

२. "अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० गुप्त पृ० २५७

६. प्रेम बारह खड़ी
७. स्याम-सगाई
८. सुदामा चरित्र
९. रुक्मिणी-मंगल
१०. भँवर गीत
११. रास-पंचाध्यायी
१२. सिद्धान्त-पंचाध्यायी
१३. दशम स्कन्ध भाषा
१४. गोवर्धन लीला
१५. पद्यावली

विशेषताः—अष्टछाप में कवियों को जिस क्रम से रखा गया है, उसमें सूरदास सबसे पहले आते हैं तो नन्ददास अन्तिम कवि हैं। इस प्रकार जैसे किसी मन्त्र में सम्पुट लगाया जाता है तो उसका प्रथम और अन्तिम अक्षर एक ही होता है, वैसे ही सूरदास नन्ददास की स्थिति है। दोनों ही ब्रजभाषा काव्य के महा-कवि हैं।

नंददास का भंवर-गीत

नंददास के भँवर-गीत का आधार भी, सूरदास की भाँति, भागवत का दशम स्कन्ध ही है। भँवर-गीत को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले भाग में गोपी-उद्धव संवाद हैं। दूसरे भाग में, श्रीकृष्ण-विरह से व्यथित गोपियों का चित्रण है।

(१—२) भँवर-गीत का आरंभिक-पद उद्धव की आतुरता का परिचायक है। उद्धव जी एकदम उपदेश देते हुए दिखाई पड़ते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ज्ञानोपदेश उनके कंठ तक आगया है और वे उसे किसी न किसी प्रकार व्यक्त करना चाहते हैं:—

ऊधव को उपदेस सुनौ व्रज नागरी।

इसके पश्चात् ही वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि अभी तक समयाभाव के कारण वे नंदलाल का संदेश नहीं दे सके थे। अब वे इस कार्य से मुक्ति पाकर मधुपुरी लौट जाना चाहते हैं।

"कहन स्याम संदेस एक मैं तुम पै आयौ
कहन समै संकेत कहूँ अवसरि नहिं पायौ
सोचत ही मन मैं रह्यौ-कब पाऊँ इक ठाउँ
कहि संदेस नँदलाल कौ बहुरि मधुपुरी जाउँ
सुनौ व्रज नागरी।"

परन्तु समय का अभाव किस कारण से था इसका कोई स्पष्ट विवरण कवि ने नहीं दिया है। केवल यही बताया है कि संदेस कहने का अवसर नहीं मिला; अब अवसर मिला है तो शीघ्रता भी है।

(३) गोपियाँ श्यामसुन्दर का नाम सुन कर जड़तावस्था को प्राप्त हो जाती हैं। वाणी अवरुद्ध हो जाती है, नेत्रों में जल भर आता है।

(४) तनिक स्वस्थ होने पर गोपियाँ अर्घ्यासन प्रदान कर उद्धव को बिठाती हैं और उनकी परिक्रमा करती हैं।

(५) गोपियाँ श्याम और बलराम तथा उनके संगी-साथियों के विषय में कुशल-प्रश्न करती हैं।

(६) मोहन के स्वरूप का स्मरण हो आता है। वे मूर्छित हो जाती हैं। उद्धव शीतल जल के छींटों से उनको चेतनता प्राप्त कराते हैं।

(७—२८) उद्धव निर्गुण, निराकार ब्रह्म की उपासना का उपदेश प्रदान करते हैं। एक पद में उद्धव अपना तर्क उपस्थित करते हैं और दूसरे पद में गोपियाँ उसका उत्तर प्रस्तुत करती हैं। यह समस्त संवाद निर्गुण-सगुण अथवा योग और प्रेम के संघर्ष पर आधारित है। वे प्रेम-भक्ति और सगुण ब्रह्म की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करती हैं। उद्धव ज्ञान, योग और कर्म-मार्ग के साथ निर्गुण ब्रह्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। उद्धव ने कहा :—

"यह सब सगुन उपाधि, रूप निर्गुन है उनको,
निरविकार, निरलेप, लगत नहिं तीनों गुन को,
हाथ न पाँय न नासिका, नैन बैन नहि कान,
अच्युत ज्योति प्रकासहीं सकल विस्व को प्रान।
सुनो ब्रजनागरी ।।

गोपियों ने इसके उत्तर में कहा :—

जो मुख नाहिन हतो कहौ किन माखन खायो ?
पायन बिनु गोसंग कहो बन बन को धायो ?
आँखिन में अंजन दियौ गोवर्धन धरि हाथ,
नंद जसोदा पूत हैं कुँवर कान्ह ब्रजनाथ।
सखा सुन स्याम के ।।"

(२९) इसी बीच में नंदलाल का रूप नेत्रों में भर आता है। गोपियाँ व्याकुलता के कारण धैर्य-हीन हो जाती हैं और श्रीकृष्ण के प्रति उन्मुख हो उठती हैं।

(३०—४१) गोपियाँ श्रीकृष्ण को नाना प्रकार के उपालंभ देती हैं।

(४२) कवि उनके सात्विक प्रेम का वर्णन करता है।

(४३—४४) इन दोनों पदों में उद्धव के हृदयगत भावों का सुन्दर चित्रण है। वे सोचते हैं कि मैं किस प्रकार से गोपियों का प्रबोधन करूं।

(४५) इसी समय एक भ्रमर उड़ता हुआ आता है जो गोपियों के चरण-स्पर्श का अभिलाषी है।

(४६—५९) श्रीकृष्ण और भ्रमर की श्यामता की समानता को सामने रख कर गोपियाँ बड़े ही मार्मिक उलाहने देती हैं।

(६०) प्रेमातिरेक के कारण गोपियाँ उच्च स्वर से करुण-विलाप करने लगती हैं।

(६१—६८) इन पदों में उद्धव का मनोवैज्ञानिक चित्रण उपस्थित किया गया है। योग की अग्नि से पिघले हुए उद्धव प्रेम की चोट खा-खाकर कंचन से कुंदन बन जाते हैं। उनका निर्गुणाभिमान चूर-चूर हो जाता है। वे गोपियों को वंदनीय अभिनंदनीय

माननें लगते हैं। वे भी ऐसा ही प्रेम प्राप्त करना चाहते हैं जैसा गोपियों के सरल हृदय में विद्यमान है। किसी न किसी रूप में उद्धव ब्रज-निवास ही श्रेयकर मानते हैं।

(६९) ब्रज-वास की अभिलाषा से युक्त उद्धव मथुरा लौट आये हैं और गोपियों के गुण-गान कर रहे हैं।

(७०) क्षोभ और क्रोध से पूरित उद्धव ने श्रीकृष्ण को प्रणाम किया तथा गोपियों का पक्ष ग्रहण करते हुए मोहन को चेतावनी भी दी।

(७१—७२) उद्धव ने कहा, आप वृन्दावन में निवास कीजिये अन्यथा स्नेह-सूत्र भंग हो जायगा।

(७३—७४) श्रीकृष्ण गोपियों की प्रेम दशा का विवरण सुन कर व्याकुल हो जाते है। उनका रोम-रोम गोपी होजाता हैं। इस प्रकार वे उद्धव को यह भी दिखा देते हैं कि गोरी-कृष्ण अभिन्न हैं :—

"मो मैं उनमैं अंतरो, एको छिन भरि नाहिं,
ज्यौं देखो मो माँहि वै, त्यौं मैं उनही माँहि,
तरंगनि बारि ज्यौं।"

(७५) भंवर-गीत का गायक कवि नंददास इस लीला का कथन करके अपने आप को धन्य मानता हैं।

"भ्रमर-गीत" अथवा "भँवर-गीत" इन दोनों नामों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही शब्द भौंरें के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

———

"और सब गढ़िया, नंददास जड़िया"

साहित्य में कवि को स्रष्टा कहा जाता है। गढ़िया शब्द भी इसी भावना का प्रतीक है। शब्दों को गढ़ना और उनके द्वारा अपनी आन्तरिक प्रेरणा को प्रकट करना बड़े ही कौशल का काम है। कवि का यही कर्तृत्व सृजन कहलाता है। विभवशील कवि-जन अपने काव्य में प्रायः इसीलिये साधारणीकरण उपस्थित करने में समर्थ होते हैं कि उनका काव्य विश्व-जनीन भावना से अभिभूत होता हैं।

एक सुवर्णकार तो वह होता है जो आभूषण को बनाना-मात्र ही जानता है। वह उन कवियों की श्रेणी का प्रतिनिधित्व करता है जो अपने आश्रयदाता की प्रसन्नता के हेतु अथवा धन या यशोपार्जन के हेतु काव्य-कौशल का प्रदर्शन करता है। सुवर्णकारों में कुछ ऐसे कलाकार भी होते हैं जो आभूषणों में मणि-माणिक रत्नादिक को जड़ देते हैं। इस प्रयत्न से आभूषण की आभा कई गुना ज्योतित हो जाती है। ऐसे ही कलाकार जड़िया कहे जाते हैं। वे कवि लोग, जो अपने काव्य में चमत्कार-मात्र का आधार न लेकर भावना की भूमि पर इसका सात्विक-शृङ्गार करते हैं, 'स्वान्तः सुखाय' ही काव्य जिनका परमोद्देश्य होता है, काव्य-सरिता जिनके अन्तःकरण से निसृत होती है, जो लोभ-लालच-विहीन काव्य की सृष्टि करते हैं, वे ही कवि धन्य हैं।

नंददास जी ऐसे ही महाकवि थे, जो अपने काव्य में गढ़िया और जड़िया दोनों ही उपाधियों से विभूपित किये जा सकते हैं। इस दिशा में उनके समस्त साहित्य का अनुशीलन करने पर सहज रूप में इस उक्ति की यथार्थता सिद्ध हो सकती है। हमारे साथ सबसे अधिक कठिनाई यह है कि हमें इस दिशा में केवल 'भँवर-गीत' तक सीमित-परिमित रहना पड़ेगा। यद्यपि एक प्रकार से, यह हमारे कविवर नंददास के पक्ष में सबसे बड़ा लाभदायक उदाहरण प्रमाणित होगा कि उन्होंने केवल ७५ पदों में अपने जड़िया-पन को बड़े कौशल से सुरक्षित रखा है।

भँवरगीत का आधार निश्चय ही भागवत् का दशम स्कंध है; परन्तु वह भागवत का निष्केवल अनुवाद ही नहीं है। नंददास ने समस्त सामग्री को नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है और कितने ही अंगों का विकास भी स्वतन्त्र रूप से किया गया है। कथा को उपस्थित करने का ढंग अत्यन्त नाटकीय हैं। उनका खण्ड-काव्य साहित्यिक सौन्दर्य से परिपूर्ण होने के कारण सौष्ठव और माधुर्य्य से मंडित है।

भागवत के उद्धव स्वयं नहीं कहते कि मैं श्याम-सन्देश लेकर आया हूँ। गोपियाँ जानती हैं कि वे कृष्ण-दूत हैं। इसलिए भागवत में वह सामग्री अनुपस्थित है जो नंददास ने अपने भँवर-गीत में प्रस्तुत की हैं। यहाँ उद्धव श्रीकृष्ण-सन्देश की बात स्वयं कहते हैं। गोपियों की जड़तावस्था का चित्रण भी कवि की मौलिक योजना है।

भागवत् में भी गोपी-उद्धव-सम्वाद है; परन्तु नंददास के विवरण से भिन्न है। भागवत की गोपियाँ वाद-विवाद नहीं करती हैं, वे तो शान्ति से प्रियतम का सन्देश सुन कर अपने विरहाकुल हृदय को शान्त कर लेती हैं। नंददास की गोपियाँ तर्कशीला हैं। बराबर उत्तर और प्रत्युत्तर के द्वारा उद्धव निरुत्तर हो जाते हैं। यह भी कवि की मौलिक कल्पना है—भागवत से भिन्न; परन्तु अत्यन्त रमणीय और रोचक।

भागवत में भ्रमरागमन के पश्चात् केवल एक ही गोपी उसे उपालम्भ देती है। मानों वह समस्त गोपियों का प्रतिनिधित्व कर रही हो। यहाँ भी नंददास की कवि-प्रतिभा मुखर हो उठी है—उनके काव्य में कई गोपियाँ पृथक पृथक उपालम्भ प्रस्तुत करती हैं।

भागवत में गोपियों के स्नेह-सिक्त मानस का बड़ा ही सरस चित्रण है; परन्तु नंददास ने यहाँ भी अपनी मौलिकता से काम लिया है। उनका भ्रमर गोपियों के चरणों पर बैठना चाहता है। प्रकारान्तर से नंददास ने यह सूचित कर दिया कि भ्रमर की पराजय ही इस काव्य का अभिप्रेत है। जो व्यक्ति पराजित होता है, वही चरणों पर अवनत होता है। भ्रमर की चेष्टा में, उद्धव के पराजय की पूर्व-सूचना है।

"मनु मधुकर ऊधो भयो प्रथमहि प्रगट्यो आनि
मधुप को भेष धरि ।।"

भागवत में निर्गुण-सगुण के खण्डन-मण्डन का कोई प्रश्न ही नहीं है; परन्तु नंददास ने भँवरगीत में इस विषय में पर्याप्त अभिरुचि प्रदर्शित की है।

भागवत में, मथुरा लौटने पर उद्धव श्रीकृष्ण से केवल इतना ही कहते हैं कि उन्होंने ब्रजवासियों की प्रेममयी भक्ति का उद्रेक देखा। परन्तु नंददास के उद्धव लाल-पीले होकर श्रीकृष्ण पर फट पड़ते हैं और तत्काल ही वृन्दावन-निवास का परामर्श भी देते हैं। वे यह भी कहते हैं कि यदि ऐसा नहीं हुआ तो स्नेह का सूत्र टूट जायगा—यह एक चेतावनी (threat) है। इस दिशा में भी नंददास मौलिक प्रमाणित होते हैं। श्री-कृष्ण पर क्रोध करना और उद्धव के माया-जन्य मोह का भंग होना, दोनों ही बातें नंद-दास की मौलिकता तथा सूझ-बूझ के उदाहरण हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि तर्क-वितर्क में चोखापन होने से उनमें आकर्षण आ ही जाता है। व्यंग्य का चुटीला होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त वक्रोक्ति प्रिय लगती भी है क्योंकि उसका प्रभाव अस्थायी नहीं होता है। इसलिए हम नंददास जी के उन स्थलों का दिग्दर्शन कराना भी आवश्यक समझते हैं, जहां भावना ही प्रधान है।

भँवर-गीत में भावनात्मक-स्थलों की कमी नहीं है। काव्य की दृष्टि से यह स्थल माधुर्य्य से परिपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए भँवर-गीत के उत्तरार्ध में गोपियों की विरह-दशा का वर्णन है। केवल दो पंक्तियों में सैकड़ों पदों की पीड़ा अन्तर्निहित है:—

"उमगै जो कोउ सलिल सिन्धु लै तन की धारनि,
भीजत अंबुज नीर कंचुकी भूषने हारनि।"

साहित्य में, विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत, वियोग की एक दशा 'वियोग से संयोग' भी मानी जाती है। नन्ददास ने इस दशा का चित्रण बड़ी सफलता से किया है:—

"ऐसे मैं नंदलाल रूप नैननि के आगे।
आय गए छबि छाय वने पियरे उर बागे।।"

उद्धव ने निर्गुण मतवाद के समर्थन में जो भी कुछ कहा और जैसा कुछ भी कहा, उससे गोपियों की विरहाग्नि भड़क उठी थी। उस प्रेमातिरेक के परिणाम-स्वरूप निष्ठुर कृष्ण की मनोहर-मूर्ति नेत्रों के सामने उपस्थित हो गई। गोपियों को उद्धव की उपस्थिति का भान-ज्ञान भी नहीं रहा। चिरवियोग के पश्चात् जब प्रेमी से सम्मिलन होता है तो 'वाणी का काम नेत्रों का पानी' पूरा कर देता है। काल्पनिक-संयोग में गोपियों की दशा ऐसी ही हो गई:—

"ऊधव सौं मुख मोरि कै बैठि सकुचि कह बात।
प्रेम अमृत मुख ते स्रवत अंबुज नैन चुचात।।
तरक रस रीति की।"

बिछुड़े हुए संयोग को प्राप्त करके आंसू ही प्रेमरस की तर्क-पूर्ण भाषा बन गये। तर्क की भाषा से बुद्धि का सन्तोष संभव है; परन्तु हृदय के भाव तो प्रेमाश्रु ही व्यक्त कर सकते हैं।

गोपियों का प्रेम स्वार्थ-मण्डित नहीं है। वे श्रीकृष्ण को केवल अपने हेतु ही नहीं चाहती हैं वरन् उनको विरह-व्यथित मूक पशुओं की भी असीम चिन्ता है। गोपियों का कहना है कि आप हमें भले ही भूल जायें परन्तु गायों और गोपों की दशा पर तो दृष्टिपात् कीजिये। वे दुख-सागर में उतरा रही हैं। नंददास जी का यह मनोवैज्ञानिक चित्रण गोपियों की दीनता, प्रेम-परवशता का परिचायक है।

उपालंभों को जन्म देने वाली भावना है प्रेमी के प्रति प्रेमी की खीज। एक के विरह की गहनता जब विशेष हो जाती है और दूसरे की निष्ठुरता घटती नहीं है, तभी उपालंभ सकर्मक हो जाते हैं। इन उपालंभों के द्वारा प्रेमी अपनी सात्विक-आसक्ति का प्रदर्शन करता है। नंददास ने गोपी-विरह में इस भावना को मूर्तिमान कर दिया है। गोपियों की शिकायत है कि जब इसी प्रकार से विरहाग्नि में जलाकर मारना था तो गोवर्धन धारण करके व्रज को डूबने से क्यों बचाया? इस कष्ट से तो वह जल-प्लावन ही सुखद होता।

"कोऊ कहै अहो स्याम चहत मारन जो ऐसे,
गिरि गोवर्धन धारि करी रक्षा तुम कैसे,
व्याल अनल अरु ज्वाल तें राखि लये सब ठौर,
अब विरहानल दहत हौ हँसि हंसि नंदकिशोर।
चोरि चित लै गये।"

जैसा कि हम अन्यत्र लिख चुके हैं, गोपी-विरह-वर्णन में विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत वियोग की एकादश अवस्थाओं का बड़ा सजीव और मार्मिक चित्रण नंददास ने किया है। नंददास का यह विरह-वर्णन रसोत्पादक है, लौकिक अर्थ में। आध्यात्मिक-क्षेत्र में उस विरह-दशा का परिचायक भी है, जिसे समर्थ आलोचकों ने रहस्यवाद की संज्ञा प्रदान की है।

नंददास में उर्वरा-कल्पना-शक्ति का अभाव नहीं था और उनमें प्रकृति के प्रति संवेदन का भाव भी प्रचुर मात्रा में था। श्रीकृष्ण और भ्रमर को नाना प्रकार के अभि-योगों से अभिसिक्त करके, अन्त में वे कहती हैं:—

'कोऊ कहै रे, मधुप, कौन तुम कहै मधुकारी।
लिये फिरत विष जोग गाँठ काटत बेकारी॥
रुधिर पान कियो बहुत कै अरुण अधर रंगरात।
अब व्रज में आये कहा करन कौन को घात॥
जात किन पातकी।"

भ्रमर साधारण रूप से पुष्प-रस-पान करता है परन्तु यहाँ नंददास ने रुधिर पान की अनूठी उद्भावना से उसे सजीव बना दिया है। 'पान' से यहाँ 'शोषण' की प्रतिध्वनि अपेक्षित है। भ्रमर को पुष्प-जगत् से खींचकर मानव-लोक में ले आया गया है। वह मानों शोषक है, जिसका लक्ष्य स्वार्थसिद्धि ही है।

भँवर-गीत की गोपियों के रूप में नंददास का व्याकुल हृदय बोलता हुआ दिखाई पड़ता है। प्रेम की चरम सीमा पर पहुँच कर गोपियों का मधुर-मानस उमड़ने लगा।

इस स्नेह-सलिल में समस्त सखियों के शरीर सराबोर हो गये। उनके कमल-नेत्र, कंचुकी, आभूषण आदि सभीकुछ भीग गये—स्नेह-सिक्त हो उठे। उद्धव की निर्गुण-नौका स्नेह-सागर में डूब गई। रस का उत्कर्ष चरम-सीमा (climax) तक पहुँच जाता है।

गोपियों का आत्मनिवेदन और दैन्य तो दर्शनीय है। मानव-मन की करुण कोमल भावनाएँ जिस सूक्ष्मता से नन्ददास ने चित्रित की हैं वह उनके महाकवित्व का समर्थन करने में यथेष्ट सहायक हैं। भक्ति-भावना से विभोर उद्धव के स्नेहार्द्र विचारों में मानों नन्ददास का सरस कवि हृदय ही बोल रहा है। वे कामना करते है, मैं ब्रज की धूलि बन जाऊँ तो गोपियों के पावन चरण मुझ पर पड़ें। मैं ब्रज की लता-पता हो जाऊँ तो गोपियों की परछाईं ही मुझ पर पड़ती रहे, परन्तु यह मेरे वश की बात नहीं है। मैं भगवान से यही वरदान माँगूगा।

"कैधों होहुँ द्रुमलता वेलि बल्ली बन माँही,
आवत जात सुभाय परैं मो पैं परिछाँही,
सोऊ मेरे बस नहीं जो कछु करौं उपाय,
गोहन होंहि प्रसन्न जो यह बर माँगौं जाय।
कृपा कर दीजिये।"

नन्ददास की भी यही आन्तरिक अभिलापा है। सूर भी यही चाहते थेः—"सूर क्रूर द्वार परयो आँधरो मैं गाऊँ।" रसखान भी इसी अभिलापा में मग्न थेः—"मानुस हौं तो वही रसखान वसौं नित गोकुल गाँव के ग्वारन।"

"तू दयालु दानि हैं, मैं दीन तू भिखारी।" की भावना प्रियतम के प्रति रखी जाती है। कविवर घनानन्द ने तो इस दिशा में कमाल ही कर दिया है। वे कहते हैं कि मेरे जैसे व्यक्ति को तुम्हारे अतिरिक्त और कौन पहचान सकता है। जैसे आपकी कृपा के नेत्र हैं वैसे ही मेरी मौन में मेरी पुकार भी छिपी हुई है।

"मो से अनपहचान कौं, पहचानैं प्रभु कौन।
कृपा कान मधि नैंन ज्यौं, त्यौं पुकार मधि मौन॥"

श्रीकृष्ण ऐसे ही स्नेह-शिरमौर चित्रित किये गये हैं। गोपियों की कथा सुन कर उनकी व्यथा स्पष्ट उभर आती है। वे प्रेमावेश में विभोर हो जाते हैं। गोपियाँ उनके रोम-रोम में व्याप्त दिखाई पड़ती हैं। यही भक्त और भगवान का एकीकरण है। है। वे कहते हैं :—'तरंगिनि वारि ज्यौं' गोपियाँ मुझसे भिन्न नहीं हैं। "गिरा अरथ जल-वीचि सम। कहियत भिन्न न भिन्न" बताने वाले महात्मा तुलसीदास जी भी तो यही मानते थे।

भँवर-गीत में रसात्मकता, माधुर्य और भावात्मकता सभीकुछ उपलब्ध है। संक्षेप में हम यह कह सकते है कि नंददास ने "गागर में सागर" को भर दिया है।

काव्य के दृष्टिकोण से थोड़ा हटने पर हमें उसमें साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की परिपुष्टि भी देखने को मिलती है। पुष्टिमार्ग में भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करना ही सफलता की सबसे बड़ी सीढ़ी मानी जाती है। श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। भक्त भी चार प्रकार के बताये गये हैं।

१. प्रवाही पुष्ट भक्त—जो भगवान् के अनुग्रह का आश्रय प्राप्त करके कर्म-मार्ग का अनुसरण करते हैं।

२. मर्यादा-पुष्ट भक्त—भगवत्-अनुग्रह का आश्रय ग्रहण करके जो मर्यादानुसार भगवद्गुणों को जान कर कर्म करते हैं।

३. पुष्टि-पुष्ट भक्त—जो केवल भगवद्-अनुग्रह का ही आश्रय ग्रहण करते हैं।

४. शुद्ध-पुष्टभक्त—जिनको अनुग्रह से प्राप्त प्रेम की उपलब्धि हो गई है और इस प्रकार शुद्ध होगये हैं।[1]

यह चारों ही प्रकार हमें नंददास जी की गोपियों में देखने को मिल जाते हैं। श्याम-सखा की सेवा उनका कर्म मार्ग है। वे भगवद्गुणों को जानती हैं और इसके पश्चात् गुण-गान, स्मरण आदि कर्म भी करती हैं। वे श्रीकृष्ण को 'दुख जलनिधि हम बूड़हीं कर अवलंवन देहु' कह कर उन्ही का आश्रय ग्रहण करती हैं और श्रीकृष्ण उनको 'तरंगनि वारि' ज्यों अपने से भिन्न नहीं मानते हैं—यही प्रेम की उपलब्धि है। श्रीकृष्ण को पूर्णानन्दस्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम परम ब्रह्म माना है। यह वल्लभ सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त है। इस प्रकार काव्य की भूमि पर नंददास ने, निज सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का सरस समर्थन भी किया है।

भंवर गीत में दार्शनिकता—उपर्युक्त विवरणों के अतिरिक्त नंददास ने भँवर-गीत में दार्शनिकता का पुट भी दिया है। हिन्दी साहित्य में इसे रहस्यवाद की संज्ञा भी प्रदान की गई है।

भँवर-गीत के एक-एक पद में दार्शनिक तत्त्वज्ञान भरा हुआ है। नंददास ने संक्षेप में-ज्ञान मार्ग, कर्मकाण्ड, भक्तिमार्ग, निराकर ब्रह्म तथा साकार भगवान् का यथातथ्य निरूपण कर दिया है। परिणाम-स्वरूप यह भी निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिया है कि भक्ति-मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। यही अत्यन्त सुलभ और हृदयग्राही है। इतना सब होते हुए भी नंददास कवि ही बने रहते हैं, उपदेशक या दार्शनिक बनने का महत्व उनकी

१. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' ले० डा० दीनदयाल गुप्त पृष्ठ ३६४.

दृष्टि में नगण्य ही रहता है। प्रायः दर्शन को रूखा-सूखा कहा जाता है। नंददास ने काव्यमयी भाषा के आश्रय से उसे सरस बना दिया है।

गोपियों को आरंभ में ही 'प्रेम-धुजा' और 'रस रूपिनी' बता कर नंददास ने, मानों गोपियों की परिभाषा प्रस्तुत कर दी है। उनका प्रेम अत्यन्त तीव्र है, जो श्याम का नाम सुनते ही उमड़ उठता है। उनकी स्मृति तो पीड़ा को पराकाष्ठा पर पहुँचाने वाली है। उनका प्रेम सच्चा और अत्यन्त दृढ़ है।

ऊधो का ब्रह्म-निरूपण अथवा ब्रह्म-ज्ञान एक में अनेकत्व (Unity underlies diversity) का आभास है। प्रकृति अथवा समस्त विश्व उसी ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप है। मानव उसे साधारण दृष्टि से देखता है, इसलिए ब्रह्म की सत्ता से अनभिज्ञ रहता है। अज्ञानता उसे अलौकिक दर्शन से दूर रखती है। माया आत्मा और परमात्मा में साक्षात्कार नहीं होने देती है। प्राणी इसीलिए ब्रह्म के विराट् स्वरूप को नहीं समझ पाता है। सच्चा ज्ञान आत्मा और परमात्मा के एकीकरण का अनुभव ही है। यह ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब आत्मा माया के आवरण से मुक्त हो जावे और निर्मल तथा पवित्र बन जाय। ऐसे प्राप्त ज्ञान के चक्षुओं से उस ब्रह्म का दर्शन हो सकता है। अनुभूति ही उसका दर्शन है, क्योंकि वह निराकार है। वह चिन्तन का विषय है, वर्णन का नहीं। वह अव्यक्त है, अगम है और गुणातीत भी है। न कोई उसकी माता है, न पिता है। समस्त आत्माएँ उसी महान् आत्मा के अंश हैं। वेदों ने भी उसे "नेति-नेति" माना है। इन्द्रियों के द्वारा उसकी अनुभूति शक्य नहीं है। ज्ञान के द्वारा, ब्रह्म का सामीप्य संभव है और यह ज्ञान योग के द्वारा प्राप्त हो सकता है। योग के साधन हैं इन्द्रिय-निग्रह, मन का अवरोधन, तपस्या और ध्यानावस्थित होकर चिन्तन करना।[1]. यह हुआ ज्ञानमार्ग।

कर्मकाण्ड की व्याख्या में कविवर नंददास ने ऊधो के द्वारा कहलवाया है कि कर्म-मार्ग अत्यन्त सरल है। दैनिक कर्मों के साथ ही साथ ब्रह्म की प्राप्ति भी सम्भव

---

१. तुलसीदास जी ने भी ऐसा ही कुछ बताया है :—

इहि जग-जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच वियोगी ।।
जानिय तबहिं जीव जग जागा।
जब सब विषय विलास विरागा ।।
होइ विवेक मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरण अनुरागा ।।

(रामायण, अयोध्याकाण्ड।)

है। संसार में निष्क्रय तो कोई रह ही नहीं सकता है। अतएव कर्म को समझ कर करने से फल-प्राप्ति की इच्छा हो ही नहीं सकती है। उसका द्वैत-भाव नष्ट हो जायगा। आत्मा विशाल और उदार बनेगी, बुद्धि निर्मल और पवित्र होगी, तभी उसे ब्रह्मानंद प्राप्त हो सकेगा। आत्मा का संयम होने से धीरे-धीरे प्राणी का शरीर निःशेष हो जाता है और तब वह चिन्तन के द्वारा ब्रह्म को पा लेता है। यही कर्म-काण्ड कहलाता है।[1]

जो कुछ हमें दिखाई देता है वही ब्रह्म का वास्तविक रूप नहीं है। प्राणी और ब्रह्म के बीच में माया का आवरण है। ज्ञान के द्वारा यह अवगुंठन दूर होता है, तभी ब्रह्म का दर्शन सम्भव है। इसी का नाम मायावाद है। ऊधौ ने इन्हीं विचारों का स्पष्टीकरण किया है।

गोपियाँ नंददास के विचारों की प्रतीक हैं। वे भक्तिमार्ग की अनुयायिनी हैं। सगुण की उपासिकायें, स्नेह की याचिकायें, उनका परमाराध्य अलौकिक गुणों से विभूषित है। श्रीकृष्ण का दिव्य-सौन्दर्य ही उनके जीवन की ज्योति है। वे साकार ब्रह्म की उपासना इसीलिये श्रेयस्कर मानती हैं कि वह उनके दुख से दुखी और सुख से सुखी होने वाला है। सगुण ब्रह्म की उपासना सबके हेतु सुगम है। गोपियाँ यह भी स्पष्ट कर देती हैं कि निष्काम-कर्म करना अत्यन्त कठिन है। अतएव ब्रह्म का सामीप्य तो दूर रहा मनुष्य कर्मानुसार बन्धन-बद्ध हो जाता है। प्रेम से आत्मा विशाल और उदार बनती है और क्रमशः आगे चल उपास्य और उपासक का ऐक्य हो जाता है। कर्म मार्ग से या ज्ञान मार्ग से यह सम्भव नहीं है। प्रेमी-भक्त माया का भी तिरस्कार नहीं करता है क्योंकि वह उसे भी भगवद् की दासी मानता है। नंददास ने इस सिद्धान्त का समर्थन श्रीकृष्ण के द्वारा भी करा दिया है—वे कहते हैं 'तरंगनि वारि ज्यों।'—मेरा और गोपियों का सम्बन्ध है।

इतने जटिल और तर्कशील सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए भी नंददास अपने काव्य की सरसता को बनाये रहे हैं। यही उनके कवि का कर्तृत्व है।

प्रगतिशीलता—शास्त्रीय तथा सामाजिक नियमोपनियमों के अनुसार बहुत से धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में स्त्री को अधिकार प्रदान नहीं किया जाता है। इनमें वेद-पाठ, सांख्य-ज्ञान तथा योगादि की क्रियाओं से उनको दूर रखने का आदेश है।

---

१. जब करिये नित कर्म भक्ति हू जा में आई।
कर्मरूप का तें कहौ कौन पै दूरयौ जाई।।
क्रम-क्रम कर्म सबहि किये कर्म नास ह्वै जाय।
तब आतम निहकर्म ह्वै निर्गुन ब्रह्म समाय।। —पद २५

नंददास जो की तीक्ष्ण-दृष्टि से ऐसा अव्यवहारिक तथा असंस्कृत व्यवहार कैसे बच सकता था । उन्होंने गोपियों के द्वारा व्यंग्य रूप में ऊद्धव से कहलवाया है कि कर्म की बात तो वे ही लोग जान सकते हैं जिन्हें कर्म करने का अधिकार है । तुम कैसे हमें योग का अथवा ज्ञान का उपदेश देने आये हो—स्त्री तो उसकी अधिकारिणी ही नहीं है । उद्धव के पास कोई उत्तर नहीं है। नददास कहते हैं कि प्रेम में नारी का समान भाग है, बल्कि पुरुष से कहीं अधिक है। पुत्री का प्रेम, पत्नी का स्नेह और माता का वात्सल्य—नारी तो आरम्भ से अन्त तक प्रेममयी है । दूसरे कवियों की भाँति नन्ददास ने 'प्रमदा दुख की खानि' को आश्रय नहीं दिया है । इस दृष्टिकोण से भी वे अत्यन्त प्रगतिशील विचारों वाले कवि सिद्ध होते हैं, जो समानाधिकार की भूमि पर नारी और पुरुष को चलता हुआ देखना चाहते हैं ।

रस का परिपाक, अलंकारों की योजना, भावनात्मक स्थल, सरसता, ओज, प्रसाद और माधुर्य, भंवरगीत में सभीकुछ उपलब्ध है । इन सबसे ऊपर उसमें सीधा-सादा प्रेम का मार्ग निर्देशित है जिस पर सभी लोग निःसंकोच भाव से चल सकते हैं ।

"कौन ब्रह्म की ज्योति, ज्ञान कासौं कहो ऊधो ।
हमरे सुन्दर श्याम, प्रेम कौ मारग सूधो ।।"

इतनी आलोचना के पश्चात् हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं जिस व्यक्ति ने भी कहा है—"और कवि गढ़िया नंददास जड़िया"—उसने एकान्त-सत्य का प्रतिपादन किया है ।

———

सूरदास और नंददास : एक तुलना

हम अपने प्रस्तुत विषय में सीमित रह कर ही सूरदास और नन्ददास की तुलना करना उचित समझते हैं। भ्रमर-गीत दोनों ने ही लिखा है और अपनी कवित्व शक्ति का परिचय दिया है। यों तो अष्टछाप के सभी कवियों ने भ्रमर-गीत शीर्षक से पदों की रचना की है परन्तु वे मुक्तक ही कहे जाने योग्य हैं। उनमें प्रबन्धात्मक धारावाहिकता न होने से हमारे आलोच्य विषय नहीं हो सकते हैं। इसी हेतु विभिन्न दृष्टिकोणों से हम दोनों महाकवियों की तुलना कर रहे हैं।

काव्य में रस-परिपाक—जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं, शृंगार को रसराज माना गया है। इसका दूसरा पक्ष विप्रलभ कहलाता है। भ्रमरगीत में वियोग शृंगार की प्रधानता है। दोनों ही कवियों ने लगभग सभी रसों का प्रयोग सरसता से किया है। यह उनकी काव्य-प्रतिभा का परिचायक-प्रयत्न है। सूर का क्षेत्र विस्तृत है, तो नंददास का अति सीमित, फिर भी दोनों कवियों के काव्य में रसों का परिपाक सुन्दरता से हुआ है।

विरह की एकादश अवस्थाएँ—जैसा हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं, विरह की एकादश अवस्थाओं का चित्रण दोनों ही कवियों ने बड़ी सफलता के साथ किया है।

छन्द—तीसरे भ्रमर-गीत में सूरदास जी ने रोला और दोहे के सम्मिश्रण से जिस छन्द का प्रयोग किया है, हमने उसी को 'भ्रमर-गीत-छन्द' की संज्ञा प्रदान की है। नन्ददास ने अपना समस्त भँवरगीत इसी छन्द में लिखा है। केवल उसमें विशेषता यही है कि उन्होंने पद के अन्त में अर्द्धाली का उपयोग अधिक करके उसमें संगीतात्मकता भर दी है।

हमें यह स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं है कि जहाँ अपने भँवरगीत की पृष्ठ-भूमि के लिए नन्ददास जी भागवत के आभारी हैं, वहाँ छन्द की प्राप्ति के लिए वे सूरदास के अनुयायी हैं। परन्तु जैसा कि हमने बार-बार लिखा और माना है कि सूरदास की भाँति नंददास में भी मौलिकता की कमी नहीं है। उन्होंने सूर द्वारा निर्मित-छन्द में लय उत्पन्न करने के लिए प्रत्येक पद के अन्त में अर्द्धाली जोड़ कर एक नवीनता उपस्थित कर दी है। इसी छन्द में लिखा हुआ सूर का भ्रमरगीत

अति-संक्षिप्त है और यदि केवल उसे ही सामने रख कर आलोचना की जाय तो हमें भय है कि सूर की महत्ता को आँच आ सकती है। नंददास इस प्रकार उनको कोसों पीछे छोड़ देंगे। पदों में लिखित भ्रमरगीत ही सूर को महाकवि के पद पर प्रतिष्ठित कराने वाला है। उसमें भी विभिन्नता के दर्शन होते हैं। नंददास के भ्रमरगीत का छन्द एक ही है।

सूरदास का भ्रमरगीत आरम्भ होता हैं :—

"ऊधौ को उपदेस सुनौ किन कान दै।"
और "सुन्दर स्याम सुजान पठाओ मान दै।"

यह उसकी टेक या ध्रुव है। आगे लिखा है :—

"कोउ आवत उहि ओर जहाँ नंद-सुवन पधारे।
वहै बेनु-धुनि होई, मनौ आये ब्रज प्यारे।।
धाईं सब गलगाजि कै, ऊधौ देखे जाय।
लै आईं ब्रजराजगृह, आनन्द उर न समाइ।।"

इस पाठ में भेद भी उपलब्ध हैं। उपर्युक्त पाठ हमने गोलोकवासी श्री जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' द्वारा संगृहीत तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर के दूसरे खण्ड के पृष्ठ १६२३ से लिया है।[1] हमारे सामने आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल-सम्पादित भ्रमरगीत सार भी है, जो साहित्य सेवा-सदन बनारस से प्रकाशित है। इसमें भी पाठ भेद हैं।[2] डा० रामरतनजी भटनागर लिखित 'नन्ददास एक अध्ययन' में जो उद्धरण है, वह भी विभिन्नता लिए हुए है।[3] आचार्य शुक्ल का पद है :—

"कोउ आयो उत तायँ जितै नन्दसुवन सिधारे।
वहै बेनु-धुनि होय मनो आए नँदप्यारे।।
धाईं सब गल गाजि कै ऊधो देखे जाय।
लै आईं ब्रजराज पै, हो, आनन्द उर न समाय।।"

इसी प्रकार डा० भटनागर के उद्धरण में भी 'हो' शब्द उपस्थित है। इसे विश्राम की टेक माना जा सकता है, परन्तु यह निश्चय ही छन्द का भाग है। सूर ने प्रत्येक दोहे में इस 'हो' का प्रयोग किया है। नन्ददास ने अपने भँवरगीत में इस

१. सूरसागर संवत् २००७ वि० प्रथम संस्करण
२. पृष्ठ ६४-६५, प्रथम संस्करण, १९४७ ई० किताब महल, प्रयाग
३. पृष्ठ ७, संवत् २००९ वि०, सप्तम परिशोधित प्रवर्धित संस्करण, उपसम्पादक प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काशी विश्वविद्यालय।

'हो' का परित्याग करके अर्द्धाली को जोड़ कर जो नवीनता उत्पन्न की है और मौलिकता का परिचय दिया है, वह किसी भी रूप में उनको सूरदास से निम्न सिद्ध नहीं कर सकता है।

श्याम की पत्रिका—सूरदास ने उद्धव के द्वारा जिस पत्रिका के लाये जाने का वर्णन किया है, नंददास ने वैसा नहीं किया। ऐसा जान पड़ता है कि वे इस दिशा में भागवत से ही प्रभावित हैं और संक्षिप्तता उनकी दृष्टि में थी तथा उनका मूलोद्देश्य निर्गुण का खंडन तथा सगुण का मंडन ही था।

कथाकार—काव्य में कथात्मकता होने से सौष्ठव का आजाना स्वाभाविक है। नंददास ने अपने भँवरगीत के ७५ पदों में उसका पूर्ण निर्वाह किया है। यों तो सूरदास का भ्रमरगीत भी कथात्मक गीतिकाव्य ही कहे जाने योग्य हैं, परन्तु उसमें पदों की एकान्त मुक्तता के कारण कथा-सौष्ठव का सम्पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। इसके अतिरिक्त पुनरुक्ति-दोष भी पाया जाता है। एक ही भावना से सम्बद्ध कितने ही पद पढ़ने को मिलते हैं। नंददास के भँवरगीत में पुनरुक्तता नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि उनमें कथा कहने की क्षमता थी।

वर्णनात्मकता—सूरदास के समान ही नंददास भी वर्णन-कला में अत्यन्त पटु हैं। थोड़े में ही बहुत कुछ लिख देना उनकी कवि-प्रतिभा की सक्षम देन है।

भाषा—सूर और नंददास दोनों ने ही व्रजभाषा को अपनाया है। भाषा में दो गुण प्रधान माने जाते हैं। पहला माधुर्य और दूसरा प्रसाद। ऐसी बात नहीं है कि ओज का कोई स्थान नहीं होता; परन्तु वियोग-शृंगार से सम्बद्ध कविता में उसका स्थान गौण ही रहता है।

सूरदास की व्रजभाषा में, जहाँ व्रज के ठेठ शब्द उपलब्ध हैं वहीं संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ है। सूरदास के पास शब्दों का अक्षय भंडार दिखाई देता है जिसमें सभी प्रकार के रत्न हैं, हीरे से लेकर गोमती-चक्र तक। यही कारण है कि उन्होंने एक ही प्रसंग को विभिन्न रूपों में चित्रित किया है। उनकी भाषा में उपयुक्त शब्दों का चयन और संगठन बड़ी सतर्कता से किया गया प्रतिभासित होता है। इसी हेतु शब्दों की योजना सार्थक हो जाती है। भाषा में धारा-वाहिकता भी है, जो संगीतात्मकता के सहयोग से तथा विभिन्न राग-रागनियों को वाहन बनाकर मंथरगति से प्रवहमान होती चलती है। उनकी भाषा सजीव भी है और बलवती भी है। भावों के अनुरूप ही सुन्दर शब्दावली, लोकोक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है। इसलिए उसे कोमल-कान्त-पदावली का पद प्रदान किया जा सकता हैं।

सूरदास से पूर्व डिंगल अथवा अपभ्रंश ही काव्य के हेतु प्रयोग में लाई जाती थी। कबीर जैसे साधुओं की सधुक्कड़ी भाषा के भी दर्शन होते रहते थे; परन्तु सूर ने ही सर्वप्रथम ब्रजभाषा को काव्य-भाषा का पद प्रदान किया और उसे गौरवशालिनी बनाया।

सूरदास ने ब्रजभाषा की सौन्दर्य-वृद्धि के हेतु विदेशी शब्दों का भी स्वागत किया है। उनको अपनी भाषा के अनुकूल बनाकर आश्रय प्रदान किया है। फारसी, अरबी, अवधी, पंजाबी, बुन्देलखंडी सभी प्रकार के शब्दों का साधु-प्रयोग दिखाई देता है। भाषा में द्रुतता है तो प्राञ्जलता भी है। कहीं-कहीं तो विशुद्ध खड़ी बोली के दर्शन भी हो जाते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी गद्य के जन्मदाता कहे जाते हैं तो श्री महावीरप्रसादजी द्विवेदी उसके उद्धारक-सुधारक माने जाते हैं। इसी प्रकार सूरदास ब्रजभाषा के बाल्मीकि हैं तो नंददास ब्रजभाषा के कालिदास हैं। नंददास की भाषा में वे सभी गुण उपस्थित हैं जो सूर की भाषा में पाये जाते हैं। इन सबसे ऊपर नंददास की भाषा परिष्कृत ब्रजभाषा है। भँवरगीत में धारावाहिकता भी है, गति भी है, प्रवहमानता भी है और प्राञ्जलता भी है। संस्कृत के तद्भव शब्दों का प्रयोग तत्सम् शब्दों की अपेक्षा अधिक है। उनकी भाषा मानो अँगूर का गुच्छा है। संयुक्ताक्षरों से बचने की प्रवृत्ति सर्वत्र ही परिलक्षित होती है। शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करने में समर्थ हैं। तुलसीदासजी के शब्दों में "अर्थ अमित अति आखर थोरे, वाली बात है। नंददास ने विदेशी शब्दों को प्रश्रय नहीं दिया है। शब्द-चित्रों से वे अपनी भाषा को मधुर से मधुरतम बना लेने में पर्याप्त समर्थ हैं। उनके पद आकाश में विचरण करने वाले कलाधर के समान मंद-गति से तथा शीतलता बरसाते हुए चलते हैं। ह्रस्व वर्णों का उपयोग बड़ी सावधानी से हुआ है, इस कारण काव्य में माधुर्य भर गया है। वर्णों का नादात्मक प्रयोग बड़ी सफलता से हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप शब्द-चित्र तथा मूर्तचित्र सजीव हो उठते हैं। समास पद्धति से भाषा को बड़ा बल मिला है।

नंददास ने सुन्दर शब्दों की खोज के लिए ब्रजभाषा और संस्कृत दोनों को ही टटोला है। इस दिशा में वे महाकवि जयदेव से भी कुछ आगे बढ़ गये हैं। जयदेव की खोज संस्कृत तक ही सीमित है।

अनुप्रास आदि शब्दालंकारों, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अर्थालंकारों से युक्त नंददास की भाषा साहित्यिक हैं, उसमें संगीत है, प्रवाह है और हृदय को स्पर्श करने की अपूर्व क्षमता भी है।

है। गोपियाँ कृष्ण पर पूर्ण विश्वास रखती हैं, परन्तु विश्वासघात से उनको बड़ी पीड़ा हुई है। उद्धव के आने पर गोपियों ने यही उपालंभ दिया है। इस पद में "असंभव अलंकार" है।

"यौं दुख दै ब्रजवासिन कौं, ब्रज कौं तजि कैं, मथुरा सुख पैहैं।
वै रसबेलि बिसासिनि वौं, वन-कुंजनि की बतियाँ बिसरैहैं।।
जोग सिखावन कौं हमकौं, वहुरयो तुम से उठि धावन ऐहैं।
ऊधौ नहीं हम जानत ही, मन मोहन कूबरी हाथ बिकैहैं।।"

इसी प्रकार 'विकस्वर अलंकार' के उदाहरण में, भ्रमर के व्याज से, स्यामता पर करारी चोट की गई है:—

"मधुप, मोह मोहन तज्यो, यह स्यामन की रीति।
करौ आपने काज लौं, तुम्हें भाँति सौं प्रीति।।"

गोपियाँ भोली तो हैं परन्तु मूर्ख नहीं हैं। वे यह जानती हैं कि जोग साधन उनका काम नहीं है। उन्हें यह भी अ-सांस्कृतिक लगा है कि अभिराम श्याम सुन्दर का स्नेह-सम्बन्ध कुरूप कुब्जा से हो गया है। इस भावना का निर्वाह "प्रथम विषम" अलंकार के अन्तर्गत किया गया है:—

"ऊधौ जू सूधौ विचार है धौं जू कछू समझै हम हूँ ब्रजवासी।
मानि है जो अनुरूप कहौं 'मतिराम' भली यह बात प्रकासी।।
जोग कहाँ मुनि लोगन जोग, कहाँ अबला-मति है चपला-सी।
स्याम कहाँ अभिराम सरूप, कुरूत कहाँ वह कूबरी दासी।।"

"भाविक अलंकार" का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने गोपियों की दृढ़ भावना का प्रदर्शन किया है कि वे अपना वियोग श्रीकृष्ण से नहीं मानती हैं। वे सर्वत्र ही श्याम-मय देखती हैं:—

"निसि दिन श्रौननि पियूष सो पियत रहैं,
छाय रह्यो नाद बांसुरी के सुर ग्राम को।
तरनि-तनूजा-तीर बन कुंज बीथिन मैं,
जहाँ-तहाँ देखति हौं रूप छबि धाम को।।
कवि 'मतिराम' होत ह्याँ तौन हियें तैं नेकु,
सुख प्रेम गात को परस अभिराम को।
ऊधो तुम कहत बियोग तजि जोग करौ,
लोग सब करैं, जो वियोग होय स्याम को।।"

"व्याज निन्दा अलंकार" के द्वारा, सगुण-निर्गुण के द्वन्द्व को समाप्त करके, संक्षेप में गोपियाँ अपना निर्णय प्रकट कर देती हैं:—

"पगीं प्रेम नंदलाल के, हमें न भावत जोग।
मधुप, राजपद पाय के, भीख न भोगत लोग।।"

इस काल के कवियों में क्रम-बद्धता का अभाव अवश्य है। न भ्रमर का प्रवेश है और न उद्धव का शिष्टाचार के साथ पधारना तथा स्वागत का ही वर्णन है। ऐसा जान पड़ता है कि पुराने भ्रमर गीत ने रीत्यानुसार अपना नवीन कलेवर प्रस्तुत किया है।

देव—कविवर देवदत्त का उपनाम देव था। वे प्रकाण्ड पंडित थे। रीतिकाल के कवियों में उनके समान प्रतिभा-सम्पन्न कवि कोई भी नहीं हुआ। यह भी समन्वय-भावना वाले कवि हैं। उद्धव के ब्रजधरा-धाम पर पधारते ही कोलाहल मच जाता है:—

"ऊधो आए, ऊधो आए, हरि को सँदेसो लाए,
सुनि, गोपी-गोप धाए, धीर न धरत हैं।
बौरी लगि दौरीं उठीं भोरी लौं भ्रमति मति,
गनतिन गनो गुरु लोगन दुरत हैं।।
ह्वै गईं बिकल बाल बालम वियोग भरी,
जोग की सुनत बात गात ज्यौं जरत हैं।
भोर भये भूषन सम्हारे न परत अंग,
आगे कौं धरत पग पाछे कौं परत हैं।।"

गोपियाँ कामातुर हैं और विरह-वारिधि में डूबी जा रही हैं। उद्धव की बातों से उनकी बुद्धि बहक जाती है। वे अत्यन्त करुणा से भरकर उद्धव से कहती हैं कि अब आप ही हमारी रक्षा करो:—

"रैंन दिन नैन दोऊ मास रितु पावस के,
बरसत बड़े-बड़े बूँदनि सों झरिये।
मैंन सर जोर मारै पवन झकोरनि सौं,
आई है उमगि छीन छाती नीर भरिये।।
टूटो नेह नाँव छूटो श्याम सौं सुहानु गुन,
ताते कवि 'देव' कहैं कैसें धीर धरिये।
बिरह नदी अपार बूड़त ही मँझधार,
ऊधो अब एक बार खेहू पार करिये।।"

वे तो कृष्णानुरागिनी हैं, उन्हें निर्गुण-सगुण से क्या लेना-देना है। उद्धव के द्वारा भगवान् के विभिन्न अवतारों की चर्चा उनको आकर्षक नहीं लगती है। यदि मनमोहन मिल जाय तो वे माला लेकर भी नंदलाला का स्मरण करने के हेतु प्रस्तुत हो जायँगी—

"कुविजा किते न दुविजा के रहे आपु 'देव'
अंस अवतारी अब तारी जिन गनिका।
आरति न राखत निवारत नरक ही तें,
तारत तिलोक चरनोदक की कनिका॥
उनके गुनानुवाद तुमसौं सुने हैं ऊधो,
गोपिन को सूधौ मत प्रेम की जवनिका।
कुंजन में टेरि हैं जु स्याम कौं सुमिरि नीके,
हाथ लै न फेरि हैं सुमिरिनी के मनिका ?"

गोपियाँ कहती हैं कि यदि हमने नंदलाल को हृदय-दान नहीं दिया होता तो संभव था तुम्हारी बात ही मान लेतीं, परन्तु अब तो वे विवश हैं:—

"जोगहि सिखै हैं ऊधो जो गहि कै हाथ हम,
सो न मन हाथ, ब्रजनाथ साथ दै चुकीं।
'देव' पंच सायक नचाय खोलि पंचन में,
पंच हू करनि पंचामृत सो अँचै चुकीं॥
कुलबधू ह्वै कै हाय कुलटा कहाईं अरु,
गोकुल के कुल में कलंक सिर लै चुकीं।
चित होत हित न हमारे नित और सो तौ,
वाही चितचोरहिं चितौ चित दे चुकीं॥"

उद्धव से वे यह भी कहती हैं कि तुम श्यामसुन्दर को हमारी आँखों से देखो तभी तुम्हें उनकी महानता का पता लग सकेगा:—

"अँगन सौं रंजित निरंजनहि जानें कहा,
फीकौ लगै फूल रस चाखे हो जु बौड़ी कौ।
तुरज बजाय सूर सूरज कौं बेधि जाय,
ताहि कहा सबद सुनावत हो डौड़ी कौ॥
ऊधो पूरे पारखी हो परखे बनाये 'देव'
पार ही पै बोरौ पै खिवैया धार औड़ी कौ।

मन मनिका है हरि हीरा गाँठि बाँध्यौ हम,
तिन्हैं तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी कौ ।।"

कहीं-कहीं व्यंग्य की अनोखी छटा देखने में आती है । तभी वे ऊधव से कहती हैं कि श्रीकृष्ण और कुब्जा की जोड़ी खूब मिली है । दोनों ही बड़े सीधे हैं । वर भी सीधे हैं और वधू भी सीधी हैं—एक त्रिभंगी है तो एक कुवड़ी है:—

"को हमकौं तुमसे तपसी बिनु, जोग सिखावन आइ हैं ऊधौ ।
पै यह पूछियै, जू उनकौं, सुधि पाछिली आवति है कबहूँ धौ ?
एक भली भई भूप भये अब, भूलि गये दधि माखन दूधौ ।
कूबरी सी अति सूधी वधू कौं मिल्यौ वर 'देवजू' स्याम सौं सूधौ ।।"

घनानन्द—ब्रजभाषा काव्य में, सुन्दर सरस और परिमार्जित साहित्यिक भाषा में, विप्रलंभ शृंगार के सम्राट घनानन्द माने जाते हैं । भावनाएं खिची चली आती हैं और विरह तो मूर्तिमान हो उठता है। गोपियाँ उद्धव के निर्गुण का नगाड़ा फोड़ देती हैं और उसे कुंठित बुद्धि बना देती है ।

"नाद कौ सवाद जानै बापुरो बधिक कहा,
रूप के विधान को बखान कहा सूर सौं ।
सरस परस के विलास जड़ जानै कहा,
नीरस निगोड़ो दिन भरे भखि ऊर सौं ।।
चाह की चटक तें भयो न हिये खोंप जाके,
प्रेम भरी कथा कहै कहा भकभूर सौं ।
चाहे प्रान-चातक सुजान घनआनन्द कौं,
दैया कहूँ काहूँ कौं परै न काम कूर सौं ।।"

आनंदघन—इस जैन कवि ने चार-छह पदों में ही अत्यन्त श्रेष्ठ अभिव्यक्ति का दर्शन कराया है । भ्रमर को नितान्त स्वार्थ-रत मान कर गोपियाँ उसे सात्विक उपालंभ देती हैं और अन्त में 'काशी करवट' लेकर विरह-दुख से मुक्ति प्राप्त करना चाहती हैं :

"किन गुन भयो रे उदासी भ्रमरा ?
पंख तेरो कारो, मुख तेरो पीरो, सब फूलन को बासी ।।
सब कलियन को रस तुम लीना, सो क्यूं जाय निरासी ।
आनँदघन प्रभु तुम्हरे मिलन क्यूं, जाय करवत ल्यूं कासी ।

पद्माकर—रीतिकाल के अत्यन्त सरस कवि पद्माकर हुए हैं । उनकी भावनाएं कहीं-कहीं तो अश्लीलता की सीमा को छू लेती हैं । आपने भी भ्रमरगीत से सम्बद्ध कितने

ही कवित्तों की रचना की है। भाव की तन्मयता में डूब कर गोपियाँ कहती हैं कि श्री-कृष्ण तो उनके रोम-रोम में बसे हुए हैं। जो गोविन्द मथुरा में है, वे सम्भवतः कोई दूसरे होंगे :—

"प्रानन के प्यारे तन ताप के हरन हारे,
नन्द के दुलारे ब्रज वारे उमहत हैं।
कहै पदमाकर उरुजे उर अन्तर यों
अन्तर चहे हूँ जो न अन्तर चहत हैं॥
नैननि बसे हैं अंग अंग हुलसे हैं रोम-
रोमनि रसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधौ वे गोविन्द कोऊ और मथुरा में यहाँ,
मेरे तो गोविन्द मोहि मोहि मैं रहत हैं॥"

प्रिय के वियोग में प्रकृति भी विपरीतावस्था में दिखाई देती है। फूलों में अंगारों की उद्भावना करना पदमाकर जैसे कवि का ही काम है। बसन्त वर्णन करते हुए कवि ने गोपियों के विरह का जो स्पष्टीकरण किया है वह अत्यन्त स्वाभाविक और हृदयग्राही है :—

"पात बिनु कीन्हे ऐसी भाँति गन बेलिन के,
परत न चीन्हे जे ये लरजत लुंज हैं।
कहैं पदमाकर बिसासी वा बसन्त के सु,
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं॥
ऊधौ यह सूधौ सौ संदेसो कहि दीजो भलो,
हरि सों, हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की,
डारन पैं डोलत अँगारन के पुंज हैं।"

पदमाकर ने एक स्थान पर कमाल ही कर दिया है। त्रिभंगी श्याम और कुबड़ी कुब्जा के संयोग को देख कर चमत्कार की अनोखी प्रतिभा का दर्शन होता है :—

"जैसे को तैसी मिलै, तब ही जुरत सनेह।
ज्यों त्रिभँग तन स्याम को, कुटिल कूबरी देह॥"[1]

---

१. बिहारीलाल के सुप्रसिद्ध दोहे से तुलना कीजिये :—
"चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के वीर॥"

सेनापति दीक्षित—इन कवि महोदय ने भी अलंकार का आग्रह अधिक माना है। श्लेषालंकार के द्वारा उन्होंने निम्न कवित्त में जहाँ एक ओर सागर का चित्रण किया है, वहीं दूसरी ओर गोपियों की पीड़ा का वर्णन दिखा दिया है :—

"जात है न खेयौ क्यौं हूँ बल्ली न लगति नीकी,
सोचत अधिक मन मूढ़ सब लोग कौं।
न दीन कौ नाथ यातैं पैरत न बनैं काहू,
'सेनापति' राम बीर करता असोग कौं॥
दीरघ उसास लेत अति रहै भारी जहाँ,
तिमिर है विकट बतायौ पंथ जोग कौं।
कान्ह के अछत कुंज काम केलि आगर ही,
तेई बिनु कान्ह भइ सागर वियोग कौं॥"

उद्धव ने ब्रह्म की व्याख्या करते हुए जब श्रीकृष्ण और ब्रह्म का अभेद स्थापित किया तो गोपियों ने उस कथन से अपना मनमाना अर्थ लगा लिया और समानता का खण्डन कर दिया। यहाँ भी श्लेष अलंकार की छटा दिखाई दे रही है :—

"कुबिजा उर लगाई हम हूँ उर लगाई
पी रहे दुहूँ के तन मन बारि दीने हैं।
वै तो एक रति जोग हम एक रति जोग,
सूल करि उनके हमारे सूल कीने हैं।
कूबरी यों कल पैहै हम इहाँ कलपैहैं,
सेनापति स्यामैं समुझैयो परबीने हैं।
हम वै समान ऊधो कहौ कौन कारन तैं,
उन सुख माने हम दुख मानि लीन्हे हैं।"

भिखारीदास—आपने भी कुछ छन्द इस विषय पर लिखे हैं, परन्तु उनमें बुद्धिवादिता का ही प्राबल्य है। गोपियाँ सौत का मुँह भी देखने की अभिलाषिणी हैं, इसलिए कि उससे श्रीकृष्ण को वश में करने का मन्त्र प्राप्त करलें और वे उस कूबर की पूजा भी करना चाहती हैं, जिसे देखकर कृष्ण रीझ गये हैं। अच्छी खासी खिचड़ी पका दी गई है—

"ऊधौ तहाँई चलौ लै हमें जहँ कूबरी कान्ह बसैं इक ठोरी।
देखिये 'दास' अघाइ अघाइ तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सौं कछु पाइये मन्त्र लगाइये कान्ह सों प्रेम की डोरी।
कूबर-भक्ति बढ़ाइये वृन्द चढ़ाइये वेदना चन्दन रोरी॥"

इसी प्रकार कुछ अन्य कवियों ने भी मुक्तक रूप से, इसी विषय पर कवित्त, सवैयों अथवा दोहों में अपनी प्रतिभा को प्रकट किया है, परन्तु वे इतने संक्षिप्त हैं कि गणना में लाना उचित नहीं जान पड़ता है।

रीतिकाल में अधिकांशतः नारी के स्थूल रूप का ही वर्णन किया गया। उसके मांसल-चित्रण के प्रति, कुछ समय के पश्चात्, अरुचि होना स्वाभाविक था। अतः रीति-काल के अन्तिम चरण में, एक विद्रोहात्मक भावना का जन्म हुआ, जो आगे चलकर छायावाद के नाम से कही-सुनी गई। इस श्रेणी के कवियों ने सूक्ष्म का चित्रण किया और प्रकृति को संवेदनशीला मान कर उसका साहचर्य प्राप्त किया। संक्षेप में, वर्तमान-युग हृदय-प्रधान ही हो गया, अलङ्कार आदि अवयव गौण हो गये।

युगारम्भ का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी को मिला। उन्होंने अपनी चतुर्मुखी प्रतिभा से साहित्य के भण्डार को अमूल्य रत्नों से परिपूर्ण कर दिया। आचार्य श्री रामचन्द्र जी शुक्ल ने लिखा है—"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से [illegible]र तो वे पद्माकर और द्विज देव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, तो दूसरी ओर वंग-देश के माइ-केल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधा-कृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मन्दिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री शिक्षा, समाज सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते हैं। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—भ्रमरगीत सम्बन्धी पद भारतेन्दु ने स्फुट काव्य के रूप में ही लिखे हैं, इसमें धारावाहिकता अथवा कथा का क्रमिक विकास उपलब्ध नहीं होता है। उद्धव को श्रीकृष्ण ने किसलिए प्रेषित किया है, यह स्पष्ट नहीं है। व्रजागमन के पश्चात् गोपियाँ उद्धव का स्वागत करती हैं। उन्हें यह जानकर दुःख होता है कि श्री कृष्ण ने केवल योग का सन्देश ही भेजा है। भारतेन्दु ने व्रजभाषा और बनारसी शैली के सम्मिश्रण से निम्न पद में अनोखा चमत्कार उत्पन्न कर दिया है :—

"मथुरा के देसवाँ से भेज लें पियरवाँ रामा।
हरि हरि ऊधौ लाए जोगवा की पाती, रे हरी॥
सब मिलि आओ सखी सुनो नई बतियाँ रामा।
हरि हरि मोहन भये कुबरी के संघाती, रे हरी॥
छोड़ि घरबार अब भसम रमाओ रामा।
हरि हरि अब नहिं ऐहैं सुख की राती, रे हरी॥
अपने पियरवा अब भये हैं पराये, रामा।
हरि हरि सुनत जुड़ाओ सब छाती, रे हरी॥"

प्रस्तुत पद लोक-गीत का सुन्दर उदाहरण हैं। बनारस में इसी प्रकार का कजरियाँ गाई जाती हैं। इस प्रकार भारतेन्दु ने प्राचीन परिपाटी में एक नवीन योग प्रदान किया है।

गोपियाँ करुणा से भरकर अपने भाग्य को ही दोप देकर सन्तोष प्राप्त कर लेनी हैं। संस्कृति में प्रिय का दोष स्वयं स्वीकार करने की प्रथा है :—

"हरिचन्द न काहू को दोष कछू मिलिहै सोइ भाग में जो उतरयो।
सबकों जहाँ भोग मिल्यो वहाँ हाय बियोग हमारे ही बांटे परयो॥"

भारतेन्दु की गोपियाँ बावली नहीं हैं। वे श्रीकृष्ण के सन्देश को, निर्गुण की उपासना को, एकदम त्याज्य नहीं मानती हैं। कहीं ऐसा न हो कि एकदम मना करने से, श्रीकृष्ण उनको अशिष्ट मान कर रुष्ट हो जायें, इसलिए वे बड़े सुन्दर ढंग से प्रत्युत्तर प्रेषित करना चाहती हैं :—

"व्यापक ब्रह्म सबै थल पूरन है हम हूँ पहिचानति हैं।
पैं बिना नँदलाल बिहाल सदा 'हरिचन्द' न ज्ञानहि ठानति हैं॥
तुम ऊधो, यहै कहियो उन सों हम और कछू नहिं जानति हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानति हैं॥"

श्रीकृष्ण को, आगे चलकर, वे ऐसे ऐसे उपालंभ देती हैं कि उनके कान खुल जांय। भ्रमर के रूप में, जिसका प्रवेश परम्परानुसार ही माना गया है, वे श्रीकृष्ण को खरी-खोटी सुनाने में पीछे नहीं रहती हैं :—

"भौंरा रे रस के लोभी तेरो का परमान।
तू रसमस्त फिरत फूलन पर करि अपने मुख गान॥
इत सौं उत डोलत बौरानो किये मधुर मधु पान।
'हरीचन्द' तेरे फंद न भूलूँ बात परी पहिचान॥"

आगे और भी सुनिये :—

"सजन तेरी हो मुख देखे की प्रीत।
तुम अपने जो बन मदमाते, कठिन बिरह की रीत॥
जहाँ मिलत तहँ हँसि हँसि बोलत गावत रस के गीत।
"हरीचंद" घर घर के भौंरा तुम मतलब के मीत॥"

इससे भी अधिक उनको अपनी सौत कुबिजा का बड़ा दुख है। इसीलिये वे श्रीकृष्ण को नितान्त खोटा मानती हैं :—

"खुटाई पोरहि पोर भरी।
हमहि छांड़ि मधुवन में बैठे वरी कूर कुबरी ।।
स्वारथ लोभी, मुँह देखे की हमसों प्रीति करी।
हरीचंद दुगने के ह्वै कै हा हा हम निदरी ।।"

इस घटना का कारण भी वे स्वयं ही प्रस्तुत कर देती हैं। वे मानती हैं कि "नई नौ दिन और पुरानी सौ दिन" तक स्नेह-सगाई चलती है, परन्तु श्रीकृष्ण ने इसके विपरीत ही आचरण किया है :—

"पुरानी परी लाल पहचान।
अब हमकों काहे को चीन्हों प्यारे भये सयान ।।
नई प्रीति नये चाहत वारे तुम हूँ नये सुजान।"

उद्धव के निर्गुण-ज्ञान की बात सुन कर वे सहजरूप में अपनी असमर्थता प्रकट करती हुई कहतीं हैं कि दो चार हृदय भी होते तो एक से निर्गुणोपासना हो जाती, एक घर का काम-काज देख लेता और एक को श्यामसुन्दर को स्नेह में सिक्त कर देतीं—लेकिन मन तो एक ही है, वह भी श्रीकृष्ण चुरा कर ले गये। इतनी शक्ति नहीं है कि चोरी गई वस्तु के अभाव की पूर्ति कर सकें :—

"ऊधौ, जो अनेक मन होते।
तो इक स्याम सुन्दर को देते इक लै जोग सँजोते ।।
इक सौं सब गृह कारज करते, एक सौं धरते ध्यान।
एक सौं स्याम रंग रँगते तजि लोक लाज कुल कान ।।
ह्यां तो हुतो एकही मन सो हरि लै गये चुराई।
'हरीचंद' कोउ और खोजि कै जोग सिखावहु जाई ।।"

वे अपने दृढ़ निश्चय से भी उद्धव को परिचित करा देती हैं कि जहाँ तुम्हारी ज्ञान की गुदड़ी है, आप वहीं पधारिये। यहाँ तुम्हारी शिक्षा का ग्राहक कोई भी नहीं है, क्योंकि यहाँ सभी लोग श्रीकृष्ण के अनन्य प्रेमी हैं। सम्भवत: ऐसा भी हो कि कोई न कोई गोपी तुम्हारा अनुसरण करने वाली मिल जाय, सो भी बात नहीं है, यहाँ तो मंडली की मंडली ही बिगड़ गई है। ब्रज में सभी बावले हो गये हैं :—

"ऊधो जू सूधो गयो वह मारग ज्ञान की तेरे जहां गुदरी है।
कोऊ नहीं सिख मानिहै ह्यां इक श्याम की प्रीति प्रतीति खरी है ॥
ये ब्रजबाल सबै इकसी हरिचंद जू मंडली ही बिगरी है।
एक जो होय तो ज्ञान सिखाइये कूप ही में यहाँ भाँग परी है ।।"

प्रकृति के उद्दीपनान्तर्गत भारतेन्दु ने अत्यन्त भव्य-कल्पनाएँ सजाई हैं। सावन की अँधियारी रात्रि द्रौपदी की साड़ी के समान अनन्त हो गई है। हमारी सम्मति में यहाँ भारतेन्दु भावावेश में सीमा-ज्ञान से बाहर चले गये हैं। द्रौपदी-वस्त्रापहरण तो उद्धव व्रजागमन के पश्चात् हुआ है :—

"घेरि-घेरि घन आये, छाय रहे चहुँ ओर,
कौन हेतु प्राननाथ सुरति बिसारी है।
दामिनि दमक जैसी जुगनू चमक वैसी,
नभ में विसाल बग-पँगति सँवारी है॥
ऐसी समै 'हरिचन्द' धीर न धरत नेकु,
विरह विथा तें होत व्याकुल विचारी है।
प्रीतम पियारे नन्दलाल बिनु हाय यह
सावन की रात किधौं द्रौपदि की सारी है॥"

यही प्राकृतिक दृश्य जो कभी सरस-सुहावने लगते थे, प्रिय-प्रवास के कारण दुखद और अनाकर्षक दिखाई दे रहे हैं। भाव में अभाव का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण भारतेन्दु ने प्रस्तुत किया है। गोपियों के अन्तर में जो विशद-वेदना छिपो है, उसका उपयुक्त उद्घाटन हुआ है :—

"बन बन आगि सी लगाइ कै पलास फूले,
सरसों गुलाब गुललाला कचनारो हाय।
आइ गयो सिर पै चढ़ाय मैन बान निज,
विरहिन दौरि दौरि प्रानन सम्हारो हाय॥
'हरीचंद' कोइलें कुहुकि फिरें बन-बन,
बाजै लाग्यो जग फेरि काम को नगारो हाय।
दूर प्रानप्यारो, काको लीजिये सहारो अब,
आयो फेरि सीस पै बसन्त बजमारो हाय॥"

गोपी अन्त में अपने आत्मसमर्पण की घोषणा करते हुए कह ही देती है कि मैंने लोक-लज्जा आदि सभी को तिलांजलि दे दी है। मेरे प्राणचातक तृषित हैं :—

"पूरन पियूष प्रेम आसव छकी हौं, रोम-
रोम रस भीन्यो सुधि भूली गेह गात की।
लोक परलोक छाँड़ि लाज सौं बदन मोरि,
उघरि नची हौं तजि संक तात मात की॥

हरीचंद एतेहू पै दरस दिखावे क्यों न
तरसत रैन दिना प्यासे प्रान पातको।
एरे व्रजचन्द तेरे मुख की चकोरी हूँ मैं,
एरे घनस्याम तेरे रूप की हौं चातकी।।"

यों तो सूर और नन्ददास के उद्धव भी लौटे हैं और उन्होंने भी श्रीकृष्ण से व्रज-निवास की प्रार्थना की है, परन्तु भारतेन्दु के उद्धव तो इन सबसे अधिक खीझे हुए जान पड़ते हैं, तभी तो वे श्रीकृष्ण से पूछते हैं :—

"आँसुन को नीर जब बाढ़ैगो समुद्र तवै,
कच्छ रूप धरौगे कै मच्छ रूप धारौगे ?"

तात्पर्य यही है कि गोपियों के नैन-नीर-निधि में डूबने से बच निकलने का कोई उपाय काम नहीं आवेगा, अतएव वृन्दावन चलना ही उचित है।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—भारतेन्दु के समकालीन कवियों और लेखकों में चौधरी महोदय का प्रमुख स्थान है। भारतेन्दु को सहयोगियों का अभाव नहीं रहा और सभी ने उनके पुण्य-नेतृत्व में सत्यता से सहयोग प्रदान किया। प्रेमघन जी उनके अनुयायी थे, इसलिए उनके गद्य और पद्य दोनों पर ही भारतेन्दु की शैली का प्रभाव है।

आपने भी मुक्तक छन्दों में, इस विषय पर लिखा है। श्याम-सन्देश उद्धव लेकर आये हैं, परन्तु गोपियों को विश्वास नहीं होता। उद्धव के निर्गुण की गाथा सुनकर वे प्रसन्न नहीं होती हैं और झुँझलाकर उद्धव को डाट देती हैं :—

"बादिह बढ़ाओ बक वादिहि छुटै ना प्रीति,
चन्द की चकोर की औ सुमन मलिन्द की।
लागी मोहि चाह की चुड़ैल कछु ऐसी भगी,
भमरि कै जासौं लाज गुरजन-वृन्द की।।
'प्रेमघन' प्रेम मदिरा की मतवारी होय,
खोये बुधि चेली भई मैं मनोजरिन्द की।
भूल्यो उभय लोक सोक बीर जबहीं सौं आनि,
बसी मन मेरे बाँकी मूरति गुविन्द की।।"

गोपियाँ विश्वास नहीं कर पाती हैं कि श्रीकृष्ण ने कुब्जा का वरण किया होगा परन्तु यह आश्चर्य नहीं है कि उस जादूगरनी ने सीधे-सादे माधव को बस में कर ही लिया होगा। श्रीकृष्ण इस वशीकरण की तात्कालिक मान्यता का अनुपम उदाहरण है :—

"कहावत तौ हूँ स्याम सुजान ।
प्रीति करी कुब्जा दासी सँग सब अवगुन की खान ।।
तजि राधारानी सी रमनी के उर अन्तर ध्यान ।
कहँ ब्रजराज कहाँ वह डाइन यह अचरज महान ।।
श्री 'बद्रीनारायन' जू ये कठिन लगन लगि जान ।।"

गोपियाँ तो केवल अपने प्रियतम की चर्चा में ही अभिरुचि रखती हैं। उनके हृदय को उद्धव का ज्ञानोपदेश सरसता प्रदान नहीं कर पाता है। वे मानती हैं कि श्रीकृष्ण का संदेश निर्गुणोपासना के पक्ष में हो ही नहीं सकता :—

"ऊधौ, बात कही कछु नीकी ।
सुन्दर श्याम मदन मोहन की, माधव प्यारे, पी की ।।
सानि-सानि जनि ज्ञान मिलावहु, भाखौ उनके जी की ।
हम प्रेमिन तजि प्रेम नेम नहिं मानत बतियाँ फीकी ।।
बरसाओ रस-प्रेम 'प्रेमघन' और लगें सब फीकी ।"

उद्धव के लौटने का प्रसंग उपलब्ध नहीं है। इस युग के अन्य कवियों ने भी यत्र-तत्र दो-चार छन्द ही लिखे हैं जो क्रम-विहीन तथा अप्रासंगिक हैं।

सन् १८५७ ई० में प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का सूत्रपात हुआ था। उस समय भारतेन्दु नितान्त शैशवावस्था में थे। वयस्क होने तक राष्ट्रीयता की भावना भी सबल हो चुकी थी। इसकी ध्वनि उनके काव्य में भी सुनाई पड़ती है। भक्तिकाल से वर्तमान काल तक प्रवहमान भ्रमर-गीत की परम्परा में परिवर्तन तो नहीं हुआ परन्तु उसमें राष्ट्रीयता का समावेश होगया।

सत्यनारायण कविरत्न—इस दिशा में आपका प्रयास नितान्त मौलिक तथा क्रान्तिकारी माने जाने योग्य है। आगरा शहर से कई मील दूर पर रहने वाले ग्रामीण-कवि ने रूढ़ि को छोड़कर जिस नवीनता का मार्ग प्रदर्शन किया, वह अति आदरणीय है। सत्यनारायण जी के भ्रमर-गीत में न तो गोपियाँ है, न उद्धव हैं और न सगुण-निर्गुण का विवाद है ।केवल मा है यशोदा, जो गँवारिन है, उसके संदेश में एक पीड़ा है—मानों वह तत्कालीन पराधीन भारतमाता का प्रतीक है :—

"जननी जन्मभूमि सुनियत स्वर्गहु सों प्यारी ।
सो तजि सबरो मोह साँवरे तुमनि बिसारी ।।
का तुम्हारी गति मति भई जो ऐसौ बरताव ।
किधौं नीति बदली नई, ताकौ परयो प्रभाव ।।
कुटिल विष कौं भरयो ।।"

श्रीकृष्ण द्वारिका चले गये हैं। क्यों गये हैं, इसका विवरण आरंभ में ही कवि ने दे दिया है कि उसमें लोक-कल्याण की भावना ही अधिक थी :—

"कंस-मारि भू-भार उतारन खल दल तारन।
विस्तारन विज्ञान विमल श्रुति-सेतु-सँवारन ॥
जन-मन-रंजन सोहना, गुन-आगर चित चोर।
भव-भय भंजन मोहना, नागर नंद-किसोर ॥
गयो जब द्वारिका।।"

इसके पश्चात् प्रिय-पुत्र के विरह में व्यथित यशोदा का अत्यन्त सफल चित्रण किया गया है :—

"बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति माई।
श्याम-विरह अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई ॥
जिय प्रिय हरि-दरसन बिना, छिन-छिन परम अधीर।
सोचति मोचति निसि दिना, निसरत नैननु नीर ॥
बिकल, कल ना हिये।।"

सावन का महीना है। नवीन घनों की पंक्तियाँ दिखाई दे रही हैं। ताल-तलाव भर चले हैं। दादुर बोल रहे हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य चुआ पड़ रहा है। "धोये-धोये पातन की अनुपम कमनाई" है। चातक कोयल बोल रहे हैं। इन्द्रधनुष तथा इन्द्र वधूटियों की शोभा मुग्ध कर रही है। बालिकाएँ हिंडोलों पर झूल रही हैं। भातृ-प्रेम-सरसावनी मल्हार गा रही हैं। बालक-वृन्द भी भौंरा-चकई खेल रहे हैं, उसी समय यशोदा का हृदय श्रीकृष्ण को स्मरण करता है और वह व्याकुल हो उठती हैं :—

"लखि यह सुखमा-जाल लाल निज बिनु नँदरानी।
हरि सुधि उमड़ी घुमड़ी तन उर अति अकुलानी ॥
सुधि-बुधि तज माथो पकरि, करि-करि सोच अपार।
दृग जल मिस मानहुँ निकरि, वही बिरह की धार ॥
कृष्ण रटना लगी।।"

यह मा का हृदय है। भावना से भरित, स्नेह से पूर्ण। उसमें श्रीकृष्ण का वात्सल्य रूप ही प्रधान है। माता निरक्षर है, अतएव श्याम के पास संदेश कैसे भेजे, यह भी एक समस्या है :—

पढ़ी न अक्षर एक, ज्ञान सपने ना पायो।
दूध दही चारत में, सबरो जनम गँवायो ॥

मात पिता बैरी भये, शिक्षा दई न मोहि ।
सबरे दिन यों ही गये, कहा कहे तें होहि ।।
मनहि मन में रही ।।"

यशोदा साधारण मा नहीं है। वह तत्कालीन भारतीय सामाजिक स्थिति का प्रतीक है, जहाँ नारियों को शिक्षित बनाना पाप समझा जाता था। कवि ने इस दोष पर कड़ी भर्त्सना करते हुए यशोदा से कहलवाया है :—

"नारी शिक्षा निरादरत जे लोग अनारी ।
ते स्वदेस अवनति प्रचंड-पातक अधिकारी ।।
निरखि हाल मेरो प्रथम, लेउ समुझि, सब कोई ।
विद्या-बल लहि मति परम अबला सबला होइ ।।
लखो अजमाइ कै ।"

इन पंक्तियों में प्रगतिशीलता का संदेश है। नारी-जाति की समुन्नति की महान् अभिलाषा अन्तर्निहित है। नारियों को शिक्षिता-पंडिता क्यों होना चाहिये उसके प्रति अकाट्य तर्क उपस्थित करती हुई यशोदा कहती हैं :—

"सुनी गरग सों अनुसूया की पुण्य कहानी ।
सीता सती पुनीता की सुठि कथा पुरानी ।।
विशद-ब्रह्म-विद्या पगी मैत्रेयी तिय-रत्न ।
शास्त्र-पारगी गारगी, मन्दालसा सयत्न ।।
पढ़ीं सबकी सबै ।"

सत्यनारायण जी ने भ्रमर का प्रवेश जिस ढंग से कराया है, वह भी उनकी कवि-प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण हैं। 'भक्त के बस में हैं भगवान' ऐसा माना जाता है और श्रीकृष्ण ने स्वयं स्वीकार भी किया है—"हम भक्तन के भक्त हमारे।" इसी भावना के आधार पर यशोदा का विरह-विलाप द्वारिकाधीश को भ्रमर के रूप में पधारने को बाध्य करता है:—

"अति उदास, बिनु आस, सबै तन सुरति भुलानी ।
पूत प्रेम सों भरी परम दरसन ललचानी ।।
बिलपति कलपति अति जबै, लखि जननी निज श्याम ।
भगत भगत आये तबै, भाये मन अभिराम ।।
भ्रमर के रूप में ।।"

"भगत भगत आये" शब्दों का सौन्दर्य अवलोकनीय है। भक्तों के भक्त आये

अथवा दौड़े-दौड़े चले आये—कैसा सुन्दर श्लेष है। कवि का कार्य अत्यन्त सरल हो गया। भ्रमर रूप में जब श्रीकृष्ण ही आगये तो उपालंभों को "द्राविड़ी प्राणायाम" करने की आवश्यकता नहीं रही। परन्तु भ्रमर झिझक गया। वह यशोदा के दुख से दुखी हो गया:—

"ठिठक्यो, अटक्यो भ्रमर, देखि जसुमति महरानी।
निज-दुख सों अति दुखी ताहि मन में अनुमानी॥"

सहानुभूति का संचरण देखकर यशोदा का मातृ-स्नेह उबल पड़ा।

"तिहि दिसि चितवति चकित चित, सजल जुगल भरि नैन।
हरि-वियोग-कातर अमित, आरत गदगद बैन॥
कहन तासों लगी।"

"तेरो तन घनश्याम, श्याम घनश्याम उतें मुनि।
तेरी गुंजनि मुरलि मधुप, उत मधुर मुरलि धुनि॥
पीत रेख तव कटि बसत, उत पीताम्बर चारु।
विपिन विहारी दोउ लसत, एक रूप सिंगार॥
जुगल रस के चखा।"

दोनों में अनुपम साम्य है। शरीर के रंग का, वाणी का और स्वभाव का, तभी यशोदा षट्पद को अपना दूत बना लेती है:—

"याही कारन निज प्यारे ढिग तोहि पठाऊँ।
कहियो वा सौं विथा सबै जो अबै सुनाऊँ॥
जैयो षटपद धाय कै, करि निज कृपा बिसेस।
लैयो काज बनाय कै, दै मो यह सन्देश॥
सिदौसी लौटियो॥"

इसके पश्चात् यशोदा कहती हैं कि साज-सामान तो वही है परन्तु प्रिय-पुत्र के अभाव में सबकुछ सूना-सूना सा लग रहा है:—

"वुही कालिन्दी कूल कदम्बन के बन छाये।
बरन-बरन के लता भवन मनहरन सुहाये॥
वुही कुन्द की कुंज ये, परम प्रमोद समाज।
पै मुकुन्द बिनु बिस-मये, सारे सुखमा साज॥
चित्त वौं ही धरयो॥"

प्रकृति की संवेदनशीलता भी कवि के चतुर नेत्रों से छिपी नहीं रह सकी है।

"लगत पलास उदास, शोक में अशोक भारी।
बौरे बने रसाल, माधवी लता दुखारी॥
तजि तजि निज प्रफुलित पनौं, विरह-बिथित अकुलात।
जड़ हू हैं चेतन ह्वै मनौं, दीन मलीन लखात॥
एक माधौ बिना॥"

तात्कालिक राजनीति का कैसा सुन्दर और सरस विश्लेषण कवि ने किया है। नेताओं का अभाव, परतंत्रता सभी कुछ दुखदायी हैं:—

"वा बिनु को ग्वालन को हित की बात सुझावैं।
अरु स्वतंत्रता, समता, सह भ्रातृता सिखावैं॥
यदपि सकल विधि ये सहत दारुण अत्याचार।
पै न कछु मुख सों कहत, कोरे बने गँवार॥
कोउ अगुआ नहीं॥"

अत्याचारों से यहाँ राजनैतिक-दमन से ही तात्पर्य हैं। भारतीयों का सांस्कृतिक ह्रास जिस सीमा तक पराधीनता में हुआ, उसकी प्रबल प्रतिध्वनि इन पंक्तियों से प्रकट हो रही है—

नहिं जातीय भेप भावनु की आशा कोऊ।
लखियत जो ब्रज भापा, जाति हिरानी सोऊ॥
आस्तिक बुधि वन्धनन से, बिगरी सब मरजाद॥
सब काऊ के हिय बसे न्यारे-न्यारे स्वाद॥
अनोखे ढंग के॥

एक समय ऐसा ही था जब पश्चिमीय वेष-भूषा पर तिलक लगाने की भी प्रथा थी। 'स्वाद' में से अर्द्ध सकार हटा दें तो वर्तमानकाल पर भी यह पंक्ति उपयुक्त हो जायगी जहाँ 'वादों' का ही विवाद-प्रमाद प्रधान हैं।

नारियों में जिस उच्छृंखलता ने निवास कर लिया है, उस पर तो सत्यनारायण जी की निम्न पंक्तियाँ सदैव अमर रहेंगी—

अबकी गोपी मदभरी, अधर चलै इतराय।
चार दिना की छोहरी, गई ऐसी गरबाय॥
जहाँ देखौ तहाँ॥

काले और गोरे का विभेद युग-युग से चला आरहा है। गौरांग महाप्रभुओं ने अश्वेत लोगों को सदैव ही निम्नस्थ माना है। आज भी मुँह से चाहे जो कुछ कहें, गोरों का अन्तर काला ही मिलेगा। इस विषय पर बड़ी ही सुन्दर उत्प्रेक्षा है:—

"गोरी कौं गोरे लागत जग अति ही प्यारे।
मो कारी कौं कारे तुम नयननु के तारे॥
उनको तो संसार है, मो दुखिया को कौंन।
कहिये कहा विचार है॥"

इसी प्रकार उन देश-भक्तों की विशाल-विपत्ति का आभास भी अन्तिम पद में मिलता है, जो देश के स्वातन्त्र्य-युद्ध के सेनापति रहे हैं और जिनको अपने लक्ष्य की सिद्धि हेतु विदेशों में प्रवास करना पड़ा है। यह सत्यनारायण के अपूर्ण भ्रमरगीत का अन्तिम पद से पहला पद है, जिसमें उनके हृदय की भी मार्मिक व्यथा छिपी हुई है :—

"जे तजि मातृभूमि सौं ममता, होत प्रवासी।
तिन्हें बिदेसी तंग करत दै विपदा खासी॥
नहिं आये—निरदय दई, आये-गौरव जाय।
साँप छछूंदर गति भई, मन ही मन अकुलाय॥
रहे सब के सबै।"

अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"—आपने प्रिय-प्रवास के नाम से जिस खण्ड-काव्य की रचना की है, उसमें देश-प्रेम और राष्ट्रीयता के साथ ही साथ मूल प्रसंग की सरसता और प्राचीन परम्परा का निर्वाह भी किया गया है। हरिऔध जी की ईश्वर-विषयक भावना आरंभ में तो अवतारवाद को मानने वाली थी परन्तु अपने गुरु बाबा सुमेरसिंह आदि सज्जनों के संसर्ग से उनका झुकाव ब्रह्मत्व की ओर होगया और वे निराकर को भी प्रश्रय देने लगे। प्रिय-प्रवास में उन्होंने श्रीकृष्ण को परमात्मा का अवतार नहीं माना है वरन् एक अलौकिक-शक्ति तथा प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुष स्वीकार किया है और इसी प्रकार राधा को भी चिर-कौमार-व्रती चित्रित करके स्वकीया-परकीया का विवाद समाप्त कर दिया हैं। गोपियों में भी वासनात्मक विचारों का अभाव है और वे श्रीकृष्ण के प्रति शुद्ध वात्सल्य से अनुप्राणित हैं। इस प्रकार "हरिऔध" जी ने, इस परम्परा में नवीनता को जन्म देकर अपनी मौलिकता से सप्राण कर दिया है। प्राचीन परिपाटी की रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करके एक नवीन क्रान्तिदर्शी पथ का प्रदर्शन् किया है।

समस्त काव्य सप्तदश सर्गों में समाप्त हुआ है। पहले सर्ग में दिवसावसान के साथ ही साथ ब्रजभूमि का वर्णन है। दूसरे सर्ग में श्रीकृष्ण द्वारा विभिन्न राक्षसों के वध का विवरण है। तीसरे सर्ग में यशोदा के मातृ-हृदय का चित्रण है। चौथे सर्ग में राधा का परिचय दिया गया है :—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-विम्बानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली॥

शोभा-वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य-लीला-मयी ।
श्री राधामृदुभाषिणी मृग-दृगी माधुर्य-सन्मूर्त्ति थी।"

साथ ही उनके बाल-स्नेह की परिणति प्रणय में होने की सूचना भी दी है। पाँचवे सर्ग में ब्रज-विषाद तथा अक्रूर के साथ मथुरा गमन दिखाया गया है। छठवें सर्ग में हरिऔध जी ने अपनी कवि-कल्पना-प्रसूत प्रतिभा का परिचय देते हुए 'पवन-दूत' की सृष्टि की है। प्रातः काल की सुखद-वायु का स्पर्श पाकर व्याकुल होकर पहले तो उसे ताना-उलाहना देती है, पश्चात् अपना विरह संदेश श्याम तक पहुँचाने की प्रार्थना भी करती है :—

"मैं रो-रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूँ।
जा के मेरी सब दुख कथा श्याम को तू सुनादे ॥"

गोपियों के भ्रमर-गीत के स्थान पर हरिऔध जी का पवन-दूत भी अत्यन्त आकर्षक है। महाकवि कालिदास के मेघदूत का जैसा आनंद सर्वत्र ही मिलता है। दो चार पदों का रसास्वादन अप्रासंगिक नहीं होगा :—

"कालिन्दी के तट पर घने रम्य उद्यानवाला।
ऊँचे ऊँचे धवल-गृह की पंक्तियों से प्रशोभी ॥
जो है न्यारा नगर मथुरा प्राणप्यारा वहीं है।
मेरा सूना सदन तज के तू वहाँ शीघ्र ही जा ॥६६॥'
संलग्ना हो सुखद जल के श्रान्तिहारी कणों से।
ले के नाना कुसुमकुल का गंध आमोदकारी ॥
निर्धूली हो गमन करना उद्धता भी न होना।
आते जाते पथिक जिससे पंथ में शान्ति पावें ॥४०॥"

सातवें सर्ग में नंद का ब्रज वापस आना तथा यशोदा-विलाप दिया गया है। आठवें सर्ग में श्रीकृष्ण गुणानुवाद हैं। नवें सर्ग से भ्रमर-गीत की भूमिका आरंभ होती है।

"एकाकी ब्रजदेव एक दिन थे बैठे हुए सद्म में।
उत्सन्ना ब्रज भूमि के स्मरण से उद्विग्नता थी बड़ी।"

तभी उद्धव पधारे और पूछने पर श्रीकृष्ण ने अपनी पीड़ा का सविस्तार वर्णन किया।—

"शोभा-अद्भुत-शालिनी-ब्रजधरा प्यारी पगी-गोपिका।
माता प्रीतिमयी सनेह-प्रतिमा, वात्सल्य धाता पिता॥
प्यारे गोप-कुमार, प्रेम-मणि के पाथोधि से गोप वे।
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है महा॥"

उद्धव न तो श्रीकृष्ण को ज्ञानोपदेश करते हैं और न अपने ज्ञान का अभिमान ही प्रगट करते हैं। श्रीकृष्ण उनको व्रज जाने का आदेश स्वयं ही देते हुए दिखाई पड़ते हैं :—

"ऊधो दग्ध वियोग से व्रजधरा है हो रही नित्यशः।
जाओ सिक्त करो उसे सदय हो आमूल ज्ञानाम्बु से ।।
पावें शान्ति समस्त लोग न जलें मेरे वियोगाग्नि में।
ऐसे ही वर-ज्ञान तात व्रज को देना बताना क्रिया।"

राधा को श्रीकृष्ण ने पृथकरूप से संदेश भेजना उचित समझा है। क्योंकि वह साधारण कृष्ण-प्रेमिका नही है। वह नारी जाति की शोभा है।

"जो राधा वृषभानु-भूप तनया स्वर्गीय दिव्यांगना।
शोभा है व्रज प्रान्त की, अवनि की, स्त्री जाति की, वंश की ।।"

उद्धव व्रज को चल पड़ते हैं। मार्ग में अत्यन्त आकर्षक प्राकृतिक छटाएं देखते हैं। प्रकृति का ऐसा मनोहारी तथा सर्वांग सुन्दर वर्णन हिन्दी-साहित्य में बहुत कम हुआ है। सर्वत्र ही हरिऔधजी की मौलिकता के दर्शन सुलभ हैं। उद्धव को अचिन्त्य-गुण-गान होता हुआ भी दिखाई दे रहा है:—

"होता निर्झर का प्रवाह-जब था सावर्त उद्भिन्न हो।
तो होती उसमें अपूर्व ध्वनि थी उन्मादिनी कर्ण की ।।
मानों यों वह था सहर्ष कहता सत्कीर्ति शैलेश की।
या गाता गुण था अचिन्त्य-गति का सानंद सत्कण्ठ से ।।"

प्रकृति में सांसारिक अनित्यता भी प्रतिभासित हो रही है :—

"जो छींटें उड़ती असंख्य नभ में, थीं दृष्टि को मोहती।
शोभा थी अति ही अपूर्व उनके उत्थान की पतन की ।।"

इतना नहीं कि श्रीकृष्ण वियोग में व्रज-जन ही व्याकुल हों, प्रकृति भी उनकी सहचारिणी है। अटल गोवर्द्धन भी रोता दिखाई पड़ रहा है :—

"या है भूधर सानुराग द्रवता, अंकस्थितों के लिये।
आँसू है वह ढालता विरह से किम्बा व्रजाधीश के ।।"

उद्धव की सूक्ष्म दृष्टि प्रकृति के अन्तर तक पहुँच रही थी। उन्हें यत्र तंत्र सर्वत्र ही विषाद की छाया दिखाई पड़ रही थी :—

परन्तु वे पादप में, प्रसून में
फलों, दलों बेलि लता समूह में।

सरोवरों में, सरि में, सुमेरु में,
खगों, मृगों में, वन में निकुंज में ।।
बसी हुई एक निगूढ़ खिन्नता
विलोकते थे निज सूक्ष्म-दृष्टि से ।।''

रथ जब दृष्टिगोचर हुआ तो ग्वाल-बाल दौड़ पड़े । परन्तु श्यामसुन्दर को न पाकर विषाद-मग्न हो गये । ऐसी दशा मानवों की ही नहीं पशुओं तक की थी ।

अनेक गायें तृण त्याग दौड़तीं,
सवत्स जातीं वर-यान पास थीं ।
परन्तु पातीं जब थीं न श्याम को,
विषादिता हो पड़ती नितान्त थीं ।।

गोपियों को भी निराशा ही हाथ में आई । नंद ने पत्थर का हृदय बनाकर उद्धव का स्वागत किया, परन्तु लोगों में चिन्ता भी दौड़ गई :—

''वह परम अनूठे रत्न को ले गया था ।
अब यह व्रज आया कौन सा रत्न लेने ?''

दसवें सर्ग में, तीन घड़ी रात्रि के पश्चात् उद्धव तथा यशोदा का सम्वाद आरम्भ हुआ । उद्धव ने सान्त्वना के हेतु कुछ कहा, परन्तु वह कथन क्या था, इस प्रसंग में कवि मौन है । यशोदा ने प्रत्युतर में कहा कि पानी के नाम से ही तो प्यास नहीं बुझ सकती है :—

''प्यासे की है न जल-कण से दूर होती पिपासा ।
सम्वादों से न अभिलाषा शान्ति पाता वियोगी ।''

इसके अतिरिक्त सम्वाद भी कहाँ तक सुनें :—

''सम्वादों से श्रवण-पुट भी पूर्ण से हो गये हैं ।
थोड़ा भी है न अब उनमें स्थान-सन्देश छूटा ।।''

यशोदा अपने मातृ-हृदय पर अत्यन्त गर्विता है :—

''सदय-हृदय ऊधो श्याम का है बड़ा ही ।
अहह हृदय मा के तुल्य तो भी नहीं है ।।''

इसके पश्चात् तो जैसे यशोदा की वाणी खुल जाती है । वह नाना प्रकार के प्रश्न करके श्याम का कुशल-समाचार पूछती है । उनके गुणों का स्मरण करके दुखी होती हैं और इसी प्रकार वह रात्रि व्यतीत हो जाती है ।

ग्यारहवें सर्ग में गोपों से भेंट होती है और बाल-वृद्ध सभी श्रीकृष्ण-गुणावली

का कथन करते हैं। बारहवें सर्ग में आभीरों के एक नवीन दल से उनका साक्षात्कार होता है, वह भी कृष्णानुराग का वर्णन करता है। तेरहवें सर्ग में वे गो-चारण में संलग्न गोप-कुमारों की मण्डली में पधारते हैं। वे भी श्रीकृष्ण के प्रति अपना स्नेहाधिपत्य स्थापित करते हैं :—

"मुकुन्द चाहे वसुदेव पुत्र हों,
कुमार होवें अथवा व्रजेश के।
बिके उन्हीं के कर सर्व गोप हैं,
बसे हुए हैं मन नेत्र में वही ॥"

गोप यह भी जानते हैं कि वे गो-चारण में किस उद्देश्य से आते थे :—

"परन्तु आते बन में समोद वे,
अनन्त ज्ञानार्जन के लिए स्वयं।
तथा उन्हें वांछित थी नितान्त ही
वनान्त में हिंसक-जन्तु हीनता।"

श्रीकृष्ण की यह वीर-गाथा उनके परम सखा श्रीदामा ने सुनाई। इसके पश्चात् एक दूसरे ग्वाल ने गुणानुवाद आरम्भ कर दिया। चौदहवें सर्ग में, गोपियों का विरह निवेदन है और रास-क्रीड़ा की कथा का व्यथापूर्ण वर्णन भी है।

एक दिन उद्धव कालिन्दी-कूल पर एक कुंज में बैठे हुए थे, तभी गोपियों से उनका साक्षात्कार हुआ। सूर की गोपियों की तरह वे दौड़कर नहीं आती हैं परन्तु

"आंई बामा कतिपय इसी काल कूलार्कजा के।
आशाओं को ध्वनित करके पाँव के नूपुरों से ॥"

परन्तु हृदय और नेत्र दोनों ही असीम वेदना से पूरित हैं

"ज्यों ज्यों लज्जा विवश वह थी रोकती बारिधारा।
त्यों त्यों आँसू अधिकतर थे लोचनों मध्य आते ॥"

उनके अनुपमेय विरह-विलाप को देखकर उद्धव का धीरज भी उनका साथ छोड़ गया। उस करुणा क्रन्दन से प्रभावित हो, वे स्वयं उनके पास आये :—

"ऐसा न्यारा विरह उनका देख उन्मादकारी।
धीरे ऊधो निकट उनके, कुंज को त्याग, आये ॥"

ऊधो को अपने मध्य में पाकर गोपीजनों का दुख का वेग प्रशमित हो गया। उन सबने मिष्ट भाषण से उद्धव को आदरित किया। उद्धव ने अपना ज्ञानोपदेश आरम्भ करते हुए कहा कि समय की गति अत्यन्त गूढ़ है। श्रीकृष्ण आ सकेंगे या नहीं आ सकेंगे उस दुखपूर्ण प्रश्न की विवेचना मैं नहीं करना चाहता हूँ :—

"बोले ऊधो, समय गति है गूढ़, अज्ञात वेंड़ी।
आवेंगे या न अब ब्रज में आ सकेंगे विहारी।
हा ! मीमांसा इस दुख-पगे प्रश्न की क्यों करूँ मैं।"

उद्धव ने श्रीकृष्ण के ब्रज-प्रेम का विशद वर्णन किया और यह भी कहा कि उन्होंने किसी को भी विस्मृत नहीं किया है परन्तु उनके साथ भी कुछ परिमितियाँ है, जो पैरों में बन्धन बन जाती हैं :—

"वे जी से हैं ब्रज अवनि के सर्वथा श्रेय चाही।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा।।"
जो आजाता जगत हित है सामने लोचनों के।
हैं योगी लौं दमन करते लोक-सेवा लिये वे।
प्यारी प्यारी हृदय तल की सैंकड़ों लालसाएँ।।"

इस प्रकार विश्व प्रेम की ओर उन्मुख श्रीकृष्ण का चित्रण भी हरिऔध जी जैसे महान कवि की देन है। उन्होंने आगे के दस-बारह पदों में श्रीकृष्ण के विश्व प्रेम का और कर्तव्य का सरस वर्णन करके प्राचीन परिपाटी को नया रूप दे दिया है। अतएव उनके इस पावन-यज्ञ में गोपियों को अपना सहयोग प्रदान करना ही उचित है। यदि कभी किसी दुर्दैव का सामना करना ही पड़े तो हे गोपियो ! आत्मबल से संघर्ष-रत हो जाना यही श्रीकृष्ण का पावन-सन्देश है :—

"जो ऐसा ही कु-दिन ब्रज का मेदिनी-मध्य आवे।
तो थोड़ा भी हृदय-बल को गोपियों ! खो न देना।।"

उद्धव कहते हैं कि यदि तुम दुखी हो तो श्यामसुन्दर भी सुखी नहीं हैं। यह सांसारिक रीति है कि :—

"प्रायः होता हृदय तल है एक ही मानवों का।
जो पाता है न सुख यक तो अन्य भी है न पाता।।"

इसलिए यदि गोपियाँ व्याकुल-मना ही रहेंगी तो श्रीकृष्ण भी खिन्न हृदय बने रहेंगे। इससे विश्व-सेवा में बड़ी बाधा पड़ेगी :—

यों ही रो-रो सकल ब्रज जो दग्ध होता रहेगा।
तो आवेगा ब्रज अधिप के चित्त को चैन कैसे।।"
"जो होवेगा न चित उनका शान्त, स्वच्छन्दचारी।
तो वे कैसे जगत् हित को चारुता से करेंगे।।"
"धीरे-धीरे भ्रमित-मन को योग द्वारा सम्हालो।"

केवल एक पंक्ति में हरिऔधजी ने योग की बात बताई है। क्रियाओं के सम्बन्ध में वे मौन हैं। गोपियाँ इतनी-सी बात भी नहीं जानती हैं और कहती हैं कि हम मूर्खाएँ आपकी गूढ़-वाणी को नहीं समझ पाती हैं :—

"हो जाते हैं भ्रमित जिसमें भूरि-ज्ञानी मनीषी।
कैसे होगा सुगम पथ सो मंद-धी नारियों को।।"

श्रीकृष्ण को विस्मृत करने में भी वे नितान्त असमर्थ हैं और इसका कारण भी वे प्रस्तुत करती है :—

"भूला जाता वह सजन है चित्त में जो बसा हो।
देखी जाके सुछवि जिसकी लोचनों में रमी हो।।
कैसे भूले कुँवर जिसमें चित्त ही जा बसा है।
प्यारी शोभा निरख जिसकी आप आँखें रमी हैं।।"

इसके पश्चात् गोपियों ने विस्तार से श्रीकृष्ण-प्रवास के पश्चात् प्राप्त दुखों का वर्णन किया है और घनश्याम को लौटा लाने का पवित्र आग्रह करते हुए ब्रज को पुनर्जीवन प्रदान करने की प्रार्थना की है।

गोपियों की विरह-पूरित बातें सुनकर उद्धव सन्ध्या के समय विदा लेते हैं। पन्द्रहवें सर्ग में गोपियों के विस्तृत विरह-विलाप को स्थान दिया गया है। सोलहवें सर्ग में, बसन्तागमन का वर्णन है। उद्धव वृषभानु के घर, श्रीराधा के प्रबोधनार्थ जाते हैं। उद्धव को वे अपने शान्त-कुंज में सादर बिठाती हैं और प्रियतम श्रीकृष्ण का सन्देश सुनती हैं। इन पदों के द्वारा श्रीकृष्ण के लोक-सेवा और विश्व-प्रेम का महत्व स्थापित किया गया है:—

"जी से प्यारा जगत हित औ लोक सेवा जिसे है।
प्यारी, सच्चा अवनितल में, आत्म त्यागी वही है॥"

राधा ने सबकुछ सुना, समझा और श्याम-सन्देश के हित उद्धव के प्रति आभार भी प्रदर्शन किया। यह भी कहा कि मैं अपने प्रिय को पूर्ण रूप से जानती हूँ:—

पूरा-पूरा परम प्रिय का मर्म्म मैं बूझती हूँ।
है जो बांछा विशद उर में जानती भी उसे हूँ।।

हरिऔधजी की राधा मानवी है, अतः उसमें प्रबल आकांक्षाओं का होना स्वाभाविक है:—

"जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ।
तो उत्कंठा-विवश चित्त में आज भी सोचती हूँ।।

होते मेरे निवल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं समुद उड़ती श्याम के पास जाती।।"
मैं छू आती परम-प्रिय के मंजु-पादाम्बुजों को।"

आगे चलकर राधा सर्वत्र ही अपने प्रियतम की छवि निरखती और परखती है, उसे संसार श्याममय ही दिखाई देता है। वह उनकी हितैषिणी है, प्रिय जहाँ भी रहे सुखी रहे यही एक कामना है:—

"प्यारे आवें सु-बयन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठंडे होवें नयन, दुख हो दूर मैं मोद पाऊँ।।
ए भी हैं भाव सम उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग हित करें गेह चाहे न आवें।।"
"पाती हूँ विश्व प्रियतम में, विश्व में प्राणप्यारा।
ऐसा मैंने जगतपति को श्याम में है विलोका।।"

विश्व-प्रेम के शुद्ध-सिद्धान्त को नवधा-भक्ति के आरोप द्वारा राधा ने सिद्ध किया। दोनों को एक ही पथ का अनुसरण करने का सौभाग्य मिला है, यह भी शुभ है। यही तो स्वर्ण-सुगंध-संयोग है।

राधा की अन्तिम आकांक्षा यही है:—

"मेरा कौमार-व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे।।
आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।

और तब:—"चरण की रज से हरि-बन्धु भी,
परम शान्ति समेत विदा हुए।।"

अन्तिम सत्रहवें सर्ग में, ऊधव छह मास पश्चात् मथुरा लौट आते हैं और उसके पश्चात्:—

"आया कोई न फिर व्रज में, औ न गोपाल आये।
धीरे-धीरे निशि-दिन लगे बीतने, क्लेश डूबे।।"

आगे जरासन्ध-पराजय का वर्णन है तथा राधा के द्वारा व्रज-वासियों की सेवा-सुश्रूषा और सान्त्वना प्रदान करने की कथा कह कर कवि ने विराम ग्रहण कर लिया है।

सूरदास और नंददास की गोपियों ने जो कुछ कहा है, वह सब हरिऔधजी की राधा ने कह सुनाया है। यह बात विशेष है कि हरिऔधजी के उद्धव निर्गुण-मतवाद के समर्थक नहीं दिखाई पड़ते हैं न गोपियों में चंचलता है और न

राधा में । कामोत्तेजना प्रधान नहीं है बल्कि वे कौमार-व्रत की सफलता की याचिका हैं ।

पन्द्रहवें सर्ग में, जहाँ एक गोपी प्रकृति के प्रति अपना विरह निवेदन कर रही है और उद्धव छिप कर सुन रहे हैं, वह चम्पा के पुष्प से पूछती है कि वह भ्रमर से क्यों सम्मानित नहीं हैः—

"सर्वांगों में सरस रज औ' धूलियों को लपेटे ।
जो पुष्पों में सविधि करता गर्भ आधान जो है ।।
जो ज्ञाता है मधुर रस का मंजु जो गूंजता है ।
ऐसे प्यारे रसिक अलि से तू असम्मानिता है ।।"

इसी समय वह भ्रमर को उड़ता हुआ देखती है तभी वह कहती हैः —

अलि, अब मत जा कुंज में मालती की,
सुन मुझ अकुलाती ऊवती की व्यथाएं ।

इसके पश्चात् विरहिणी-व्रजाँगना अपना कष्ट निवेदन करती है । वह पिकी को संदेश-वाहिका बना कर भेजती है :—

"अतः प्रिये तू मथुरा तुरन्त जा,
सुना स्व-वेधी-स्वर जीवितेश को ।
अभिज्ञ वे हों जिससे वियोग की,
कठोरता, व्यापकता, गंभीरता ।।"

भ्रमर गीत का रूढ़ि बद्ध चित्रण कहीं भी प्राप्य नहीं है ।

मैथिलीशरण गुप्त—आगरा विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट् की सम्मानोपाधि से विभूषित गुप्तजी श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी-युग की साहित्यिक देन हैं । आपने 'द्वापर' खण्ड-काव्य में कुछ पद भ्रमर सम्बन्धी लिखे हैं ।

इस दिशा में सत्यनारायणजी की शैली को बल नहीं मिला और हरिऔध के समान विश्वप्रेम और गोपियों के कौमार-व्रत की कल्पना भी अर्द्धप्रस्फुटित ही रह गई । गुप्तजी ने प्राचीनता का ही पल्ला पकड़ा ।

गुप्तजी ने उद्धव के व्रज प्रयाण का कारण नहीं दिया है । मार्ग के प्रकृति दृश्यों का वर्णन भी नहीं । आरम्भ में, मंगलाचरण के पश्चात् राधा का चित्रण है जो अपना सर्वस्व समर्पण कर रही है ।

नहीं चाहती मैं विनिमय में,
उन वचनों का वर्म हरे ।
तुझको, एक तुझी को अर्पित,
राधा के सब कर्म हरे ।।

आगे चलकर यशोदा श्रीकृष्ण-स्मरण में संलग्न दिखाई पड़ती हैं। इसी भाँति उग्रसेन, बलराम, ग्वाल-बाल आदि शीर्षकों से मनोगत भावों को प्रकट किया गया है। उद्धव व्रज आ जाते हैं और यशोदा को सान्त्वना देते हुए दीख पड़ते हैं:—

"अम्ब यशोदे, रोती है तू,
गर्व क्यों नहीं करती।
भरी-भरी फिरती है तेरे,
अँचल-धन से धरती।"

ऐसा जान पड़ता है कि उद्धव को मातृ-हृदय की सरसता का ज्ञान है, तभी वे यशोदा को मीठी-डाट बता कर धीरज रखने को कहते हैं, ज्ञानोपदेश नहीं देते हैं :—

"अब शिशु नहीं सयाना है वह,
पर तू जानें यह क्या ?
आया है वह तेरी माखन
मिसरी ही खाने क्या ?"
"खेल खिलौने के दिन उसके
बीत गये वे मैया।"

अब तो,

"काट रहा है वह सुजनों के
भय-बन्धन निज बल से।"
"प्रेत पिशाच झाड़ने आया
मनुष्यत्व के वह तो।"

तू जो गायों का दुख करती है, उनको तो कोई न कोई चरा ही लायेगा; परन्तु इन उद्दण्ड 'दो पायों' का शासन तो केवल कृष्ण ही कर सकता है :—

"तेरी गायों को तो कोई
चरा लायगा वन में।
पर उद्दण्ड द्विपद पशुओं का
शासक नहीं भुवन में।।"

इसके पश्चात् उद्धव श्रीकृष्ण द्वारा निहित चाणूर, मुष्टिक आदि मल्लों का वध-वर्णन करते हैं। कुवलयापीड़ तथा कंसादिक का वध, यह सब यशोदा के खिलाये हुए माखन से ही तो संभव हो सका'। वह अमित बलवान है, फिर उसके विषय में चिन्ता क्यों करती है :—

"माँ तुझको किसकी चिन्ता है,
अच्युत है सुत तेरा ।
प्रेम पाप-शंकी हो फिर भी
मन श्रद्धायुत तेरा ॥"

यशोदा को सान्त्वना मिलती है परन्तु जब उसे देवकी के दुख-मोचन का समाचार प्राप्त होता है' तो वह अत्यधिक उदार हो जाती है :—

"वह उस दुखिया को दुलरावे ।"

कह देती है । दोनों माताओं में से कोई तो सुखी हो ।

गोपियों की मानसिक अवस्था का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण गुप्त जी ने प्रस्तुत किया है :—

"हो हो कर भी हुई न पूरी,
ऐसी अभिलाषा - सी ।
कुछ अटकी आशा-सी, भटकी
भावुक की भाषा - सी ॥"

"खुल कर भी जो सुलझ न पाई
उस उलझी वेणी-सी ॥"

उद्धव कृष्ण-दूत बन कर आये हैं, इसलिये उनको ज्ञान का भान कराना आवश्यक है । भावुकता से भरी हुई व्रजांगना से वे इसीलिए संसार के मिथ्यात्व का वर्णन करते हैं :—

"प्राप्य अन्ततः वह परमात्मा
आत्मा ही के द्वारा ।
मिथ्या माया का प्रपंच है,
दृश्यमान यह सारा ॥"

"एक एक तुम सब राधा हो ।"

उद्धव ने राधा को सर्व-सुलभ करके उसका साधारणीकरण कर दिया । श्रीकृष्ण को निर्गुण बता कर निराकार की भावना से उपासना करने का आदेश भी दिया । राम और कृष्ण में अभिन्नता का आरोप किया :—

"सच कहता हूँ मैंने अपना,
राम तुम्हीं में पाया ।
किन्तु तुम्हारा कृष्ण कहाँ,
मैं यही पूछने आया ॥"

बड़ी चतुरता से उद्धव ने प्रसंग छेड़ा है। अपने निराकार ब्रह्म का समर्थन तो उन्होंने राम-कृष्ण की अभिन्नता स्थापित कर दी। अब साकारोपासक गोपियों की बारी है कि वे अपने पक्ष का समर्थन करें। यहाँ कवि की मौलिकता दर्शनीय है। उद्धव ने ललकार दिया है, एक घोषणा कर दी है, आओ और सिद्ध करो। कैसा विषम द्वन्द्व है। गोपी राधा की ओर से स्वयं कहती है कि उसका ज्ञान लुप्त होगया है और अब तो वह ध्यान-योग में संलग्न है, नहीं तो वही तुम्हें बताती कि श्रीकृष्ण कहाँ है। फिर भी हमसे ही पूछते हो तो सुनलो :—

"राधा हरि बन गई, हाय ! यदि
हरि राधा बन पाते।
तो उद्धव, मधुवन से उलटे
तुम मधपुर ही जाते।।"

प्रेम की पराकाष्ठा होगई। जैसा प्रश्न वैसा उत्तर। गोपी ने आगे बताया कि अभी हाल में एक भ्रमर उड़ता हुआ आया था परन्तु राधा ने उसे डाट दिया:—

"पर तत्क्षण ही गरज उठी वह
भौंह चढ़ा कर बाँकी।
"सावधान अलि ! हट कर लेना
तू प्यारी की झाँकी।।"

राधा इस समय श्रीकृष्णरूपिणी हो गई थीं, अतएव उन्होंने भ्रमर को 'जार पुरुष की भावना से प्रेरित' मान कर झिड़क दिया। उद्धव उसी राधा को ज्ञानोपदेश देने के लिए पधारे हैं :—

"आत्मज्ञान-हीन वह मुग्धा,
वही ज्ञान तुम लाये।
धन्यवाद है, बड़ी कृपा की
कष्ट उठा कर आये।।"

कैसा सात्विक व्यंग्य है। उद्धव तिलमिला कर रह गये। गोपी ने एक चोट और की :—

ज्ञान योग से हमें हमारा
यही वियोग भला है।
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण
नाट्य, कवित्व, कला है।'

तात्पर्य यह है कि शून्य-संयोग को लेकर क्या करें। न आकृति, न प्रकृति, न गुण, तो भला वह संयोग कैसा ? माया को गोपी मिथ्या नहीं मानती है। जब तक वह मायावी है, तब तक माया भी सत्य है :—

"मिथ्या कैसे है माया भी,
जब तक वह मायावी ?"

तुम उस भेद को जानना चाहते हो तो गोपी बन कर देखो :—

होगा निर्गुण, निराकार वह
छली तुम्हारे लेखे।
हमसे पूछो तुम, उसके गुन-
रूप, हमारे देखे ॥"

हम तुम्हें उसको दिखा देतीं, अभी और इसी समय; परन्तु यह ज्ञान की माया जो बीच में आ कूदी है और तुम्हारे मतानुसार माया की उपस्थिति में दर्शन होना संभव नहीं है। चोट पर चोट है :—

अब तक यहाँ ध्यान में तो था,
वह मोहन मन-भाया।
किन्तु आ अड़ी आज बीच में
कूद ज्ञान की माया ॥"

गोपी वाक्-चतुरा है। उद्धव से कहती है कि तुम यहाँ व्यर्थ ही आये हो। यहाँ तो सभी बावले हैं :—

"क्या जानें ज्ञानी ने उसका
ज्ञान कहाँ, कब सीखा।
ज्ञान और अज्ञान हमें तो
यहाँ एकसा दीखा ॥"

क्योंकि यदि तुम में ज्ञान होता तो ब्रज में आते ही नहीं। अतएव तुम नितान्त अज्ञानी प्रमाणित हुए हो। श्रीकृष्ण में जो परिवर्तन हो गया कि उसने उद्धव को ज्ञानोपदेश के हेतु भेजा है, सो विपरीत बुद्धि वालों की संगति का ही प्रभाव है :—

"राजनीति का खेल वहाँ है,
सूक्ष्म-बुद्धि पर सारा।
निराकार-सा हुआ ठीक ही
वह साकार हमारा ॥"

हमारे लिए तो "यही बहुत हम ग्रामीणों को
जो न वहाँ वह भूला।"

उद्धव को कहीं ऐसा कहना अपमान-जनक ज्ञात न हुआ हो, इस भावना को ध्य न में रख कर गोपी ने निवेदन किया :—

"कृपया वचन मन में रखना
तुम अन्यान्य हमारे।

क्योंकि— "प्रिय के बन्धु, अतिथि हो उद्धव,
तुम सम्मान्य हमारे ॥

फिर हमारे साथ तो विवशता भी है—"आरत के चित रहत न चेतू ॥" परन्तु महान-जन उनके कहे-सुने का बुरा नहीं मानते है :—

"विवशों का मन वाणी को भी
व्याकुल कर देता है।
आर्त्तों का आक्रोश ईश भी
सुन कर सह लेता है।।"

इसके अतिरिक्त तुम्हारा यहाँ पधारना भी व्यर्थ ही रहा :—

"ज्ञानी हो तुम, किन्तु भाग्य तो
अपना अपना होता।
वक्ता भी क्या करे, न पावे
यदि अधिकारी श्रोता ॥"

गोपी मानती है कि वह काम और मोह के वशीभूत है, परन्तु उसकी व्याख्या और परिभाषा उद्धव तो नही कर सकते। जिसके हृदय में पीड़ा हो, उसीसे पूछना चाहिये न ? तभी वह कहती है :—

"हमें मोह ही सही, किन्तु वह
उसी मनोमोहन का
काम, किन्तु वह उसी श्याम का
लोभ उसी जन-धन का ॥"

आगे उद्धव को फिर समझाया कि तुम जिस श्रीकृष्ण को निर्गुण बताते हो, उसे भी व्रजधरा-धाम में अवतीर्ण होकर ही आनन्द मिला है :—

"जीवन में यौवन-सा आया,
यौवन में मधु-मद-सा।
उस मद में भी, छोड़ परम पद,
आया वह गद्गद् सा ॥"

वृन्दावन में नव मधु आया,
नधु में मन्मथ आया ;
उसमें तन, तन में मन, मन में
एक मनोरथ आया ॥
उसमें आकर्षण, हाँ, राधा
आकर्षण में आई ।
राधा में माधव, माधव में
राधा-मूर्ति समाई ॥"

"जित देखों तित स्याममयी है" की भावना मूर्तिमान होकर नाचने लगी। उद्धव से गोपी ने कहा अब तुम्हारा आना निरर्थक है, पहले आते तो यहाँ का साज-बाज देखते :—

"आना था तो तब आते तुम
जब यमुना लहराती ।
अब तो भहराती जाती है,
देखो यह हहराती ॥"

उद्धव, उसके लिये हमने क्या क्या नहीं किया है :—

उसका सगुन साधने को हम
शिरोभार सहती थीं ।
धरे भरे घट पथ में कब तक,
नित्य खड़ी रहती थीं ॥"

इसी बीच, एक विहंग उड़ता हुआ दिखाई देता है। उसे सम्बोधन करके गोपियों ने, शून्य का खासा मजाक उड़ाया है।

श्रीकृष्ण ने ऐसा सन्देश भेजा होगा, इस पर गोपियाँ विश्वास नहीं करती हैं, परन्तु उद्धव पर भी अविश्वास नहीं होता है। कैसा मनोवैज्ञानिक संघर्ष है।

"माधव भी सच्चे हैं सखियो !
उद्धव भी सच्चे हैं ।
हाय ! हमारे आँख कान ही
झूठे हैं, कच्चे हैं ॥"

चार शब्दों में नारी-जीवन की मौन-संवेदना प्रतिध्वनित होरही है। गोपियों का स्नेहाभिमान भी गौरव की वस्तु है। आत्मसमर्पण की अभिव्यक्ति करते हुए भी श्रीकृष्ण के प्रति उनका प्रणय आत्मविश्वास की दृढ़ भित्ति पर आधारित है :—

"राधा जब तक है अमानिनी
करें कृष्ण मनमानी ।
उसमें अहम् भाव तो आवे
भरें न आकर पानी ॥"
"चरणों में न पड़ें तो कहना
मुकुट रत्न मालाएँ ।
एक यही आशा लेकर हैं
बैठी ब्रज बालाएँ ॥"
"सौ चक्कर काटेंगे आकर
उतरेगी तब त्योरी ।"

उद्धव कुंठित हो जाते हैं। राधा की चरण-रज लेना चाहते हैं। तभी राधा प्रवेश करती है :—

"लो, वह आप आरही देखो,
'सखी, सखी' चिल्लाती ।
पर 'उद्धव, उद्धव' की ध्वनि भी
है यह कैसी आती ?"

हरिऔध जी की राधा से गुप्त जी की राधा भिन्न है। वह वाक्-चतुरा नहीं है। केवल मानवी है। प्रलाप ही उसके प्राण हैं। नामोच्चारण ही उसकी श्वाँस है।

"एक मूर्ति, आधे में राधा,
आधे में हरि पूरे।"

प्रेम अपनी चरमावस्था पर है। प्रिय और प्रियतम एक हो गये हैं।

जगन्नाथ दास रत्नाकर—ब्रजभाषा के अनन्य सेवक रत्नाकर जी ने जहाँ अन्य ग्रन्थों की रचना की है वहाँ भ्रमर-गीत की परम्परा 'उद्धव-शतक' उनकी अनूठी देन है। सम्पूर्ण काव्य में लगभग ११८ कवित्त हैं। काव्य का आरम्भ ही कवि की मौलिकता का द्योतक है। श्रीकृष्ण यमुना में स्नान कर रहे हैं, तभी एक कमल-पुष्प बहता हुआ आता है जो अत्यन्त मुरझाया हुआ है। उसकी दशा देखकर तथा सुगंधि प्राप्त कर श्रीकृष्ण व्याकुल हो जाते हैं :—

"न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात,
जाको अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है ।

कहै रतनाकर उमहि गहि स्याम ताहि
वास-वासना सौं नेंकु-नासिका लगायो है ।।
त्यौं हीं कछु घूमि भूमि बेसुध भए कै हाय,
पाय परे उखरि अभाय मुख छायो है ।
पाए घरी द्वैक में जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायो है ।।"

आगे भी— "पाइ वहे कंज में सुगंध राधिका कौ मंजु,
ध्याए कदली-बन मतंग लौं मताए हैं ।"

यही पूर्व-स्मृति उनको कामातुर अथवा विरहातुर बना देती हैं। उद्धव इस दशा में ही श्रीकृष्ण को पाते हैं और उनको भुज-बन्धन करके ले आते हैं। सूर और नन्ददास आदि के श्रीकृष्ण में ऐसी व्याकुलता के दर्शन नहीं होते हैं। उद्धव से वे मन की बात कहना चाहते हैं परन्तु भावों की प्रबलता के कारण नेत्रों में जल भर आता है :—

"तौलौं अधिकाई तैं उमगि कंठ आइ भिंचि,
नीर ह्वै वहन लागी बात अँखियान तैं ।।"

तब, ब्रजनन्दन ने धीरे-धीरे अपनी व्यथा-कथा का वर्णन किया। इन सभी कवित्तों में बड़ी गहरी पीड़ा हैं। दो एक कवित्तों के अंशों को यहाँ उदधृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर पाते हैं। सुनिए :—

"फिरत हुते जू जिन कुंजनि मैं आठौं जाम,
नैननि मैं अब सोई कुंज फिरिबो करैं ।"
"गोपी ग्वाल बालनि कौं झौंकि विरहानल मैं,
हरि सुर-वृन्द की बलाइ करिहैं कहा ।
प्यारौ नाम गोविन्द गुपाल कौ बिहाइ हाय,
ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करिहैं कहा।"

रत्नाकर जो ने सिद्ध किया है कि श्रीकृष्ण के हृदय में भी गोपियों के प्रति अनन्य प्रेम की भावना थी। प्राचीन भावनाभिभूत रत्नाकर जी ने श्रीकृष्ण को गोकुल गमनोद्यत दिखाते हुए स्वार्थी सुरनायकों की प्रवृत्ति का भी मनोहर चित्रण किया है। वे भला क्यों चाहने लगे कि घनश्याम उनके कार्य को अपूर्ण छोड़कर गोकुल चले जायें :—

'सुर सुर-राज सुद्ध स्वारथ-सुभाव-सने,
संसय समाए धाए धाम विधि हर के ।"

और सच्ची लगन का कैसा अमित प्रभाव है कि :—

"आई फिरि ओप ठाम ठाम ब्रज-गामनि के
बिरहिन बामनि के बाम अंग फरके ।।"

रत्नाकर जी के उद्धव वस्तुतः ज्ञान-गरिमा से मंडित हैं तथा निर्गुण मतवाद के प्रचारक और पंडित हैं । उन्होंने विवध भाँति से श्रीकृष्ण को ही ज्ञानोपदेश प्रदान किया । ब्रजवासियों को विश्वासघाती बताते हुए कहा :—

घात मैं लगे हैं ये बिसासी ब्रजबासी सबै,
इनके अनोखे छल-छन्दनि छनौ नहीं ।
वारनि कितेक तुम्हें बारन कितेक करैं,
बारन उवारन ह्वै बारन बनौ नहीं ।।"

परन्तु श्रीकृष्ण पर कोई प्रभाव पड़ते नहीं देखा तो उन्होंने सांख्य का सहारा लिया । "एकोहम् द्वितीयो नास्ति" की छाया में बताया कि,

"पाँचौं तत्त्व माँहि एक सत्त्व ही की सत्ता सत्य,
याही तत्त्व-ज्ञान को महत्त्व स्त्रुति गायौ है ।
आपु ही सौं आपुकौ मिलाप औ बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायो है ।।"

उद्धव ने यह भी बताया कि यह संसार स्वप्नवत् है और इसका समस्त व्यवहार भी मिथ्या है :—

"असक्त प्रसार या पसार मैं हमारी जान,
जन भरमाए सदा ऐसैं रहिबौ करैं ।
जागत औ पागत अनेक परपंचन मैं,
जैसैं सपने मैं अपने कौं लहिबौ करैं ।।"

श्रीकृष्ण कोई क्रियात्मक प्रतिरोध उपस्थित नहीं करते हैं । वे संभवतः यह जानते हैं कि उद्धव ने कभी प्रेम को पीड़ा का अनुभव नहीं किया है, अन्यथा उनका ज्ञान-गुमान कभी का गल गया होता । तभी वे सुझाव देते हैं :—

"आवौ एक बार धारि गोकुल गली की धूरि,
तब इहि नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम ।
मन सौं, करेजे सौं, स्त्रवन सिर आँखिन सौं,
ऊधव तुम्हारी सीख भीख करि लैहैं हम ।।"

योग से मंडित उद्धव गोकुल चल पड़ते हैं । परन्तु मार्ग के प्राकृतिक प्रभाव से उनका हृदय प्रेम-भक्ति से सरस हो उठता है :—

"ज्ञान गठरी की गाँठि छरकि न जान्यौ कबैं,
हरैं हरैं पूँजी सब सरकि कछार मैं ।
डार मैं तमालनि की कछु बिरमानी अरु,
कछु अरुझानी है करीरनि की झार मैं ॥"

उद्धव के आगमन का समाचार पाकर गोपियाँ दौड़ पड़ीं । सभी नन्द के द्वार पर एकत्रित हो गईं । मन में परम उत्कंठा है । श्याम ने पत्र में क्या लिखा है :—

"उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं ।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगीं ॥"

सात्विक-प्रेम के प्रभाव से उद्धव चकपका गये :—

"सूखे से, स्रमे से, सकबके से, सके से थके
भूले से भ्रमे से भमरे से भकुवाने से ।
हौले से हले से हूल-हूले से हिय मैं हाय,
हारें से हरे से रहे हेरत हिराने से ॥"

फिर भी उद्धव सम्हल जाते हैं और गोपियों को समझाते हैं कि श्रीकृष्ण के प्रति उनका जो स्नेह है वह मोह ही है । योग के द्वारा अन्तर्दृष्टि करने और हृदय-कमल पर जगने वाली ब्रह्म-ज्योति में ध्यान लगाने से भगवान् श्रीकृष्ण का संयोग प्राप्त होता है । जड़ और चेतन के विलास का विकास होने लगता है । मोह के कारण गोपियाँ जिन श्रीकृष्ण को विलग समझती हैं, वह तो निरन्तर ही सबके अन्तर में निवास करते हैं । उद्धव का दर्शन-ज्ञान यहीं से आरम्भ होता है :—

"चाहत जो स्वबस संजोग स्याम-सुन्दर कौ,
जोग के प्रयोग मैं हियौ तौ बिलस्यौ रहै ।
कहै रत्नाकर सु-अंतरमुखी ह्वै ध्यान,
मंजु हिय-कंज-जगी जोति मैं धर्यौ रहै ॥
ऐसैं करौं लीन आतमा कौं परमातमा मैं,
जामैं जड़-चेतन-बिलास बिकस्यौ रहै ।
मोह-बस जोहत बिछोह जिय जाकौ छोहि,
सो तौ सब अन्तर निरन्तर बस्यौ रहै ॥"

अगले तीन-चार कवित्तों में उद्धव ने यही बताया है कि यह सब माया का ही प्रपंच है, जिसके कारण सच्चिदानन्द का सत्य सत्त्व, जो पंचतत्त्वनिर्मित है और समान है, अपने वास्तविक रूप में प्रकट नहीं होता, विभिन्न वस्तुओं में दर्शित होता है, उसी ब्रह्म का रूप है, जो भ्रम-पटल से उन्मीलित ज्ञान-चक्षुओं से ही गोचरी-भूत होता है। योगाभ्यास के द्वारा ऐसी दशा प्राप्त हो जाने पर कृष्ण सब में और सब कृष्ण में दिखाई पड़ते हैं। यही अनेकत्व में एकत्व का सिद्धान्त है। उद्धव योग के द्वारा अन्तर्यामी भगवान से साक्षात् करने का उपदेश देते हैं।

"देखो भ्रम पटल उघारि ज्ञान आँखिन सौं,
कान्ह सबही मैं कान्ह ही मैं सब कोई है।
जीव आतमा कौं परमातमा मैं लीन करौ,
छीन करौ तन कौ न दीन करौ मन कौं ॥"

ऐसा प्रियतम का सन्देश सुनकर गोपियाँ विकल हो जाती हैं। उसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण रत्नाकर जी ने किया है :—

"सुनि सुनि ऊधव की अकह कहानी कान,
कोऊ थहरानी, कोऊ थानहि थिरानी है।
कहै रत्नाकर रिसानी, बररानी कोऊ
कोऊ बिलखानी, बिकलानी बिथकानी हैं ॥
कोऊ सेद-सानी, कोऊ भरि दृग पानी रहीं,
कोऊ घूमि-घूमि परीं भूमि मुरझानी है ॥
कोऊ स्याम-स्याम कै बहकि बिललानी कोऊ,
कोमल करेजौ थामि सहमि सुखानी है ॥"

इसके पश्चात् कवित्त संख्या ३४ से ९६ तक गोपियों ने उद्धव को जो उत्तर दिये हैं, उनका वर्णन हैं। गोपियाँ भला ज्ञानज्ञेय विषय को क्या समझें। वे तो बेचारी अबला-जन हैं। केवल यही जिज्ञासा है कि कृष्ण कैसे हैं, क्या करते हैं :—

"जाय जमुना तट पै कोऊ बट-छाहि माँहि,
पाँसुरी उमाहि कबौं बाँसुरी बजावे हैं।"

रत्नाकरजी की उद्‌भावनाएँ अत्यन्त मौलिक हैं। उद्धव के द्वारा कथित हठयोग से शरीर में जो रूपान्तर हो जाते हैं गोपियाँ उनको अपनी सौन्दर्य-रक्षा के दृष्टिकोण से उपयोगी नहीं मानती हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण को उल्लसित करने वाले शारीरिक-सौन्दर्य को गोपियाँ नष्ट नहीं करना चाहती हैं :—

"चोप करि चंदन चढ़ायो जिन अँगनि पे,
तिन पै बजाइ तूरि धूरि दरिबो कहो।
रस-रतनाकर स-नेह निरवारयो जाहि,
ता कच कों हाय जटा-जूट बरिबो कहो॥
चंद अरबिन्द लौं सराह्यो ब्रजचंद जाहि,
ता मुख कौं काकचंचवत करिबो कहो॥"

उद्धव का ब्रह्म अत्यन्त विशाल है, अरूप, अनन्त और अलख है, उसे त्रिपुरी में कैसे देखा जा सकता है ? गोपियाँ इसे असम्भव तथा संदिग्ध मानती हैं :—

"एते बड़े विस्व माँहि हैरैं हू न पैये जाहि,
ताहि त्रिकुटी मैं नैन मूँदि लखिबो कहो।"

धीरे-धीरे गोपियों की वाणी मुखरित होने लगती है। वे स्त्रियोचित अल्पज्ञता की ओट में उद्धव पर करारी चोट करती हैं। योग का अर्थ संयोग ही ठहराती हैं। उद्धव के विरति-वियोगात्मक योग को असंगत सिद्ध करती हैं। योग की क्रिया से प्राण-वायु को अवरुद्ध करके वे वियोगाग्नि को अधिक भड़काना नहीं चाहती हैं :—

"कहै रतनाकर बियोग-आगि सारन कौं,
ऊधो हाय हमकौं बयार भखिबो कहो।"

वे यह भी प्रार्थना करती हैं कि ऐसे कठोर-वचनों से हमें कष्ट पहुँचाने की चेष्टा मत करो। एक ही मनमोहन ने हमारा हृदय लूट लिया है, तुम्हारा दूसरा मन-मोहन ब्रह्म, यदि हमारे मन में आ बैठा तो न जाने वह कौनसी विपदा का कारण बन जायगा। गोपियों का गहरा विनोद पढ़ने योग्य ही है :—

टूक टूक ह्वै मन मुकुर हमारो हाय,
चूकि हूँ कठोर-बैन-पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तो बसिकै उजार्‌यो मोहिं,
हिय मैं अनेक मनमोहन बसावौ ना।"

इससे भी गहरा भाव रत्नाकर जी ने इस कवित्त में छिपा दिया है। गोपियाँ कहती हैं कि हमारे मन-दर्पण में एक मनमोहन बसा हुआ है, इसलिए तुम उसमें वचन रूपी पत्थर न मारो, नहीं तो वह मुकुर टुकड़े-टुकड़े हो जायगा और फिर उन अनेकों टुकड़ों में, अनेकों मोहन का प्रतिविम्ब दिखाई देने से उनकी संख्या बढ़ जायगी। सो

यहाँ तो एक ही मनमोहन ने परेशान कर रखा है, कहीं अनेक हो गये तो समस्या उलझ जायगी।

उद्धव के द्वारा प्रतिपादित स्वप्नवत् संसार के विचार को गोपियाँ बड़े ढंग से उपहसित कर देती हैं :—

"जग सपनो सो सब परत दिखाई तुम्हें,
तातैं तुम ऊधव हमैं सोवत लखात हो।
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की,
जोई मुँह आवत सो विवस बयात हो॥
सोवत में जागत लखत अपने कौं जिमि,
त्यों हीं तुम आपुही सुज्ञानी समुझात हो।
जोग-जोग कबहूँ न जानैं कहा जोहि जकौ,
ब्रह्म-ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हो॥"

ब्रह्म-ज्ञान से जिस मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है, गोपियाँ उसका भी निरादर कर देती हैं :—

"मुक्ति-मुकता को मोल माल ही कहा है जब,
मोहन लला पै मन-मानिक ही वारि चुकीं॥"

इस दिशा में उनका व्यंग्य बड़ा ही तीखा है। वे पूछती हैं कि अन्ततः मुक्ति यहाँ तक कैसे आई? कूबरी के कूबर में स्थान नहीं रहा तभी गोकुल तक उफन कर आ गई है :—

"कैंधौं मिली मुकति वधूबर के कूबर में,
ऊबर भई जो मधुपुर मैं समानी ना॥"

गोपियाँ अपना कष्ट भी निवेदन करती हैं कि हमने एक ही अनंग अर्थात् कामदेव की उपासना करके इतनी विपदाएँ झेल ली हैं, फिर तुम्हारे रूप, रँग और अँग-रहित ब्रह्म की आराधना करके हमें क्या लाभ होगा?

"एक ही अनंग साधि साध सब पूरीं अब,
और अंग रहित अराधि करिहैं कहा।"

उद्धव योगी को महान मानते हैं, सो गोपियाँ कहती हैं कि वियोगी भी किसी प्रकार से योगी की समानता में हीन नहीं है, अतएव गोपियों को योग-साधना की कोई आवश्यकता नहीं है :—

"वे तो बस बसन रँगावैं, मन रंगत ये,
भसम रमावैं वे, ये आपुहीं भसम हैं।

साँस-साँस माँहि बहु बासर बितावत वे,
इनकैं प्रतेक साँस जात ज्यौं जनम हैं ।।
ह्वै कै जग-भुक्ति सौं विरक्त मुक्ति चाहत वे,
जानत ये भुक्ति-मुक्ति दोऊ विष सम हैं ।
करिकै विचार ऊधौ सूधौ मन माँहि लखौ,
जोगी सौं वियोग-भोग-भोगी कहा कम हैं ।।"

वे प्रयरण-रत्नाकर की मीन हैं अतएव :—

"प्रेम रतनाकर गंभीर परे मीनन कौं,
इहिं भव-गोपद की भीत भरवो कहा ।"

वियोगानल की ज्वाला के सामने ब्रह्म-ज्योति में. उष्णता ही क्या है, अतएव गोपियों को उसमें आकर्षण ही नहीं ज्ञात होता :—

"कहैं रतनाकर वरी हैं विरहानल मैं
ब्रह्म की हमारैं जिय ज्योति जँचि है नहीं ।"

इसका एक दूसरा कारण भी है। नेत्रों के जल से तथा शीतल वार्तालाप की वायु से जिस प्रतप्त हृदय को शान्त किया जा चुका है और उसमें श्रीकृष्ण का निवास है, तब उसे उष्ण करके और उसमें ब्रह्म को बसा कर गोपियाँ विश्वासघात नहीं करना चाहती हैं :—

"नैननि के नीर औ उसीर सौं पुलकावलि,
जाहि करि सीरो सीरी बातहिं बिलासैं हम ।
कहै रतनाकर तपाई बिरहातप की,
आवन न देतिं जामैं विषम उसासैं हम ।।
सोई मन-मंदिर तपावन के काज आज,
रावरे कहे तैं ब्रह्म-जोति लै प्रकासैं हम ।
नंद के कुमार सुकुमार कौं बसाइ या मैं,
ऊधौ अब हाइ कै बिसास उदवासैं हम ।।"

वे ब्रह्म में सन्निहित होने को प्रस्तुत हैं परन्तु उनकी एक शर्त है। अपने प्राण-पट पर श्रीकृष्ण का चित्र बनाकर साथ ले जायेंगी और उसे ब्रह्म से मिलावेंगी। यदि नहीं मिला तो वापस लौट आवेंगी :—

"जो पै मिल्यौ तो धाइ धाय सौं मिलैंगी पर,
जो न मिल्यौ तौ पुनि इहाँ हीं लौटि ऐहैं हम ।"

गोपी और उद्धव के दृष्टिकोण में नितान्त अन्तर है। इसीलिए वे कहती हैं :—

"ऊधो ब्रह्म ज्ञान को बखान करते ना नैंकु,
देख लेते कान्ह जो हमारी अँखियान तैं।"

अक्रूर के विश्वासघात के कारण उन्हें उद्धव का विश्वास भी नहीं है :—

"लै गयो अक्रूर क्रूर तब सुख-मूर कान्ह,
आये तुम आज प्रान-ब्याज उगहन को।"

योग-साधना का उपहास करते हुए गोपियों ने कहा :—

"आपु ही भई हैं मृगछाला ब्रजबाला सूखि,
तिनपै अपर मृगछाला कहा सोहेगी ?"

इससे भी अधिक व्यंग्य करते हुए गोपियों ने पूछा :—

"वे तौ भए जोगी जाइ पाइ कूबरी को जोग,
आप कहै उनके गुरु हैं, किधौं चेला हैं ?"

वे अपना दृढ़ निश्चय भी प्रकट कर देती हैं :—

"लोटि-पोटि बात कौ बवंडर बनावत क्यौं,
हिय तैं हमारे घनस्याम हरि हैं नहीं।।"

"यह अभिमान तो गवैं हूँ ना गए हूँ प्रान,
हम उनकी हैं, वह प्रीतम हमारे हैं।"

उनका स्नेहाभिमान भी दर्शनीय है,

"यह वह सिन्धु नाँहि सोखि जो अगस्त लियौ,
ऊधौ यह गोपिन के प्रेम को प्रवाह है।"

उद्धव का योग गोपियों की सम्मति में मृत्यु का मार्ग ही है, परन्तु वे इस प्रकार से प्राण परित्याग नहीं करना चाहती हैं। उसके और भी मार्ग हैं और जो सबसे सरल है वह उद्धव का सत्संग है—

"और हूँ उपाय केते सहज सुढँग ऊधो,
साँस रोकिबे कौं कहा जोग ही कुढंग है।
कुटिल कटारी है अटारी है उतंग अति
जमुना तरंग है, तिहारो सत्संग है।"

सपत्नीक-भावना से पूरित व्यंग्य भी बड़े प्रभावशाली हैं। गोपियाँ मानती ही नहीं हैं कि श्रीकृष्ण ने उद्धव को भेजा होगा :—

"रसिक-सिरोमनि को नाम बदनाम करी,
मेरी जान ऊधो कूर-कूबरी पठाए हो ॥"

श्रीकृष्ण के प्रति भी उनका एक सरस उपालंभ है :—

"कूबरी की पीठ तैं उतारि भार भारी तुम्हें
भेज्यौ ताहि थापन हमारी छीन छाती पर।"

आवरण डाल कर गोपियों ने यह भी पूछ लिया :—

"सोच है यहै कै संग ताके रंगभौन माहिं,
कौन धौं अनोखो ढँग रचत निरालो है।
छाँटि देत कूबर कै आँटि देत डाँट कोऊ
काटि देत खाट किधौं पाटि देत माटी है!"

बारहमासे की परम्परा पर आधारित ऋतु सम्बन्धी कवित्त भी प्राणमय हैं। लगभग सभी कवित्तों में एक नई भावना विद्यमान है। श्रीकृष्ण ज्यों-ज्यों दूर होते चले जाते हैं त्यों-त्यों मन-मुकुर में समाये जा रहे हैं :—

"ज्यौं-ज्यौं बसे जात दूरि-दूरि प्रिय-प्रान मूरि,
त्यौं त्यौं धँसे जात मन-मुकुर हमारे में।"

विदा के समय, किसी ने मयूर-मुकुट दिया, किसी ने नवनीत तो—

"पीत पट नंद जसुमति नवनीत नयो,
कीरति-कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी।"

जैसा आगमन, वैसी ही विदा, दोनों ही भव्य हैं, वहाँ गोपियाँ "पद कंजनि के पंजनि पै उझकि-उझकि" देख रही थी तो यहाँ—

"रंचक हमारी सुनौ, रंचक हमारो सुनौ,
रंचक हमारी सुनौ काही रहि जात हैं।"

गोपियाँ यह भी जानती हैं कि यदि उद्धव ने ब्रज-वियोग का यथातथ्य वर्णन कर दिया तो श्रीकृष्ण का कोमल हृदय काँप उठेगा इसलिए वे प्रार्थना करती हैं :—

"आँस भरि ऐहैं औ उदास मुख ह्वै है हाय
ब्रज-दुख-त्रास की न तातैं साँस लीजियो।
नाम को बताइ और जताइ गाम ऊधो बस
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियो॥"

दो शब्दों में असीम पीड़ा लेकर उद्धव मथुरा लौट आये। "ज्ञान-गूदड़ी में अनुराग का रतन" लेकर लौटे हैं :—

"एक कर राजे नवनीत जसुदा कौ दियौ
एक कर वंसी बर राधिका पठाई है ।"

श्रीकृष्ण से भी वे स्पष्ट कह देते हैं कि उनका लौटना इसीलिए संभव हुआ कि वे उनको चेतावनी देना चाहते हैं:—

"हो तौ चित चाव जौ न रावरे चितावन कौ,
तजि ब्रज गाँव इतै पाँव धरते नहीं ।"

उद्धव की दशा भी देखिये—

"गोपी-ताप-तरुन-तरनि किरनावलि के,
ऊधव नितांत कांत-मनि बनि आए हैं ।"

रतनाकर जी ने भ्रमर का प्रवेश कहीं नहीं कराया है । उनकी भाषा परिमार्जित विशुद्ध ब्रजभाषा है । मौलिकता तो पद-पद पर उपलब्ध है । उनकी गोपियों में भावावेश का प्राबल्य है । उद्धव के निर्गुण मतवाद का मंडन भी सुन्दर है और खंडन भी अभिनव है ।

द्वारकाप्रसाद मिश्र—श्री मिश्र ने 'कृष्णायन' नाम से श्रीकृष्ण के समग्र जीवन चरित्र को, जो विशृंखल था, कथा-बद्ध कर दिया है । कृष्णायन में जन्म से स्वर्गारोहण तक की सभी घटनाओं को क्रमबद्ध करके दर्शाया गया है । मिश्र जी ने शील, सौन्दर्य और तत्त्वों के चित्रण में असाधारण कवि-प्रतिभा का प्रदर्शन किया है । इसमें मिश्र जी की राष्ट्रीय-भावना भी यत्र-तत्र उद्भासित हुई है । रामचरितमानस से कवि प्रभावित है और इसी हेतु चौपाई तथा दोहा छन्दों में महाकाव्य का निर्माण किया गया है । इसमें भी सात काण्ड हैं । भाषा अवधी है । जिसकी विशुद्धता के विषय में मतभेद संभव है ।

महाकाव्य के दूसरे काण्ड का नाम मथुरा काण्ड है । इसी में मिश्र जी ने भ्रमर-गीत परिपाटी का परिपालन करते हुए सुन्दर अभिव्यंजना की है । उनके उद्धव को ज्ञान-गुमान अथवा योगाभिमान नहीं है ! श्रीकृष्ण जब द्वारका में स्थायी-निवास का निश्चय कर लेने हैं तब उनको चिन्ता होती है कि ब्रजधाम छूट जायगा और मैं कभी भी उन लोगों से मिलने भी नहीं गया, अतः वे उद्धव से ब्रज जाने को कहते हैं:—

"छूटत ब्रजजन उर अति शोचू ।
गयेउ न कबहुँ, सुधिहु नहि लीन्ही ।
लहि मैं प्रीति व्यथा बहु दीन्ही ।।

बसिहौं दूर द्वारका जायी।
तजिहैं तनु ब्रजजन बिलखायी ।।
उद्धव सुहृदहिं श्याम बोलावा।
"आहु अबहिं ब्रज,"—बचन सुनावा ।।"

इसके पश्चात् काल-यवन संहार होता है और:—

"यहि विधि दस्यु नसाय, हरि इत मधुपुर दिशि चले।
उत उद्धव ब्रज जाय, श्री-हत बन, खग, मृग लखे ।।"

इससे आगे श्रीहीन वृन्दावन का वर्णन है। हरिऔध अथवा रत्नाकर के वृन्दावन से मिश्र जी का वृन्दावन भिन्न है। उसमें वैसा प्राकृतिक सौन्दर्य्य शेष नहीं है।

"पत्र, कुसुम, फलहीन तरु, कतहुँ न मधु पिक-राग।
बहत न मंद समीर वह, उड़त न पुष्पपराग ।।"

रथ का घर्घर-शब्द सुनकर गोपी-गोप आतुर होकर दौड़ आते हैं:—

"रथ-घर्घर सुनि आतुर धाये।
पुलकित कहत 'श्याम फिरि आये' !"

उद्धव अपने को धन्य मानकर ब्रज-धरा पर पैर रखते हैं। उनका उचित स्वागत होता है:—

"व्यंजन सरस सप्रेम खवाये।
शय्या मृदुल लाय बैठाये ।।"

नंदरानी यशोदा का आगमन होता है जो अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो रही हैं। उद्धव चरण-स्पर्श करके श्याम का स्नेह-संदेश सुनाते हैं:—

'जब तें बिछुरेउँ माय।
माखन देत न कोउ मोहिं, कोउ न कहत कन्हाय।"

यशोदा के पूछने पर उद्धव कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने तुमसे आशीर्वाद भी माँगा है—"आशिष देहु जीति रिपु आवहुँ।" मेरी चकई और डोरा सम्हाल कर रख लेना, कहीं राधा चुराकर न ले जाय—यह भी कहा है।

यशोदा ने देवकी को भी सन्देश दिया है, वही प्राचीन कि "मैं तो धाय तुम्हारे सुत की" हूँ अतएव एक बार उसका दर्शन चाहती है। नंद से भी वार्तालाप होता है। इसके साथ ही गोपियाँ रथ को देखकर दौड़ी आती हैं। सभी नंद-धाम पहुँच जाती हैं परन्तु उद्धव को देखकर सहम उठती हैं:—

"पठये सखा श्याम नहिं आये।
सूखे अधर नयन जल छाये ।।"

उद्धव ऐसा देखकर—"सुखी दोउ हरि बलरामा" कह देते हैं और गोपियाँ भी उनके पास आकर बैठ जाती हैं। वे उपालंभ भी देती हैं कि श्रीकृष्ण हमें क्यों भूल गये हैं। उद्धव हँस कर गोपियों से कहते हैं कि श्यामसुन्दर केवल तुम्हारे ही नहीं है, हमारे भी हैं। इतने दिन व्रज-निवास किया है तो थोड़े दिन मथुरा-प्रवास भी करने दो। इसमें अनीति की बात कौन सी है ?—

"जेतिक दिन गोकुल बसे, बसहिं जो मधुपुर माहिं।
लोक, शास्त्र दुहुँ दृष्टि ते, अपराधी हरि नाहिं॥"

मिश्र जी की मौलिकता सराहनीय है। वे उद्धव से शुष्क ज्ञान से स्थान पर समानाधिकार की भावना का प्रतिनिधित्व करा रहे हैं। श्रीकृष्ण तो सभी के हैं। परन्तु गोपियों का उत्तर भी अत्यधिक मर्मस्पर्शी है:—

"जब लगि श्याम चरायीं गाई।
परे न भाई-बन्धु लखाई॥
तरुवर तरे कीन्ह हरि वासा।
आयेउ यादव एक न पासा॥"

"यशुमति-आशिष कंस वध, विजयी भये कन्हाय।
घर-घर ते हरि-बंधु बन, निकसे यदुजन धाय॥"

गोपियों ने एक अप्रिय-सत्य कह दिया है। मारने वाले, सबल व्यक्ति के सभी साथी होते हैं, पिटने वाले के साथ कोई सहानुभूति भी प्रदर्शित नहीं करता है। रहीम ने ऐसा ही कहा है:—

"सबै सहायक सबल के, निबल न कोउ सहाय।
पवन जगावत अगिन कौं, दीपहिं देत बुझाय॥"

उद्धव निरुत्तर हो जाते हैं। इसके पश्चात् गोपियाँ अपना संदेश कहती हैं कि श्यामसुन्दर से जाकर कह देना:—

"मधुपुर रहहिं, कबहुँ व्रज आवहिं।
दर्शन देहिं, हमहु सुख पावहिं॥
जन-रंजन वर-राजन धर्मा।"

वे उद्धव के चरण पकड़ लेती हैं और अत्यन्त आर्त स्वर में कहती हैं:—

"इन्द्र कोप तें श्याम उबारा।
श्याम-कोप तुम होहु सहारा॥"

तब— "लखि करुणा उद्धव अकुलाने।
ज्ञान,ध्यान, श्रुति, शास्त्र भुलाने।"

स्वयं उनके नेत्रों के आँसू ब्रज-वासियों ने पोंछे। दूसरे दिवस प्रातः काल स्नान के समय, नदी तट पर उन्होंने एक विशद चमत्कार देखा। वंशी का निनाद, चन्द्र-ज्योति, शीतल, मंद, सुगंधित वायु, वंशीवट पर विहार करते हुए श्रीकृष्ण और उनके चरणों में शिरसावनत गोप बाला। कुछ क्षण पश्चात् यह दृश्य अदृश्य हो गया। चारों ओर निराशा छा गई। पार्श्व से निकल कर यशोदा ने कहा, उद्धव! यही बालिका राधा है। कवि ने इस प्रकार सिद्ध किया है कि राधा और कृष्ण अभिन्न हैं। भक्ति की भावना राधा जहाँ है, वहीं प्रेम-मूर्ति श्रीकृष्ण हैं और तभी हृदय रूपी वृन्दावन छवि-धाम है। विदा माँगकर उद्धव लौट आते हैं।

"कहि कहि भक्ति प्रसंग, बहु, विविध ज्ञान आख्यान।
ब्रजजन बंदि, प्रबोधि सब, उद्धव कीन्ह प्रयाण॥"

उद्धव ने लौट कर श्रीकृष्ण को ब्रज की दशा से परिचित कराया और वंशीवट का चमत्कार भी निवेदन किया। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा:—

"एकहि मैं अरु राधिका, द्वैत-भाव भव-भ्रान्ति।
ब्रजजन समुझि रहस्य यह, लहि हैं पुनि सुख-शान्ति॥"
"अस कहि हरि सुहृदहिं समुझायी।
दीन्हेउ द्वारावती पठायी।"

यहीं प्रसंग समाप्त हो जाता है।

मिश्र जी ने भ्रमर का प्रवेश कहीं नहीं कराया है और न उद्धव से ज्ञान तथा योग का समर्थन ही कराया है। गोपियों का तर्क साधारण होता हुआ भी असाधारण है। वंशीवट के चमत्कार का सन्निवेश भक्त-जन-मन-रंजन है।

"लै जनि जाय चुराय राधिका कहूँ बंसरी मेरी" का पिष्ट-पेषण समुचित नहीं लगता है। उद्धव के ब्रजगमन का कारण भी अति संक्षिप्त है तथा ब्रज के विषय में उद्धव के भावों का वर्णन भी अल्प-स्वल्प है। फिर भी मिश्र जी की कितनी ही उद्-भावनाएं मौलिक तथा हृदयग्राही हैं।

रामशंकर शुक्ल 'रसाल'—हिन्दी साहित्य में अपने अलंकार और ब्रजभाषा-ज्ञान के लिये ख्याति-प्राप्त डा० रसाल ने जहाँ कविवर रत्नाकर जी के उद्धव शतक पर विस्तृत विचार प्रस्तुत किये हैं, वहाँ उन्होंने स्वयं भी 'उद्धव शतक' नामक खण्ड-काव्य की रचना की है। अप्रकाशित होते हुए भी उसके कुछ छन्द प्रकाशित और प्राप्य है। उनके काव्य में बुद्धिवाद का प्रभाव अधिक है और वैचित्र्य भी मुख्य है। रसाल जी के मतानुसार गोपियों की सामाजिकता अत्यन्त सभ्य और सुसंस्कृत मानी जानी चाहिये क्योंकि उनका सत्संग श्रीकृष्ण के साथ वर्षों तक रहा था। इसलिये उनकी गोपियों

में बुद्धि तत्त्व ही प्रधान दिखाई पड़ता है। उद्धव के ज्ञान-सिद्धान्त का उत्तर गोपियाँ तर्क और बुद्धिवाद के आश्रय से ही देती हैं। गोपियाँ ज्ञान-मार्ग को विघ्न-बाधाओं से परिपूर्ण बताती हैं :—

"पद-पद जामैं किती संका-साँपिनी हैं भरी,
भ्रम के भुजंगनि को वृंद विषवारौ है।
तर्कन-वितर्कन के कठिन, कटीले, घने,
भारी झार झंखर कौ प्रसर प्रसारौ है॥
संसयादि केते परिपंथनि कौ ठौर-ठौर,
पंथिन के मूसिबे कौं जुरत अखारौ है।
रज-तम-तोम भरो बात के बवंडर सौं,
अलख अरूप ज्ञान-पंथ यौं तिहारौ है॥"

प्रेम-भक्ति की साधना को सरल सिद्ध करती हुई वे कहती हैं :—

"रहति सदाई मुख-चन्द की जुन्हाई जुरी,
संतत जहान कौ जहा न तम कारो है।
चलत चहूँधा बात सरस-सुहाई जहाँ,
देखिये तहाँई हरि-यारी सुख प्यारो है॥
सिंचित सुनेह ही सुधा सौं वसुधा 'रसाल'
ऊधव कहूँ न रंच रज को पसारो है।
कैसे तौ तिहारो दुखधारो गहैं ग्यान-पंथ,
ऐसो सुखवारो प्रेम-पंथ जो हमारो है॥"

उद्धव यह मानते हैं कि यह दृश्यमान माया है अन्यथा ब्रह्म तो सर्वव्यापी है। गोपियों द्वारा उसकी सर्वव्यापकता के सिद्धान्त को बड़े ढंग से उपहसित किया गया है :—

"मग न दिखात सूधौ, मगन दिखात ऊधौ,
मगन दिखात कीन्हें आप हीं मैं आप कौं।
मानौ औ प्रमानौ और जानौ अनुमानौ और,
औरई बखानौ, ना ठिकानौ कछु आप कौं॥
ब्रह्म सबै जो पै तौ बतावौ भेद-भाव कैसौ,
कैसे हमैं गोपी लखौ, ऊधौ आप आप कौं।
बो धौ आप स्याम कौं, प्रबोधौ किधौं गोपिन कौं,
ब्रह्म कौं प्रबोधौ, कै प्रबोधौ आप आप कौं॥"

इस कवित्त में गोपियों का पाण्डित्य प्रकट ही है। समस्त भावनाओं को गुप्त रखते हुए उन्होंने सैद्धान्तिक विवेचन को ही आगे रखा है। पारमार्थिक रूप में जब सभी आत्माएँ ब्रह्म है तो उद्धव स्वयं और गोपियों में क्यों भेद-भाव रख रहे हैं। प्रमाण और अनुमान का सुखद विश्लेषण है।

गोपियाँ निर्गुण और सगुण की व्याख्या भी करती हैं तो व्यग्य से परिपूर्ण। यहाँ उनकी वचन विदग्धता पठनीय है। अलंकारवादी रसाल जी की कवि-प्रतिभा भो इस पद में मुखर हो उठी है :—

"मोहन विथा की कथा आपहू सुनावैं ऊधौ,
मोहन-विथा की कथा हम हूँ सुनावैं हैं।
हम ब्रजचंद बिना हैं परी महा-तम मैं,
आपने महातम मैं आपु अकुलावैं हैं॥
हम-तुम दौऊ एक, देखौ टुक रारि टेक,
अन्तर जो नैंकु, सो विवेकु सौं बतावैं हैं।
हम, गुन गावैं निगुनी ह्वै कैं सुगुनी के नीके,
आपु गुनी ह्वै कैं निगुनी के गुन गावैं हैं॥"

"राधिका कृष्ण सबै तो कहैं पर कूबरी-कृष्ण कहै नहिं कोऊ" की भावना से भरित रसाल जी की गोपियाँ भी इसी में अपना सौभाग्य मानती हैं कि लोग राधा-कृष्ण, राधा-कृष्ण ही रटते रहें, उनके लिये इतना ही पर्याप्त है :—

"ऊधौ, जाय जो पै उत कान्ह कूबरी के भये,
चिन्ताचित तो न कछू कीरति-कुमारी कैं।
नूपुर ह्वै ताके परे पायन रहै वै नित,
सोऊ रहै माल ह्वै गरैं परी मुरारी कैं॥
दोऊ एक देह, एक प्रान ह्वै 'रसाल' रहैं,
तौहू बाजिहैं न स्याम दासिका-दुलारी कैं।
राधा नाम ही के अनुगामी बने रहैं नित,
नामी नाम जेते ब्रज-विपिन-बिहारी कैं॥"

गोपियाँ अपने पत्र में कोई संदेश विशेष नहीं भेजती हैं। उनके पत्र में केवल साढ़े चार पंक्तियाँ हैं और उनमें व्यंग्य ही प्रधान है :—

"सिद्धि श्रीजुत जोग लिखी गोकुल सौं प्यारे।
राम-राम बंचने हरे ! आनन्द ! मुरारे॥

कृपा रावरी सौं इतै हम सब विधि सानन्द ।
रहो कूबरी-सँग उत सकुसल हे ब्रजचंद ! ।।
मनावें गोपिका ।"

गोपियाँ कुछ मनमानी बातें भी करना चाहती थीं परन्तु उनकी असमर्थता और विवशता ने सबकुछ जहाँ का तहाँ रोक दिया ।

"यह औसर स्याम-कथा कौ भलौ,
सो गयौ रसना की रला-रली मैं ।
कहिबे-सुनिबे की रही सो रही,
वस बातन हीं की बलाबली मैं ।।
मन-मीन मलीन मरे से परे,
यहि ज्ञान की कोरी दलादली मैं ।
मन-भावती हू कहि जाते कछू,
अब ऊधव ऐसी चलाचली मैं ।।"

उद्धव लौटकर श्रीकृष्ण के सामने जो वर्णन उपस्थित करते हैं, वह भी आकर्षक है । गोपियों की भूरि-भूरि प्रशंसा, नन्द और यशोदा का संयत चित्रण सभी कुछ अनूठा है । उद्धव गोकुल से अत्यन्त प्रभावित होकर लौटे हैं :—

"जोग-विधि भानुजा, सरस्वति ह्वै ज्ञान-गिरा,
हिय-हिम-सैल तैं हमारैं उमगानी हैं ।
तेई याग-पुन्य कौं प्रयाग पाइ गोपिन की,
भक्ति की भगीरथि मैं उमँगि बिलानी हैं ।।
एकै रंग रूप ह्वै त्रिवैनी लौं 'रसाल' चलि,
नन्द जसुदा के नेह-नीर उफनानी हैं ।
राधा की रसीली प्रीति-रीति-राह सौं अथाह,
रावरे सनेह-सुधा-सिन्धु मैं समानी हैं ।।

रसाल जी के अलंकारों में श्लेष विरोधाभास तथा यमक प्रधान हैं । अलंकार-वादी होते हुए भी उन्होंने भावना का तिरस्कार कहीं नहीं किया है । उनके काव्य में, इसीलिये, भावना, बुद्धि और अलंकार तीनों का समन्वय है ।

प्रकाशित होने के पश्चात ही कथा-क्रम तथा अन्य बातों पर अधिक प्रकाश डाला जा सकेगा । इस समय तो जितने भी छन्द प्राप्त हैं, उन्हीं के आधारों पर हमने उनका परिचय उपस्थित किया है ।

श्यामसुन्दरलाल दीक्षित—काव्य को तीन भागों में विभाजित किया गया है, मधुपुरी, स्वतन्त्रता-दिवस और श्याम-सन्देश। छन्द भ्रमरगीत का ही अपनाया गया है। पुस्तक का नाम है 'श्याम-सन्देश।'

युक्तप्रान्त के तत्कालीन शिक्षा-मन्त्री, विद्वद्वर डा० सम्पूर्णानन्द जी ने, अपनी भूमिका में लिखा है किः—'श्याम-सन्देश' मुझे अच्छा लगा। मुझे भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से उसमें रस मिला। हमारे यहाँ विरहिणी की व्यथा के द्योतन करने की प्रथा है। पुरुष संयम करके अपने भावों को थाम लेता है, ऐसा मानकर उसके हृदयोद्गारों पर प्रायः परदा डाल दिया जाता है। हृदय खोलने में पुरुष का गौरव गिरता है, ऐसा माना जाता है। इस पुस्तक में, इस लीक को तोड़ कर, कृष्ण के भावों को, ब्रज से दूर पड़ जाने पर उनके मन की टीस को, व्यक्त करने का यत्न किया गया है। यह प्रयास अच्छा है। कृष्ण की वेदना को जाने बिना राधेश्याम का यथार्थ चित्र नहीं बनता।"

ऐसा दिखाई पड़ता है कि 'भ्रमरगीत' का दूसरा पहलू स्पष्ट करने की अभिलाषा से ही खण्ड-काव्य की रचना की गई है। रूढ़ि को छोड़ कर साहित्यिक प्रगतिशीलता का परिचय भी है कि पुरुष की व्यथा का द्योतन किया गया है।

मंगलाचरण करुणा का प्रतिनिधि है। उसी से स्पष्ट हो जाता है कि काव्य करुणा से समन्वित होगा। राधा-कृष्ण के शाश्वत, आध्यात्मिक तथा अलौकिक प्रेम की प्रतिध्वनि प्रगट होती दिखाई देती है। दोनों की अभिन्नता भी जान पड़ती है—

"ऊबी-सी, लटी-सी, मन-डूबी, दूवरी-सी कछु,
तृषित चखनि, मंद-मंद मुसुकावती।
गूढ़ गति भूलति सनेह की सुरति नाहिं,
भीनी बतियान पतियाय बतरावती॥
रूप की उजागरी, नवेली, प्रेम-नागरी सी,
माधौ-मन मंदिर मैं ज्योति-सी जगावती।
राधे ब्रजरानी के सु बंदौं पद बार-बार,
आधी राति श्याम-सुपने में सदा आवती॥"

मधपुरी नामक सर्ग में, ब्रजभूमि का वर्णन है :—

"कालिन्दी कल कूल बिरछ बहु भाँति दिखावत।
ग्रीषम-भीषम तपन माहिं, सुख-रस सरसावत॥

पंछी गावत गीत तहँ, करत श्याम गुन गान।
पथिक रमत तिनकौं सुनत, हरषित होत महान ।।
बसत ता ठौर पैं।"

"फूलत कुन्द पुनाग अंबु अंबुज बहुतेरे।
कुरवक उतपल पारिजात मंदार घनेरे ।।
चंपक तुलसी बकुल बहु नागअरन सम सील।
कैसें हूँ नहि पाइयत फूलें कुंज करील।।
बिबिध रंग सौं रँगे।"

इसी प्रकार श्यामसुन्दर की मथुरा का भी वर्णन मधुमय भाषा में है।

मधुमय सबके सदन, बदन मधुमय सुन्दर गुनि।
मधुमय जीवन-रंग, उठनि बैठाने मधुमय पुनि ।।
मधु बरसावत, मधु लुटत, देत-लेत मधु-ग्यान।
मधु सौं जनु निर्मित करी, यहि मधुपुरी महान ।।
मिली मधु-सिन्धु सौं।

मधुमय बाजत जंत्र, होति धुनि मधुमय सुर की।
तासौं मधुमय होंति गलीं सिगरे मधुपुर की ।।
मधुमय श्याम-सुराज-मधि, रसना मधुमय होति।
राति-दिवस मधुमय रहत, बाँटत मधुमय जोति ।।
किरन मधुमय सौं सनी।

दूसरे सर्ग में, स्वतन्त्रता-दिवस का आयोजन है, कंस-बध के पश्चात् जनता ने मुक्ति-दिवस मनाया। श्रीकृष्ण इस भारी भीड़ वाले जुलूस में पैदल जा रहे हैं :—

"पाँय पयादे चले सबनि कौं दरसन दीन्हे।
पुष्प, अरघ, आसीरबाद सब ही सौं लीन्हे।।
अखिल-लोक-सुख-पुंज प्रभु, दीनदयालु विसेष।
गो गोपी ग्वालन सुखद, सुभ साधारन वेष ।।
मिले सबसौं मुदित।"

श्रीकृष्ण की यह जनतंत्रीय भावना युग का प्रत्यक्ष प्रभाव है। तभी :—

"न्याय-भवन सब बंद परे कोऊ नहि आवत।"
"अधिकारी जन रहत सदा सेवा में ठाढ़े।"

"पहरेदार सुजान रहत जागत, नहिं सोवत।
'भीरु, चोर, बटमार' सब्द कोषन महिं रोवत।।

राम-राज्य के अनुकूल ही श्याम-शासन की प्रशंसा में कितने ही छन्द हैं। इसी बीच में उद्धव आते हैं और श्रीकृष्ण को नाटकशाला में लिवा ले जाते हैं, जहाँ स्वतन्त्रता-दिवस के उपलक्ष में 'रासलीला' नामक अभिनय का आयोजन किया गया है। यवनिका उठते ही गोपियों के मध्य में श्रीकृष्ण वेणु-वादन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। अन्य गोपियों के साथ राधा भी इस लीला में सम्मिलित हैं। नृत्य आरम्भ हो जाता है :—

"ठुमकि देति कोउ ताल, फिरत फिरकी-सी निरतित।
कोउ गमकावति गमक, तमकि दामिनि सी थिथकित।।"
"मुरनि, चलनि, लचकनि, नाचनु की झुकि-झुकि रेलन।
ललकि-लगनि, चितवनि, सनेह सौं सुखद सकेलन।।"
छकि-छकि प्रेम-सुधा पियत, चकि-चकि निरखत गात।
जकि-जकि कछु अटपट कहत, बकि-बकि कछु रहिजात।।
अघट घट में भरें।"

यहाँ प्राचीन कथा को ही दुहराया गया है। राधा के मन में अपने कृष्ण-प्रेम के प्रति अभिमान होता है, तो श्रीकृष्ण अन्तर्द्धान हो जाते हैं। गोपियाँ अत्यन्त आकुल-व्याकुल हो उठती हैं :—

"कोउ बिथकानी थामि करेजौ कोमल रोवत।
कोउ थहरानी व्याकुल ह्वै निज धीरज खोवत।।
घूमि परी कोउ भूमि पैं, नैंकुक नहिं ठहराति।
दृग-पानी-सानी-भईं, बिललानी, बरराति।
सहमि सूखी सबै।।"

करुणा रस से पूरित इस नाटक की प्रतिक्रिया माधव के मन पर अत्यन्त प्रभावशाली हुई। उन्हें ब्रज का और गोपियों का पुनः स्मरण हो आया। वे अपनी वेदना को मन में दमन करके नहीं रख सके—

"करुन-कथा की बिथा उठीं उर में अति पीरैं।
माधव मन अभिराम विरह की चिनगीं धीरैं।।

ऊरध लेत उसाँस त्यौं, झुकि झूमत मुरझात।
घँसकति धीर-घरा सबै, चेतनता चलि जात॥
श्याम व्याकुल भये।"
"हिय काँप्यो, वहि स्वेद तनु, गिरे मूरछा खाय।"

उद्धव को व्रज भेजने का सबल कारण उपस्थित है। श्रीकृष्ण को तनिक चेतनता-लाभ होता है तो

बीति चली यहि दसा, खुले नैंना कछु आधे।
काँपत होठ विसेष, बुलावत—"राधे! राधे!"

उद्धव श्यामसुन्दर को उनके निवास-स्थान सेवा-कुंज में ले आते हैं। जब श्रीकृष्ण स्वस्थ हो जाते हैं तो उद्धव मधुर-उलाहना देते हैं :—

"जोगी ह्वै भोगी बने, कौन चले तुम चाल।"

यहीं से उद्धव का ज्ञानोपदेश आरंभ हो जाता है :—

"वहै राधिका, गोपि, वहै ग्वालनि में प्रवसित।
वहै आपु में श्याम वहै ऊधौ में निर्वासित॥
आपु सकल जग मैं रहत, आपुहि आपु लखात।
आपु यहाँ आपुहि वहाँ, का वियोग की बात॥
सब सब आपु मैं।"

तभी श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं कि प्रेम की वास्तविकता तुम भी जान सकोगे जब एक बार गोकुल हो आओगे, इसलिए तुम गोकुल जाओ और अपने ज्ञानोपदेश से गोपियों को ब्रह्म का आभास करा दो।

तीसरे सर्ग में श्याम का संदेश है। इस प्रसंग में १०७ पद हैं। आरंभ में प्रातः काल वर्णन है, जहाँ कितनी ही सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ हैं—

"कहुँ अम्बर में खेलि रहे, लघु बालक बादर।
परछाँई परि सिन्धु, डरैं, दौरैं करि आदर॥
सैल बिसाल दिखात तहँ, पकरन कौं ललचात।
मृग-सावक सौं कूदि कैं, चट बदरा कढ़ि जात॥
न आवत जाल मैं।"

"कुंजित गुंजित, हरित-भरित, खल कुल सौं कूजित।
पसु-मुखरित, पल्लवित, मरमरित, शाद्वल-पूजित॥

कल-कल छल-छल विविध, धुनि, मारुत सुरभित अंग ।
कंचल बातावरन सौं, उठति प्रमोद तरंग ।।
नवल पुहुमी व्रनत ।"

उद्धव के पधारने के पश्चात् श्रीकृष्ण उनसे कहते हैं :—

बोले विहँसि ब्रजेश :—"साधु, गुन ग्यानी पंडित ।
ब्रह्म-विचारि, निवारि असत, सत-गुन सौं मंडित !"
कहियो जसुदा मातु सौं, मेरो अमित प्रनाम ।
नंद-बबा मति भूलियो, पाँव पकरि अभिराम ।।
दण्डवत कीजियो ।"

आगे के छन्दों में श्रीकृष्ण ने अपने कष्टों और अभावों का भावपूर्ण वर्णन किया है । गोपी नहीं हैं, ग्वाल नहीं हैं, केवल राजनीति के दाँव-पेच हैं :—

"मिलत यहाँ नवनीत मिलैं मिसरी हू मीठी ।
पै मैया के नेह बिना लागत सब सीठी ।।"

गोपियों के प्रति उनके भाव हैं

"जिमि कुम्हार को चाक चलै धीरज नहीं ठहरैं ।
चित-चेटक लौं फिरैं, विरह-विपछिन-छिन लहरैं ।।"

बारहमासे की परम्परा को भी निभाया गया है । छहों ऋतुओं का करुण तथा निराशा से पूर्ण चित्रण है, जिसमें मानवीकरण की प्रधानता है । पतझर का वर्णन हैं :—

तन-तरुवर सौं झरैं पात आसा के निसदिन ।
नहिं संजोग-जल मिलै, फलै, फूलै क्यों ता बिन ।।
अभिलाषा-पंक्षी उड़ैं, बहै वियोग-बयारि ।
माधो मन उपवन सदाँ, वस्यौ रहै पतझारि ।।
प्रकृति राधे बिना ।।"

राधे के प्रति जो संदेश दिया गया है वह मौलिक होते हुए भी युग के प्रभाव से वंचित नहीं है । श्रीकृष्ण अपने स्वदेश को निरापद बनाना चाहते हैं, इसीलिए उनका मथुरा-प्रवास आवश्यक है :—

राधे अमित उदार वाहि सौं इतनी कहियौ ।
"समुझि, सोचि, धरि ध्यान, देस के हित सब सहियौ ।।
जाति-मुकति-हित महत-जन, करैं आत्म-बलिदान ।
सुधा सुरन कौं अमरता, महादेव विष-पान ।
तबै शंकर भये ।"

कंस नाहिं पै अँस अबहु ताके दल लावत ।
विविध भाँति सौं तोरि-फोरि उतपात मचावत ।।
दुरजन सौं पीड़ा मिलत, सतजन पावत क्लेश ।
उनमूलन वाँछित अबै, हिंसा पीड़ा द्वेष ।।"

श्रीकृष्ण इन सबको साम-नीति से अर्थात् अहिंसा, सत्य और प्रेम से जीतना चाहते हैं :—

"पापी सौं घिनियाय नहिं दूरि करै सब पाप ।
सांति-सुधा बाँटै सबै, हरै सकल भव-ताप ।।
सफल नेता वहै ।"

वे रक्त-पात के समर्थक नहीं हैं । लोक-कल्याण के हेतु सर्वस्व बलिहार करने की उनकी भावना अत्यन्त उच्च और महान है :—

"बिनु सोनित के बहै, पाप के मूल नसैं जो ।
जन-हित आपद सहौं, उजरि कै लोग बसैं जो ॥"

इसी सिद्धान्त के लिए वे राधा से त्याग की अपेक्षा करते हैं । वे जानते हैं कि ऐसा होगा । अभिन्नता स्थापित करते हुए यह भी कहते हैं कि :—

"राधेश्याम पुकारि कहत पहिलैं सब राधे ।
विना जीव ज्यौं देह, श्याम राधे बिनु आधे ।।
जल में सीतलता बसै, ससि मैं सुधा निवास ।
रोम-रोम गोपी बसैं, राधा हिरदे पास ।।
श्याम-राधे कहौ ।"

उद्धव ऊब उठते हैं परन्तु श्रीकृष्ण की बात पूरी ही नहीं होना चाहती है । अन्त में वे शीघ्रता से अपना रथ बढ़ा कर चल देते हैं और :—

हिरदै जनु रथ मैं गयौ, तनु आयौ प्रासाद ।
लौटे माधव दुखित लै आनन्द औरु विषाद ।।
भेंट कौं, बिरह कौ ।

अपने आरंभ से लेकर आज तक भ्रमर गीत की परम्परा अबाध गति से चली आ रही है। काल-गति का प्रभाव उस पर नहीं पड़ सका है। यह बात दूसरी है कि युगों की छाया से उसका वेष-विन्यास चटकीला-मटकीला अथवा साधारण हो गया हो। सभी कालों में, कवियों ने साहित्यिक सहयोग से उसे नवीन कलेवर प्रदान किया है, इसीलिए आज भी 'भ्रमरगीत' की परम्परा अमर है और हमारा विश्वास है, जब तक हिन्दी जीवित रहेगी यह परिपाटी शाश्वत, तथा अजर और अविनश्वर रही आवेगी।

दसवाँ अध्याय

तुलनात्मक-अध्ययन

पिछले अध्याय में हमने भ्रमरगीत की परिपाटी में गिने जाने योग्य कवियों के काव्य की आलोचना तथा विवरण प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत अध्याय में हम उनमें से कतिपय विशेष कवियों का दृष्टिकोण उपस्थित करने की चेष्टा कर रहे हैं। पिछले कवियों में, इस दिशा में, हमने सूरदास, नंददास, तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सत्य नारायण कविरत्न, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, जगन्नाथदास रत्नाकर, द्वारका प्रसाद मिश्र तथा श्यामसुन्दरलाल दीक्षित को चुना है। इसका कारण यह है कि इन कवियों ने मुक्तक छन्दों में लिखते हुए भी कथा के क्रम को भी महत्त्व प्रदान किया है। शेष कवियों ने प्रसंगवश अथवा किन्हीं अलंकार विशेष को स्पष्ट करने के हेतु ही इस विषय से सम्बद्ध छन्दों की रचना की है। कुछ कवियों को इसलिए भी छोड़ना पड़ा है कि उनकी रचना सम्पूर्ण-रूपेण उपलब्ध नहीं है।

जो भी हो. इस अध्याय में श्रीकृष्ण, राधा, गोपियाँ, नंद, यशोदा, उद्धव, भ्रमर तथा कुब्जा के प्रति जिन-जिन कवियों ने जैसे-जेसे भाव प्रकट किये हैं उनका विश्लेषण तथा विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

श्रीकृष्ण

सूरदास—इस दिशा में, हमारा दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो जाना आवश्यक जान पड़ता है। हमारा विषय केवल भ्रमरगीत तक ही सीमित है, अतएव हम इस क्षेत्र से बाहर जाकर कोई अन्वेषण नहीं करेंगे। क्योंकि सम्बद्ध कवियों के समग्र-साहित्य का विवेचन या विश्लेषण करने से, हमें भय है कि हम अपनी सीमा का अतिक्रमण करने के दोषी ठहराये जा सकते हैं।

सूरदास ने श्रीकृष्ण का जो भी चित्रण किया है, वह गोपियों की वाणी से ही ध्वनित होता है। परन्तु उपालंभ ही प्रधान होने से उसमें सत्य के स्थान पर व्यंग्य अधिक जान पड़ता है। इसीलिए उसी के अनुसार निर्णय करने में विवशता आड़े आ जाती है। परन्तु उद्धव को व्रज भेजते समय श्रीकृष्ण की जो भावना है, वह स्पष्ट ही उनके स्वरूप को स्पष्ट कर देती है। अंतरयामी कुंवर कन्हाई को गुरु-गृह में, विद्याध्ययन करते समय व्रजवासियों का स्मरण हो आता है और वे उद्धव को व्रज भेजने का विचार करते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण जिस भावना का प्रदर्शन करते हैं, वह सिद्ध करती है कि सूरदास के श्याम स्नेह की साकार प्रतिमा हैं। वे कहते हैं कि व्रज के समान संसार में कहीं भी सुख नहीं है। उद्धव से उन्होंने कहा :—

> "सुनहु उपंग सुत मोहि न बिसरत, व्रजवासी सुखदाई।
> यह चित होहि जाउँ मैं अबहीं, इहाँ नहीं मन लागत ॥"

दो पंक्तियों में उनकी व्याकुलता मूर्तिमान हो रही है। वे अपने हाथ से लिख कर पत्रिका भी दे देते हैं। माता-पिता, गोपी-ग्वालों के प्रति उनका स्नेह सहज है। वे इस वियोग के लिए, भाग्यवादियों की भाँति, विधाता को ही दोषी ठहराते हैं:—

> "विधना यहै लिख्यौ संजोग।
> कहाँ तें मधुपुरी आए तज्यो माखन भोग ॥"

नंददास—यद्यपि नंददास ने श्रीकृष्ण का विशद चित्रण नहीं किया है फिर भी उनके श्रीकृष्ण गोपियों के प्रति अभिन्नता का भाव मानते हैं, वे द्रवणशील, करुणा से पूरित तथा सच्चे प्रणयी हैं। उद्धव जब गोकुल से लौट आते हैं तब:—

"सुनत सखा के बैन नैंन भरि आये दोऊ।
विवस प्रेम आवेस रही नाहीं सुधि कोऊ।।
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहि साँवर गात।
कल्प तरोरुह साँवरो ब्रजबनिता भई पात।।"
"मो में उनमें अन्तरो एकौ छिन भरि नाहिं।
ज्यौं देखौ मो माहिं वै त्यौं मैं उनहीं माहि।।
तरङ्गनि वारि ज्यौं।"

तुलसीदास—श्रीकृष्ण के विषय में जो भी कुछ जाना जा सकता है, वह गोपियों के उपालंभों के द्वारा ही सम्भव है। स्वतन्त्र रूप से कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है।

भारतेन्दु—जो बात तुलसीदास जी के विषय में है, वही भारतेन्दु जी के बारे में हैं। फिर भी यदा-कदा उन्होंने श्रीकृष्ण का जो चित्रण किया है उससे वे कृपानिधि तथा स्नेहमय अवश्य प्रमाणित होते हैं। इसके अतिरिक्त उनके विषय में गोपियों के उलाहनों से ही जाना जा सकता है, जो व्यंग्य प्रधान होने से अति कठिन है।

सत्यनारायण—कवि ने श्रीकृष्ण की प्रशस्ति में जिन भावों का भार वहन किया है, उससे सत्यनारायण जी के श्रीकृष्ण रसिक-शिरोमणि, मन को मोहने वाले, स्नेह के कुंज, मोद प्रदाता तथा आनन्द-मूर्ति ठहरते हैं:—

"रसिक-सिरोमनि मन हरन, निरमल नेह निकुंज।
मोद-भरन, उर सुख करन, अविचल आनन्द-पुंज।।
रंगीलौ साँवरौ।"

इससे अधिक जो भी उपलब्ध है, वह यशोदा की वाणी में है, जिस पर वात्सल्य का प्रभाव अधिक है।

हरिऔध—यहाँ आकर हमें एक अप्रत्याशित परिवर्तन दिखाई देता है। अभी तक श्रीकृष्ण के साथ ईश्वरत्व की भावना भी सम्बद्ध चली आ रही थी परन्तु हरिऔध ने उनको बुद्धिवाद की भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया है। उनके श्रीकृष्ण स्नेही भी हैं, तो अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक भी हैं। वे विश्व-कल्याण और विश्व-प्रेम के संदेश-प्रदाता हैं। उनका जीवन गोकुल तक ही सीमित न होकर अत्यन्त विस्तृत दिखाई देता है। वे साधारण होते हुए भी असाधारण हैं। हृदय-मस्तिष्क तथा मनोविकारों और बुद्धि से संघर्षणशील श्रीकृष्ण हरिऔध जी के अनुराग और विवेक से समन्वित श्यामसुन्दर हैं। वस्तुतः हरिऔध जी ने जिस श्रीकृष्ण को उपस्थित किया है वह रूढ़ि-

गत न होकर प्रगतिशीलता के परिचायक हैं। चार-पंक्तियों में उनका पूरा चित्र देखिए:—

"शोभा-अद्‌भुत-शालिनी-ब्रज-धरा प्यारों पगी गोपिका।
माता प्रीति-मयी सनेह प्रतिमा, वात्सल्य-धाता-पिता॥
प्यारे गोप-कुमार, प्रेम-मणि के पाथोधि से गोप वे।
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है महा।"

मैथिलीशरण गुप्त—द्वापर में जहाँ भ्रमरगीत के अन्य पात्रों का तनिक विस्तृत विवरण है, वहाँ श्रीकृष्ण विषयक केवल एक ही छन्द दिखाई देता है, जिसके अनुसार गुप्त जी के श्रीकृष्ण समस्त विश्व को अभय-दान देते हुए दिखाई पड़ते हैं। वे संघर्षों से उपराम-प्रवृत्ति ग्रहण करके मधुरता की ओर झुके हुए हैं और सभी को पाप-ताप से मुक्त करने का आश्वासन दे रहे हैं:—

राम भजन कर पांचजन्य! तू, वेणु बजालूँ आज अरे।
जो सुनना चाहे सो सुनले, स्वर ये मेरे भाव भरे—
कोई हो सब धर्म छोड़ तू, आ, बस मेरा शरण धरे।
डर मत, कौन पाप वह, जिससे मेरे हाथों तू न तरे?"

रत्नाकर—आरम्भ में ही जिस मौलिकता के साथ श्रीकृष्ण का वर्णन रत्नाकर जी ने किया है, वह यह सिद्ध करता है कि श्रीकृष्ण अनन्य प्रेमी हैं। उनके हृदय में अत्यन्त कोमल भावनाएँ विद्यमान हैं। वे तो विशुद्ध प्रेमोपासक श्रीकृष्ण हैं और कुछ नहीं हैं—

"ऊधौ ब्रज-बास के बिलासनि कौ ध्यान धँस्यौ,
निसि दिन काँटे लौं करेजैं कसकत है।"

द्वारका प्रसाद मिश्र—कृष्णायन में चित्रित मिश्र जी के श्रीकृष्ण अपने कर्त्तव्य के प्रति अत्यधिक जागरूक दिखाई पड़ते हैं। उनके मन में व्यथा कम है, पश्चात्ताप अधिक हैं:—

मधुपुर तजत न रंच सँकोचू।
छूटत ब्रज जन उर अति शोचू॥
गयेउँ न कबहुँ, सुधिहि नहिं लीन्हीं।
लहि मैं प्रीति व्यथा बहु दीन्ही।
बसिहौं दूर द्वारका जायी।
तजिहैं तनु ब्रजजन बिलखायी॥"

इसी कारण वे उद्धव को ब्रज भेजते हैं।

'श्याम-सन्देश' में जो श्रीकृष्ण है, वे स्नेह की मूर्त्ति भी हैं और करुण-सौन्दर्य-हृदय भी हैं। करुणा से पूरित नाटक देखकर, पूर्व-स्मृति जागृत होने पर वे भाव-विभोर होकर चेतना खो बैठते हैं।

"ऊरध लेत उसांस त्यौं, झुकि झूमत मुरझात।
धँसकति धीर धरा सवै, चेतनता चलि जात।।
श्याम व्याकुल भये।"

वे नेता भी हैं जो सत्य, अहिंसा और प्रेम से विश्व को पाप-ताप हीन करना उचित मानते हैं। विश्व-सेवा ही उनका ध्येय है।

"जीतनु चाहत सकल जन, श्रद्धा, प्रेमु बढ़ाय।
साम-नीत को साथ लै, निज बिसवासु दृढ़ाय।"

स्नेह-मूर्ति तो वे हैं ही। अन्तिम अध्याय में, श्रीकृष्ण ने अपने जिन मनोभावों की अभिव्यंजना की है, उससे परम-प्रेमी, योगी, सात्विक स्नेह के शिरमौर तथा विश्व-विग्रह से प्राणियों का उद्धार करने वाले महामानव और भक्तों के हेतु जन-मन-रंजन सिद्ध होते हैं।

———

राधा

सूरदास के भ्रमर-गीत में राधा का जो वर्णन है, वह अति संक्षिप्त है। उद्धव के साथ राधा का वाद-विवाद भी नहीं दिखाया गया है। वह तो 'अति मलीन वृषभानु कुमारी' है। गोपियों के उपालंभों में यथा-स्थान जो कुछ मिल जाता है, वह इतना नहीं है कि चरित्र-चित्रण का आधार बन सके।

नददास के भँवर-गीत में तो राधा का कोई विवरण मिलता ही नहीं है। इसलिए मौन ही उचित जान पड़ता है।

तुलसीदास के पदों में, जो भ्रमरगीत से सम्बद्ध माने जा सकते हैं, राधा का वर्णन नहीं है।

भारतेन्दु हरिश्चद्र ने भी राधा का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में किया है।

सत्यनारायण कविरत्न के भ्रमर-दूत में राधा का अभाव है।

हरिऔध जी ने अवश्यमेव राधा को प्रमुखता प्रदान की है। उन्होंने राधा की स्नेहमयी सात्विक-प्रणय की भावना का अत्यन्त सफल चित्रण किया है। उद्धव से वार्तालाप करते समय राधा का चित्र अत्यन्त समुज्ज्वल हो उठता है। वह उद्धव के दर्शन पाकर पुलकित हो उठती है, यह उसकी करुण-भावना का प्रतीक है। वह श्रीकृष्ण को भी केवल अपने ही तक सीमित नहीं रखती हैं। तभी वह कहती हैं :—

"मेरे प्यारे, पुरुष, पुहुमी-रत्न औ शान्त धी हैं।"

फिर भी वह कोमल हृदया नारी है। उसके मन में भी प्रबल आकांक्षाएँ उठती हैं। वह श्यामसुन्दर के दर्शनार्थ व्याकुल हो उठती है :—

"होते मेरे निबल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं समुद उड़ती श्याम के पास जाती॥"

राधा के मन की वेदना साधारण होते हुए भी कभी-कभी असाधारण हो जाती है और वह विवश हो जाती है :—

"जो उत्कण्ठा अधिक प्रबला है किसी काल होती।
तो ऐसी है लहर उठती चित्त में कल्पना की॥
जो हो जाती पवन, गति पा वांछिता-लोक-प्यारी।
मैं छू आती परम प्रिय के मंजु पादांबुजों को॥"

हरिऔध जी की राधा एक प्रकार से निर्लिप्ता और संयता है, फिर भी उसके सरस मानव-मन में, श्याम का स्मरण होते ही, कसक उत्पन्न हो जाती है। यह स्वाभाविक भी है। यदि वह भावनामयी नहीं होती तो आदर्श की मूर्त्ति-मात्र बनकर रह जाती। हरिऔध जी ने तो ऐसी राधा का चित्रण किया है जो मानवी होते हुए भी अलौकिक है।

राधा का ज्ञान भी बड़ा गहरा है। सम्भवतः उद्धव जैसे ज्ञानी उसके चरणों में शिरसावनत प्रणाम करना अपना सौभाग्य ही मानेंगे। प्रणय की व्याख्या करते हुए राधा कहती है कि रूपादिक मोहमयी आसक्तियों से प्रणय सम्वर्द्धित नहीं होता है। प्रिय के सद्गुणों का स्मरणादि ही उसे स्थायित्व प्रदान करने में समर्थ हैं :—

"जैसे पानी प्रणय तृषितों की तृषा है न होती।
हो पाती है न क्षुदित-क्षुधा अन्न-प्रासक्ति जैसे ।।
रूपाधारों मधुर छबि की मूर्तियों मध्य वोंही।
हो पाता है न प्रणय, हुआ मोह-रूपादि द्वारा ।।"
मूली-भूता-प्रणय विविधा-बुद्धि की वृत्तियाँ हैं।
हो जाती हैं समधिकृत जो व्यक्ति के सद्गुणों से ।।
वे होते हैं नित नव तथा दिव्यता-धाम स्थायी।
पाइ जाती प्रणय-पथ में स्थायिता है इसी से ।।

राधा के दृष्टिकोण में ही श्रीकृष्ण का विश्व-कल्याण अन्तर्निहित है। बल्कि कुछ अंशों में तो वह श्रीकृष्ण से भी कुछ आगे बढ़ गई है। उसे सर्वत्र ही अपने श्याम के दर्शन होते हैं। प्रकृति के हास-विलास में भी श्याम-सुन्दर के क्रिया-कलाप परिभासित होते हैं :—

"पाती हूँ विश्व प्रिय-तम में विश्व में प्राण प्यारा।
ऐसे मैंने जगतपति को श्याम में है विलोका ।।"

नवधा भक्ति का नवीनतम विवेचन भी राधा के आदर्शों की अलौकिक अभिव्यंजना है। विश्वात्मा के प्रति अगाध निष्ठा तथा सर्वात्म के हेतु अपने समस्त सुखों और आकर्षणों का बलिदान राधा जैसी महत् नारी के मुख से निसृत होकर अनुपमेय बन गया।

सबसे मुख्य बात जिस पर हरिऔध जी ने अधिक बल दिया है, वह यह है कि उन्होंने राधा के पौराणिक-स्वरूप को समुज्ज्वल कर दिया है। राधा को कहीं तो स्वकीया अथवा परकीया के पालनों में झुलाया गया तो कहीं उसे विवाहिता बताया गया। सूर ने इस दिशा में राधा को श्रीकृष्ण की शक्ति सिद्ध किया और श्रीकृष्ण की

राधारमण की पदवी से भी विभूषित किया। रीतिकाल के कवियों ने तो राधा-कृष्ण को जो नाच नचाया है, उसके कारण वे साधारण विलासी नायक-नायिका बनकर रह गये। हरिऔध जी के दृष्टिकोण में यह विवाद अवश्य ही रहा होगा और तभी उनके बुद्धिवादी कवि ने प्रचलित मान्यताओं के प्रति असहमति प्रकट की होगी।

हरिऔध जी ने बड़े कौशल से राधा के प्रणय की सात्विकता का संरक्षण किया है। उन्होंने माना है कि राधा कुमारी थीं और श्रीकृष्ण-प्रवास के पश्चात् आजीवन कौमार्य व्रत-धारण करके ही उसने अपना जीवन-यापन किया। इस प्रकार प्रिय के लिए जीवनोत्सर्ग करने वाली राधा अत्यन्त सात्विक और असाधारण मानवी ज्ञात होती है। उद्धव से अन्तिम सन्देश के रूप में वह कहती है :—

"आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।
मेरा कौमार-व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे॥"

मैथिलीशरण गुप्त ने द्वापर में राधा का जो संक्षिप्त परिचय दिया है, उससे यह स्पष्ट है कि वह श्रीकृष्ण के प्रति सर्वस्व-समर्पण की भावना से अभिप्रेरित है :— "एक तुझी को, एक तुझी को अर्पित, राधा के सब कर्म हरे।" उसे अपने अभाव का ज्ञान भी है।

"कैसे तुष्ट करेगी तुझको, नहीं राधिका बुधा हरे।
पर कुछ भी हो नहीं कहेगी तेरी मुग्धा मुधा हरे॥
मेरे तृप्त प्रेम से तेरी बुझ न सकेगी क्षुधा हरे।
निज पथ धरे चले जाना तू अलं मुझे सुधि-सुधा हरे॥"

वह समस्त आपदा-विपदा को सहन-वहन करते हुए भी श्रीकृष्ण का चिरस्मरण चाहती है। समष्टि रूप में गुप्त जी की राधा प्रेममयी है और व्यक्तिरूप में वह निष्केवल श्रीकृष्ण की प्रणयिनी है।

रत्नाकर ने अपने 'उद्धव शतक' में गोपियों की ओर से जो भी कुछ कहलवाया है, उसमें राधा का कोई विशेष स्थान नहीं है। उद्धव के सन्मुख उसकी उपस्थिति भी वांछनीय नहीं मानी गई है। सूरदास तथा नन्ददास ने भी ऐसा ही किया है। परन्तु क्यों? इस अभाव का कोई कारण कहीं नहीं दिखाई पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि गोपियों के अन्तर्गत ही राधा का समावेश हो जाता है। बात चाहे जो भी रही हो, परन्तु यह एक खटकने वाली बात अवश्य है। केवल एक गोपी राधा की अवस्था के विषय में उद्धव को चेतावनी देती है कि तुम्हारे पधारने और योग-क्रिया-प्रसरण की कथा कहीं राधे नहीं सुनले अन्यथा प्रलय हो जाना अशक्य नहीं है :—

हरि-तन-पानिप के भाजन दृगंचल तैं
उमगि तपन तैं तपाक करि धावै ना।
कहै रतनाकर त्रिलोक-ओक-मंडल मैं,
वेगि ब्रह्मद्रव उपद्रव मचावै ना।।
हर कौं समेत हर-गिरि के गुमान गारि,
पल मैं पतालपुर पैठन पठावै ना।
फैले बरसाने मैं न रावरी कहानी यह,
बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावै ना।।"

चलते समय वह उद्धव को वंशी भेट कर देती है और उद्धव राधा के सरस दर्शन की स्मृति लेकर ही मथुरा आ जाते हैं।

"कीरति कुमारी के दरस-रस सद्य ही की,
छलकनि चाह पलकनि पुलकाए देत।"

द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्णायन में, इस विषय से सम्बद्ध, जो भी प्रकरण उपस्थित किया है, उसमें एक स्थान पर चमत्कारिक ढँग से राधाकृष्ण के स्नेह का चित्रण किया है। स्नान के हेतु पधारे हुए उद्धव सहसा गोकुल वन-कुंजों को मुदित-प्रफुलित देखते हैं और एक गोपबाला को साक्षात् श्रीकृष्ण के आराधन में निमग्न पाते हैं। उसके पूजन-अर्चन के पश्चात् सकल वातावरण पुनः विषादित हो जाता है। तभी यशोदा उद्धव से कहती हैं कि यही श्याम-सखी राधा है। भक्तों का मनोरंजन तो इस प्रसंग से पर्याप्त हो जाता है परन्तु राधा का चित्र धूमिल ही रहता है।

"श्याम-सन्देश" के मंगलाचरण में जो राधा का चित्रण किया गया है, वह असम्पूर्ण है। परन्तु दूसरे सर्ग में, नाटकाभिनय के अवसर पर, श्रीकृष्ण के अन्तर्द्धान होने के पश्चात् राधा की जिस अवस्था का चित्रण किया है, वह प्रकट करता है कि राधा का हृदय अत्यन्त सरस और श्रीकृष्ण के प्रति नितान्त स्नेहोन्मुख है।

"राधा की कछु दसा व्यथा को रंग अमित ह्वै।
पीरो-सीरो गात, नयन जलधार चली च्वै।।
व्यौंत बन्यौ कछु प्रलय को, होत विषाद विलाप।
बाढ़ति सुरसरि धार लौं।।"
"जागति, मूर्छित होति, उठैं, गिरि परैं भूमि पै।
सो वृषभानु कुमारि जियैं हिय नन्द-नन्दन लै।।"

मात्र इतनी ही पंक्तियों से राधा का सम्पूर्ण चित्र स्पष्ट नहीं हो पाता है। इस सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकाश डालना आवश्यक था।

भ्रमर-गीत के अन्तर्गत, राधा का जो भी और जैसा भी चित्रण हुआ है वह पर्याप्त नहीं है। अधिकतर उसे उद्धव के सामने प्रस्तुत ही नहीं किया गया है। अतएव उसकी हृदयगत भावनाओं का उद्घाटन अवगुंठित और कुंठित ही रह गया है। केवल हरिऔध जी का प्रयास इस दिशा में अनुपम है। उन्होंने उद्धव के सामने राधा को प्रस्तुत किया है और राधा के गम्भीर-विचारों से उस ज्ञान-गरिमा से मंडित पंडित को सप्रमाण यह जता दिया है कि योगिराज श्रीकृष्ण की प्रणयिनी राधा कोई साधारण नारी नहीं है। उसके ज्ञान सिन्धु की थाह पाना शक्य नहीं है।

बाल-जीवन के चित्रों में तो बहुत से कवियों ने राधा का वर्णन किया है, परन्तु मात्र उसी से वियोग व्यथित राधा का परिचय प्राप्त नहीं हो पाता है। चित्र के दोनों अंगों का स्पष्टीकरण आवश्यक था। यों तो भ्रमरगीत में गोपियों और भ्रमर तथा उपालंभों की प्रधानता ही मुख्य मानी जानी योग्य है परन्तु उसमें राधा का व्यक्तित्व भी पर्याप्त समुज्ज्वल होना आवश्यक था।

गोपियाँ

सूरदास की गोपियाँ आरम्भ में अति मानवी दिखाई देती हैं। वे यही मानती हैं कि गोपाल अपने गोकुल को आ जावें:—

"तौ तू उड़ि न जाइ ऐ काग।
जौ गुपाल गोकुल कौं आवें, तो ह्वै हैं बड़ भाग।"

ऐसा मानते हैं कि बोलने वाला कौआ उड़ जावे तो प्रिय का आगमन होता है। उद्धव को देखकर तो वे मूर्छित हो जाती हैं। ऐसी सरल हृदय गोपिकाएँ जब उद्धव से वार्तालाप में संलग्न होती हैं तो अत्यन्त विवेकमयी, शान्त, धीर, गंभीर भी दिखाई देती हैं और कहीं-कहीं नितान्त मानवी बनकर वे उद्धव को जली-कटी भी सुना देती हैं।

सूर की गोपियों का विवेक भी प्रशंसनीय है। वे एकदम ऊद्धव का बहिष्कार तिरस्कार नहीं करती हैं। शिष्टाचार के अनुसार वे यही कहती हैं कि इनकी बातें तो सुनलो। जिस रंग में उद्धव बात करें उसी रूप में उनको उत्तर देना ठीक रहेगा। गोपियाँ बिल्कुल नीति से अभिभूत व्यवहार की ओर उन्मुख हैं—

"बोलक इनकौ हू सुनि लीजै।
कैसी उठनि उठैं धौं ऊधो, तैसोइ उत्तर कीजै।।
या मैं कछू खरचियत नाहीं, अपनौ मतो नवीजै।"

गोपियों का हृदय कोमल और सरस भावनाओं से परिपूर्ण है। श्याम का स्नेह-पत्र पाकर वे गद्‌गद् हो जाती हैं:—

"निरखति अँक श्याम सुन्दर के बार-बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्यास स्याम जू की पाती।।"

उद्धव के निराकार-निर्गुण का जैसा मधुर उपहास सूर की गोपियों ने प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वे श्रीकृष्ण के प्रति अनन्यता के भाव से भरित हैं। इसी कारण उद्धव का ब्रह्म-ज्ञान उनको आकर्षित नहीं कर पाता है। वे मधुकर के प्रति उपालंभ प्रस्तुत करती हुई अपने स्नेह की दृढ़ता प्रगट करती हैं:—

"मधुकर हम न होंहि वै बेलि।
जिन भजि तजि तुम फिरत और संग, करत कुसुम रस-केलि।"

निर्गुण-ब्रह्म से परिचय प्राप्त करने की जिज्ञासा का जैसा उपहसित स्वरूप गोपियों ने उपस्थित किया है, वह उनके वाग्वैदग्ध्य का परिचायक है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सूर की गोपियों में जहाँ बुद्धि की प्रखरता है, वहाँ भावुकता का अभाव भी नहीं है। वे मानवी भी हैं और अलौकिक भी हैं। सर्वस्व समर्पण की भावना उनका सबसे उच्च आदर्श है। उद्धव जैसे ज्ञान-मंडित को वाक्य-वाणों से दंडित करना सूरदास की ही गोपियों का कौशल है।

नन्ददास की गोपियाँ जहाँ शिष्ट है वहाँ तीव्र तर्कशालिनी भी हैं। जैसा कुछ उद्धव कहते जाते हैं, वैसा ही सुनते भी जाते हैं। नन्ददास की गोपियाँ व्युत्पन्नमति भी हैं और वाक् चातुरा भी हैं। यह दोनों ही गुण उनकी स्थिति को असाधारण बना देते हैं। उद्धव के निराकार को अव्यावहारिक सिद्ध करने के हेतु वे उसे स्नेह की कसोटी पर कस देती हैं। वे स्वाभाविक जिज्ञासा से पूरित होकर पूछती हैं:—

"जो मुख नाहिन हुतो कहो किन माखन खायो।
पायन बिन गो सँग कहो बन-बन को धायो?
आँखिन में अंजन दयो गोबरधन लयो हाथ।
नन्द जसोदा पूत हैं कुँवर कान्ह ब्रजनाथ॥"

गोपियों के तर्क निर्बल नहीं हैं। वे शरीर से अबला हैं, परन्तु उनकी मानसिक स्थिति किसी सबला से कम नहीं है। वे कहती हैं कि जो साकारोपासना नहीं करते हैं, वे लोग ही नास्तिक हैं:—

"नास्तिक जे हैं लोग कहा जानें हित रूपैं।
प्रगट भानु को छांडि गहैं परछाहीं धूपैं॥"

इतनी बात अवश्य है कि सूरदास की गोपियों में जहाँ भावना की प्रखरता है वहाँ नंददास की गोपियों में बुद्धि के विकास की अधिकता है। नंददास की गोपियों के अकाट्य तर्क निःस्नेही व्यक्ति के मन में भी गुदगुदी उत्पन्न करने वाले हैं। सरस और साक्षर दोनों ही प्रकार के व्यक्ति गोपियों के वाद-विवाद में रस प्राप्त कर सकते हैं।

भ्रमर को संबोधित करके उपालंभ देने वाली गोपियों के हृदय में प्रेम की पीड़ा ही अधिक है। उस स्थान पर उनका तर्क शान्त हो जाता है, परन्तु उनके व्यंग्यों की तीक्ष्णता कहीं भी मंद होती नहीं दिखाई देती है। ऐसा जान पड़ता है कि नंददास ने सफल व्यंग्यों की अभिव्यंजना के प्रतीक-स्वरूप गोपियों की अवतारणा की है।

नंददास ने स्वयं लिखा है—

"देखत इनको प्रेम नेम ऊधो को भाज्यो।
तिमिर भाव आवेस बहुत अपने मन लाज्यो॥"

इस प्रकार प्रेम के नियम से आबद्ध गोपियों का परिचय हमें नन्ददास ने दिया है। यह उचित ही है कि वे भ्रमर-गीत के लिए सूरदास के अनुगृहीत हैं परन्तु जहाँ तक गोपियों के स्वाभाविक चित्रण का प्रश्न है, नन्ददास ने अपनी मौलिकता से ही अधिक काम लिया है। उनकी गोपियों पर सूरदास की गोपियों का प्रभाव बिल्कुल भी नहीं दिखाई पड़ता है। एक रूप से, नन्ददास ने गोपियों के जिस नवीन रूप का उद्-घाटन किया है, वह सरस, सुन्दर और आकर्षक है।

तुलसीदास की गोपियाँ उदार भी हैं और स्नेहमयी भी हैं। वे मधुकर से अपनी ज्ञान-कथा कह डालने का आमंत्रण देती हैं, ताकि उसकी अभिलाषा की हत्या न हो जाय। वे अत्यन्त शिष्ट भी हैं, उद्धव के वचनानुसार व्यवहार करने को कहती हैं परन्तु यह भी निवेदन कर देती हैं कि हमारे हृदय की अवस्था जान कर हमें हित-कर तथा हमारी आत्मानुकूल शिक्षा दीजिये। वे कृष्ण को स्वामी मानकर उनके दोषों की गणना नहीं करना चाहती हैं—यहाँ तुलसीदास जी का मर्यादा-भाव झलक उठता है।

गोपियों में व्यंग्य का अभाव नहीं है। वे श्रीकृष्ण को "कूबरी-रमन" की उपाधि देकर उपहसित करने की अभिलाषा का दमन नहीं करना चाहती हैं। यह तो उद्धव पर भी एक छींटा है, कि उनके मित्र श्रीकृष्ण ऐसे हैं।

उनकी गोपियों में विवेक-बुद्धि भी पर्याप्त है। वे कहती हैं कि कूबरी रमण का ज्ञानोपदेश सुनकर भी विचार करने के योग्य है, उसे एकदम कैसे ग्रहण कर लिया जाय—क्योंकि 'संग्रह त्याग न बिनु पहचानें' का सिद्धान्त अपेल हैं। अब तो आज्ञा पाकर और सिर झुकाकर तथा घर में बैठकर अपनी गति की सीमा निश्चित करनी ही पड़ेगी और साथ ही मति-रूपी मटकी में, मृग जलभर कर घी निकालने के हेतु मन ही मन मथना भी पड़ेगा।

"ज्ञान गिरा कूवरी रवन की सुनि विचारि गहिबे की।
पाइ रजाइ नाइ सिर गृह ह्वै गति परिमिति लहिबे की।।
मति-मटुकी मृगजल भरि घृतहित मन हीं मन महिबे की।।"

उद्धव के ज्ञानोपदेश का रूपक बांध कर गोपियाँ एक ही बात में समस्त स्थिति को गड़बड़ा देती हैं:—

"है निर्गुण-सारी बारिक, बलि, घरी करो, हम जोही।
तुलसि ये नागरन्हि जोग पट जिन्हहिं आयु सब सोही।।"

निर्गुण की साड़ी अत्यन्त महीन है, उसे तो शहर की छैल-छबीलियाँ ही धारण कर सकती हैं, जिनको अपने स्थूल-सौंन्दर्य के प्रकाशन की कामना रहती है।

पतिव्रत पालन करने वाली नारी का आकर्षण केन्द्र केवल उसका पति ही होता है। कौन जाने तुलसीदास जी ने अपनी दिव्य दृष्टि से बीसवीं शताब्दी का दर्शन कर लिया होगा, तभी उनका यह व्यंग्य आज भी लागू हो जाता है।

जो भी हो, उनकी गोपियों में नंददास की गोपियों के समान तार्किक भावना नहीं है। वे बुद्धिवादी अवश्य हैं; परन्तु सूर की गोपियों के समान उनके मन-मानस में भावना-लहरियाँ हिलोरें मारती रहती हैं। उनके व्यंग्यों में तीखापन और चोट होते हुए भी मर्यादा-पालन की अभिव्यक्ति स्पष्ट है। अप्रत्यक्षरूप से तुलसी की गोपियों पर उनके मर्यादा-उद्देश्य का प्रभाव सभी स्थानों पर उपलब्ध है।

भारतेन्दु की गोपियों में प्रेम की पीड़ा ही अधिक है। वाक्-चातुरी होते हुए भी बुद्धि का विलास नहीं वरन् भाव-पक्ष की ही प्रधानता है।

सत्यनारायण ने गोपियों का कोई वर्णन नहीं किया है।

हरिऔध जी ने गोपियों का जो वर्णन किया है, वह विशद भी है और सरस भी है। उसमें मनोवैज्ञानिकता भी है। उन्होंने इस दिशा में तीन-चार सर्गों का उपयोग किया है। उद्धव के ब्रज पधार जाने के पश्चात् एक दिन जब वे एक अति रम्य कुंज में बैठे थे तभी एक गोप-बाला ने वहाँ प्रवेश किया। उस गोपी में हमें प्रेमोन्मत्तता ही अधिक दिखाई पड़ती है। हरिऔधजी ने एक गोपी से यही कहलाया है :—

देखो सोचो दुखमय दशा श्याम माता पिता की।
प्रेमोन्मत्ता बिपुल ब्रज की बालिका को विलोको।।

उद्धव के निर्गुणोपदेश का खंडन कहीं भी हरिऔध जी ने नहीं कराया है। इसका कारण है, उनकी अपनी मान्यता। उनकी गोपियों का स्नेह एक प्रकार से मुग्धा के रूप में आरम्भ होकर प्रौढ़ हो गया है। वे श्रीकृष्ण से विवाह की कामना रखते हुए भी अभी तक कौमार्य-व्रत का निर्वाह कर रहीं हैं और उसे ही सफल बनाना चाहती हैं। उनकी गोपियाँ सूरदास, नंददास और तुलसीदास की गोपियों से भिन्न हैं। उनकी वाणी में प्रखरता कम है, सरसता अधिक है। वाद-विवाद की अपेक्षा वे अपना विरह-निवेदन करना अधिक उपयुक्त मानने वाली श्रीकृष्णानुरागिणी बालिकाएँ हैं।

मैथिलीशरण गुप्त ने जिन गोपियों की अवतारणा की है, वे एक प्रकार से राधा का प्रतिनिधित्व कराने वाली हैं। यों तो उनके पास अपनी बात कहने की सामग्री भी है और जहाँ वे दोनों की बात मिला कर कहती है, वहाँ स्नेहाभिमान से फूली नहीं समाती हैं। उनका कहना हैं कि राधा जब तक अभिमानिनी है तब तक श्रीकृष्ण की मनमानी चल सकती है अन्यथा :—

"उसमें अहम्भाव तो आवे भरें न आकर पानी ।
चरणों में न पड़ें तो कहना मुकुट, रत्न मालाएँ ।।"
सौ चक्कर काटेंगे आकर उतरेगी तब त्योरी ।

यह दर्द, यह तेज और यह विश्वास न तो सूरदास की गोपियों में है, न नंददास की और न तुलसी ही ऐसा कह पाये हैं। हरिऔध जी तो इस विचार के आस-पास भी नहीं हैं। उद्धव की ज्ञान-चर्चा सुनकर गोपियों का तीखा उत्तर उनकी झुंझलाहट को स्पष्ट करता है। इससे जान पड़ता है कि वे मानवी भी हैं :—

"निज विराट को छोड़, सूक्ष्म से कौन यहाँ सिर मारे।"

गुप्तजी की गोपियों में अभिन्नता का भाव भी वर्तमान है।

"एक मूर्त्ति आधे में राधा आधे में हरि पूरे।"

गुप्त जी की गोपियों में सरलता और शिष्टता भी है; परन्तु दर्प से समुज्ज्वल रूप की ही प्रधानता है।

रत्नाकर जी की गोपियों को तो नन्ददास जी की गोपियों का नवीनतम संस्करण ही कहना उचित होगा। उद्धव का मुँह बन्द करने के लिए उनके पास तर्कों का असीम भण्डार उपस्थित है। वे ऐसी-ऐसी खरी-खोटी सुनाती हैं कि उद्धव के आँख-कान दोनों ही खुल जाते हैं। रत्नाकर जिस कवि का उपनाम हो, उसकी गोपियों के पास शब्द भण्डार न होता, तभी आचार्य की बात मानी जाती। उनकी गोपियाँ अपनी उक्तियों से जो चमत्कार उत्पन्न करती हैं वह उनकी व्युत्पन्न मति और अप्रतिहत गतिशीलता का परिचायक है। उनका व्यक्तित्व साधारण गोपियों का व्यक्तित्व नहीं है। वे विद्वत्ता से परिपूर्ण हैं और उनका विशद-ज्ञान उनकी बहुज्ञता का आभास देता है। आरम्भ में ही पत्रिका को देखकर वे पूछती हैं कि यहाँ तो विषम ज्वर से पीड़ित हैं और श्रीकृष्ण ने यह पत्रिका भेजी है, सो यह कौन से रोग की औषधि है ? गोपिआँ वैद्यक से परिचित हैं :—

"रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं ।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत ना सुदर्शन हूँ यौं सुधि सिराई हैं ।।
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिन को,
भाय क्यौं अनारिन को भरत कन्हाई हैं ।
ह्याँ तौ विषम-ज्वर-बियोग की चढ़ाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई है ।।"

द्वारकाप्रसाद मिश्र की गोपियाँ भी तर्कशील हैं। यों तो उनमें भी भावना का अभाव नहीं है। परन्तु निर्गुण के विवाद में वे नहीं पड़ी हैं! ऊधव ने जैसा मनोवैज्ञानिक प्रश्न किया था उसका वैसा ही उपयुक्त उत्तर भी उनको मिल गया। उनकी गोपियाँ कुशाग्र बुद्धि हैं और समयानुसार अपने पक्ष का समर्थन करने में पटु तथा प्रवीण हैं। ज्ञानोपदेश का विवरण कवि ने वर्णन ही नहीं किया है।

"श्याम-सदेश" की गोपियों का थोड़ा-सा परिचय स्वतन्त्रता दिवस वाले सर्ग में है। उसे वास्तविक तथा तथ्यपूर्ण वर्णन मानने को हम तयार नहीं हैं, क्योंकि वह नाटक का एक दृश्य है। अभिनेताओं को उसका श्रेय अधिक है। फिर भी उससे जो कुछ अभिव्यंजित होता है उसके अनुसार गोपियाँ अनन्य प्रेमानुरागिणी, सरस हृदया और श्रीकृष्ण के प्रति पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली हैं। उनकी वाणी में करुणा है। यदि कवि ने उद्धव-गोपी सम्वाद भी लिखा होता तो गोपियों की प्रकृति और प्रवृत्ति के विषय में अधिक ज्ञात होना संभव था।

नन्द

सूरदास के नन्द, जिनका वर्णन भ्रमर-गीत में हुआ है, वस्तुतः पिता हैं। पुरुष में जैसी स्वाभाविक परुषता अपेक्षित है, वह उनमें भी है। दूसरी ओर उनका हृदय वात्सल्य से परिपूर्ण पिता का मानस है। उद्धव के रथ को अपने माधव का रथ मान कर वे गोपों के साथ उसके स्वागत के लिए पहुँचते हैं—

"नंद गोप हरषित ह्वै, गए लैन आगैं।"

गोप-बालाएँ तो मोहन के स्थान पर उद्धव को देखकर व्याकुल हो गईं परन्तु नंद को सुख भी हुआ कि यह श्यामसुन्दर का संदेश लेकर ही आया होगा, अतएव प्रिय न सही, प्रिय का संदेश ही सही, फिर श्रीकृष्ण ने भी इसे सु-कुल का यादव समझ कर ही भेजा होगा :—

"निरखत ऊधो कौं सुख पायौ।
सुन्दर सुलज सुबंस देखियत, या तैं स्याम पठायौ॥
नीकैं हरि-सन्देश कहैगो, श्रवन सुनत सुख पैहैं।"

नंद जी उद्धव को अपने निवास-स्थान पर ले आते हैं और सभ्यतापूर्ण शिष्टाचार से आवभगत करने के पश्चात् पूछते हैं कि कभी गोपाल मुझे भी स्मरण करता है? दो ही पंक्तियों में मानों पिता का हृदय उलट पड़ा है।

सूरदास के नंद अलौकिक न होकर अधिकांश में मानव हैं। पिता के प्रेम से पूरित परन्तु अपने मन की व्यथा पर निग्रह रखने वाले हैं।

नंददास, तुलसीदास, भारतेन्दु और सत्यनारायण जी के भ्रमर गीतों में नंद जी का कोई वर्णन नहीं मिलता है।

हरिऔध जी के नंद विशाल हृदय वाले पिता भी हैं और गोकुल के अधिपति भी हैं। वे उद्धव का स्वागत करते हैं, आगे बढ़ कर उन्हें लेते हैं परन्तु पिता के नेत्रों की खिन्नता यही प्रगट करती है कि मानों यह सब यंत्रवत् हो रहा है :—

"करुण-नयन वाले, खिन्न उद्विग्न, ऊबे,
व्रजपति संग प्यारे बंधु औ सेवकों के।
सुअन-सुहृद ऊधो पास आये यहाँ ही,
फिर सदन सिधारे व उन्हें साथ ले के॥"

यहाँ भी नंद के पुरुष की परुषता संरक्षित है । यशोदा का करुण-विलाप जितना तटस्थ होकर उद्धव सुनते है, लगभग उसी के समान मौन होकर नंद भी अपनी गृहिणी के दुख-दैन्य को देख-सुन लेते हैं :—

"निशा सिरानी नभ स्वेत होगया,
तथापि पूरी न व्यथा-कथा हुई ।
परन्तु फैली अवलोक लालिमा
स-नन्द ऊधो उठ सदन से गये ।"

एक स्थान पर नंद जी के अनुकूल थोड़ा सा वर्णन और भी मिलता है । वे शास्त्रों में अपार श्रद्धा रखने के कारण प्रिय-पुत्र के वियोग-भार को सहन करने की सामर्थ्य रखने वाले थे । राधा उनकी खिन्नता को दूर करने में प्रयत्नशीला थी :—

" वे थीं प्राय: ब्रज-नृपति के पास उत्कण्ठ जातीं ।
नाना सेवा स्व-कर करतीं क्लाँतियाँ थीं मिटातीं ।।
बातों ही में विभव-जग की तुच्छता थीं दिखातीं ।
जो वे होते विकल, पढ़ के शास्त्र नाना सुनातीं ।।"

मैथिलीशरण जी गुप्त के नंद सन्तोषी भी हैं कि देवकी का कोष उन्होंने देवकी को लौटा दिया है । परन्तु उनका पितृ-हृदय पीड़ा से भरा ही रहता है, वे अपने परुषत्व की रक्षा के हेतु रोना भी एकान्त में ही चाहते हैं, ताकि दूसरे प्राणी उनके दुख से दुखी न हों—

"तब तक मैं भी तनिक अकेला रह कर जी भर रो लूँ ।
मानस के जल से मुख धोलूँ.......................... ।"

प्रकृति के प्रति भी वे उदासीन नही हैं । वे उसकी हलचल में अपने विषाद को ही मूर्तिमान देखना चाहते हैं; पिता का सूना मन मानों हाहाकार कर रहा है :—

"शून्य गगन, तेरी गोदी को अभी इन्दु भर देगा
पर मेरी जीवन-संध्या का तिमिर कौन हर लेगा ?"

जान पड़ता है नंद के हृदय की समस्त करुणा उलट पड़ी है । वे भयभीत से हो रहे हैं । किसी को वे दुखित नहीं देखना चाहते हैं :—

"तनिक आड़ में हो जाऊँ मैं, इस झाऊँ में झुक कर ।
ताक रही बाँ-बाँ कर गायें, इधर-उधर रुक-रुक कर ।।"

गुप्त जी के नंद पुरुष होते हुए भी मन से यशोदा के ही प्रतिरूप हैं । इस स्थान पर हम यह कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार से नंददास की गोपियों के कथन का अवशेष जगन्नाथदास जी रत्नाकर ने प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार सूरदास के नंद

का विशेष विवरण गुप्त जी ने उपस्थित कर दिया है। कृष्ण-काव्य में नंद जी का चित्रण लगभग नहीं के बराबर था, परन्तु गुप्त जी ने उस 'नहीं' को हटा कर एक अभाव की पूर्ति की है। उन्हें अपनी चिन्ता कम है, अपने कृष्ण के प्रनि वे अधिक झुके हुए हैं :—

"यद्यपि मेरा हरि सुख-पूर्वक बैठा राजभवन में।
फिर भी मेरे लिए आज क्या है मेरे गृह-वन में।।"

वे आशा से पूर्ण पिता हैं। श्रीकृष्ण ने उनसे सत्वर आने के लिए कहा है और वे बेटे की बात पर अविश्वास नहीं करने वाले स्नेही तथा हितैषी पिता हैं।

द्वारकाप्रसाद मिश्र तथा दीक्षित, दोनों में से किसी ने भी, इस प्रसंग में नंद के विषय में कोई प्रकाश नहीं डाला है।

———

यशोदा

सूरदास की यशोदा ने जब यह सुना कि मथुरा से कोई आया है तो वह हर्षित होकर चल पड़ती हैं । सबने यही समझा कि गोपाल ही आये हैं । माता के इस सात्विक हर्ष को समझना कोई सरल काम नहीं है ।

"सुनत जसुमति धाई निकसी, हरष हियौ भरयो ।।
नंद हरषित चले आगें, सखा हरषित अंग ।
झुंड झुंडनि नारि हरषित, चलीं उदधि तरंग ।।"

माता के मन की व्यथा उस समय स्पष्ट हो उठती है जब वह यह कहती हैं कि मैंने तो श्यामसुन्दर से कुछ भी नहीं कहा, फिर भी वह मथुरा का निवासी क्यों हो गया ।

"मैं नँदनंदन सौं कछु न कह्यौ ।
सुनि ऊधौ हरि ऐसी कीन्ही, मधुपुरि बसि जु रह्यौ ।।"

सूर की यशोदा में जहाँ मातृत्व है, वहाँ भोलापन भी कम नहीं है । उसका हृदय सकरुण है:—

"कहियौ स्यामहिं इतनी बात ।
इतनी दूरि बसत क्यौं, बिसरे अपनी जननी-तात ।।
जा दिन तैं मधुपुरी सिधारे स्याम मनोहर गात ।
ता दिन तैं मेरे नैन पपीहा, दरस प्यास अकुलात ।।"

उसके मन में अपार स्नेह है । वह यह भी नहीं मानती कि श्रीकृष्ण देवकी-वसुदेव के पुत्र हैं । उसकी मधुर धारणा है कि किसी ने माधव को बहका दिया है:—

"तब तुम मेरें काहे कौं आए ।
मथुरा क्यौं न रहे जदुनंदन, जो पै कान्ह देवकी जाए ।
सूरदास लोगन के भुरए, काहैं कान्ह, अब होत पराए ।।"

यशोदा की विवशता भी करुणा से संवलित है । वह वात्सल्य से भी पूरित है और उसे मर्यादा का भी ध्यान है । वह केवल श्रीकृष्ण की ही माँ नहीं है, उसे ब्रज के समस्त गोपों और गोपियों की माता होने का सौभाग्य प्राप्त है । तभी वह श्यामसुन्दर से मिलने के लिए मथुरा अकेली नहीं जा सकती है । देवकी के प्रति यशोदा के अहसान

का पलड़ा भारी है। यदि देवकी को पुत्र प्रदान करने का अभिमान है तो यशोदा ने परिवर्तन में अपनी पुत्री का बलिदान किया है। उसमें स्वाभिमान की मात्रा भी पर्याप्त है, तभी वह कहती हैः—

"कहियो जाइ देवकी सौं तुम, कौन घाटि हम कीन्ही।
मैं तुम्हरे ढोटा के बदलें, तनया कंस बलि दीन्ही ।।"

तथा—"जो हौं मधुवन देखन आऊँ, सब ब्रज लागै साथ।"

वह अत्यन्त उदार-हृदया है। बेटा चाहे जहाँ रहे प्रसन्न रहे यही उसकी कामना हैः—

"जहाँ रहो तहँ नंद लाड़िलौ, जीवौ कोटि बरीस।"

नंददास, तुलसीदास तथा भारतेन्दु ने यशोदा का कोई वर्णन नहीं किया है। सत्यनारायण जी ने तो अपने भ्रमर-दूत का आधार ही यशोदा को बनाया है। उनकी यशोदा अशिक्षित नारियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। उसमें वात्सल्य का अभाव नहीं है। परन्तु अपनी दीनता-हीनता का बड़ा दुख हैः—

"पढ़ी न अक्षर एक ज्ञान सपने हूना पायो।
दूध दही-चारत में सवरो जनम गँवायो ।।"

कविरत्न जी की यशोदा को अपना और ब्रज का ही ,नहीं, समस्त राष्ट्र का ध्यान है। उसमें देश-कल्याण की भावना भी है और विश्व-क्षेम की आकांक्षा भी है—

"वा बिनु को ग्वालनु को हित की बात सुझावे।
अरु स्वतंत्रता, समता, सह भ्रातृता सिखावै ।।"
"भये संकुचित-हृदय भीरु अब ऐसे भय में।
काहू को विश्वास न निज जातीय उदय में ।।"

हरिऔध जी की यशोदा तो नितान्त मानवी है। छोटी-छोटी आशंकाओं से भी उसका मन व्याकुल हो जाता है। प्रिय-प्रवास के पश्चात् उसके भग्न-हृदय की मीमांसा कोई सरल काम नहीं है। सादगी और भोलापन उसके महान गुण हैं। जगत-हित और लोक-सेवा की भावना उसे प्रभावित नहीं करते हैं, इसलिए कि उसका मातृत्व केवल स्नेह तक सीमित है। श्रीकृष्ण नहीं आये हैं, केवल नन्द ही लौटे हैं, तभी वह पूछती हैं—

"मुझ विजित जरा का एक आधार जो है।
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा।।"

वह ममता की मूर्ति है। प्रिय पुत्र का मार्ग जोहते-जोहते उसके नेत्र अंधे भले ही हो जावें परन्तु थकने वाले नहीं हैं। वह मनौतियों में भी विश्वास करने वाली माँ हैः—

"प्रति दिन वह आके द्वार पै बैठती थीं।
पथ दिशि लखते ही बार को थीं बितातीं।"
"प्रति दिन कितने ही देवता थीं मनातीं।
बहु यजन करातीं विप्र के वृन्द से थी।
नित घर पर नाना ज्योतिषी थीं बुलातीं।
निज प्रिय सुत आना पूछने को यशोदा॥"

देवकी के प्रति उनके मन में जो विभेद का विचार आने वाला है, वह विवेक के कारण मंद सा हो-हो जाता है। वे पूछती हैं—

"हो जाती हूँ मृतक सुनती हाय जो यों कभी हूँ।
होता जाता मम तनय भी, अन्य का लाड़िला है॥"

वह आशामयी भी है। तभी कठोर जीवन-शोषिणी विडम्बना से वह बची रहती है—

"आशा होती न यदि मुझको श्याम के लौटने की।
मेरा सूखा हृदयतल तो सैकड़ों खण्ड होता॥"

वह हार जाती है तो मा के पद से हट कर धाय बनना भी स्वीकार कर लेती है। देवकी के प्रति उसकी इस भावना में अमित उदारता छिपी हुई है। वह नहीं चाहती कि जैसे मैं रो रही हूँ वैसे ही देवकी भी व्याकुल हो। क्योंकि श्रीकृष्ण जिसके पास रहेंगे, वही तो सुखी रह सकेगा।

"मैं रोती हूँ हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही।
हा! ऐसी हो व्यथित अब क्यों देवकी को करूँगी।
प्यारे जीवें प्रमुदित रहें औ बनें भी उन्ही के।
धाई नाते वदन दिखला जायँ बारेक और॥"

मैथिलीशरण जी गुप्त की यशोदा यों तो रानी के समान रहती है, नंद का निश्छल स्नेह भी उसे प्राप्त है परन्तु मा का शंकाशील हृदय कभी-कभी डोल उठता है—

"रानी-सी रखते हैं मुझको,
स्वयं सचिव मे रहते।"

'द्वापर' में श्रीकृष्ण-प्रवास के पश्चात् दर्शनीय यशोदा का कोई वर्णन नहीं है। समस्त चित्र उस यशोदा का है, जो श्रीकृष्ण जैसे पुत्र-रत्न पाकर गर्व से फूली नहीं समाती है—

"धन्य कन्हैया तेरी मैया आज यही रव छाया।"

परन्तु उसका हृदय अत्यन्त विशाल है। वह चाहती है कि जैसा मुझे मनमोहन मिला है, वैसा ही मधुर माधव घर-घर में प्रगट हो :—

"तेरा दिया राम, सब पावें, जैसा मैंने पाया।"

जगन्नाथदास जी रत्नाकर ने यशोदा का कोई वर्णन प्रस्तुत नहीं किया है। द्वारकाप्रसाद जी मिश्र ने यशोदा का करुणा से पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। प्रिय वियोग में यशोदा का स्वास्थ्य गिर गया है, उसके नेत्रों से जल-धारा बह रही है। वह मानों मूर्तिमान व्यथा ही है :—

"बिछुरत श्याम नयन भरि आये।
बहत अवहुँ नहिं थमत थमाये।।
अस्थि-मात्र अब अंब लखायी।
जनु व्रज-व्यथा देह धरि आयी।।"

श्याम का सन्देश सुन कर वह हँसती भी है और विलाप भी करती है, क्योंकि वह मा है, सरल-हृदया और प्रिय-पुत्र के वियोग से पूर्ण। देवकी के प्रति, सूरदास की यशोदा की भाँति ही, उसका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार है। वह कहती हैं कि यद्यपि श्रीकृष्ण मेरे नेत्रों का तारा है, फिर भी मैं उसे तुमसे छीनना नहीं चाहती हूँ। क्योंकि वह तो सभी का है। गोपियों का, ग्वालों का, वह किसका नहीं है। इसलिए वह मुझे भी धाय के नाते ही दर्शन दे जाय :—

"जदपि कान्ह मम आँखिन तारा।
हरन चहहुं नहिं तनय तुम्हारा।।"
"हरि सबके एकहि के नाहीं।"
"ताते मैं विनती करहुँ, मानि मोहि हरि-धाय।
मोहन मूरति बार इक, कैसेहु देहु दिखाय।।"

'श्याम-सन्देश' में यशोदा का कोई चित्रण नहीं है।

भ्रमर

सूरदास अथवा नंददास आदि जिन कवियों ने भी भ्रमर का आश्रय ग्रहण करके अपने गीतों का निर्माण किया है, उन्होंने भ्रमर के सम्बन्ध में, उसके चारित्रिक गुणों के विषय में प्रकाश नहीं डाला है। सूरदास ने जहाँ भ्रमर का प्रवेश कराया है वहाँ केवल इतना ही निर्देश किया है कि उसने अपने स्वभाव के अनुसार सुन्दर शब्द सुनाना आरम्भ कर दिया।

"निज स्वभाव अनुसार निकट ह्वै, सुन्दर शब्द सुनायो।"

गोपियों ने जो उसे उपालंभ दिये हैं, उनसे मधुकर का चरित्र-चित्रण नहीं हो पाता है क्योंकि उसे सर्वत्र ही स्वार्थी, दोषी, अपराधी तथा नीच तक ठहरा दिया गया है। गोपियाँ श्रीकृष्ण और भ्रमर दोनों को ही समान मानती हैं। उन्होंने तो सभी श्याम रंग वालों को एक ही श्रेणी में लाकर बिठा दिया है :—

"सखी री स्याम सबै इक सार।
भँवर कुरंग काक अरु कोकिल, कपटिन की चटसार।।
कारी घटा देखि बादर की सोभा देति अपार।
सूरदास सरिता सर पोषत, चातक करत पुकार।।"
"कोकिल काग कुरंग स्यामघन, हमहिं न देखे भावत।
सूरदास अनुहारि श्याम की फिरि-फिरि सुरति करावत।।"

श्रीकृष्ण और भ्रमर की समानता सिद्ध करके गोपियों ने दोनों में अभेद स्थापित कर दिया है। सूरदास ने इस प्रकार प्रवासी श्यामसुन्दर और भ्रमर का साम्य बताया है :—

भूलति हो कत मीठी बातनि।
ए तो अलि उनही के संगी, चंचल चित्त साँवरे गातनि।।
वै मुरली धुनि जग मन मोहत, इनकी गुंज सुमन मधु पातनि।
ए षट्पद, वै द्विपद-चतुर्भुज, काहूँ भाँति भेद नहिं भ्रातनि।।
वे नव निसि मानिनि ग्रहवासी, एउ बसत निसि नव जलजातनि।
वे उठि प्रात अनत मन रंजन, ये उड़ि करत अनत रस रातनि।।

स्वारथ निपुन-सद्य रस भोगी, जनि पतियाहु बिरह-दुख-दातनि।
वे माधौ ए मधुप सूर कहि, दुहुँ मैं नाहिंन कोउ घटि घातनि ।।"

नन्ददास जी का भ्रमर तो आते न आते चरणों में पड़कर अपना पराजय स्वीकार कर लेता है। नन्ददास जी ने भ्रमर-गुंजन की बात भी कही है। उनकी गोपियाँ भी भ्रमर को कपटी-कुटिल आदि उपाधियों से विभूषित करती हैं :—

"कोउ कहैरी बिस्व माँझ जेते हैं कारे ।
कपट कुटिल की कोटि परम मानुष मसिहारे ।।"

वे श्रीकृष्ण और भ्रमर में साम्य भी मानती हैं। रंग दोनों का कृष्ण है, भ्रमर भी अपनी कटि में पीत-रेखा लिए हुए है तो श्रीकृष्ण पीताम्बरधारी हैं :—

"कोउ कहै री मधुप वेष उनहीं को धारयौ ।
स्याम पीत गुंजार बैन किंकनि झनकारयौ ।।"

तुलसीदास जी ने तो इस दिशा में सभी को पीछे छोड़ दिया है। यद्यपि उन्होंने भ्रमर का प्रवेश यथातथ्यरूप से नहीं कराया है फिर भी उसकी गुंजन में गोपियों को सरसता नहीं मिलती है वरन वे तो उसकी गुंजन को बिना अक्षर का गीत कहती हैं, जो किसी भी प्रकार से समझ में नहीं आ सकता। सांख्य के अनुसार अक्षर ही ब्रह्म है और वह दर्शनीय है अतएव साकार है। तुलसीदास जी ने एक ही पंक्ति में गोपियों के तर्क और पक्ष को बड़ी कुशलता से प्रस्तुत करके भ्रमर के गुंजन की निरर्थकता को प्रमाणित कर दिया है :—

"बिनु आखर कौ गीत गाइ गाइ चाहत ग्वालिन ग्वाल रिझाए ।"

सत्यनारायण जी का भ्रमर-प्रवेश परम्परानुसार है फिर भी उसमें मौलिकता यह है कि वह स्वयं श्रीकृष्ण ही है, जो मधुकर-स्वरूप में माता के सामने उपस्थित हैं :—

"ठिठक्यो, अटक्यो भ्रमर, देखि जसुमति महारानी ।
निज दुख सौं अति दुखी, ताहि मन मैं अनुमानी ।।"

यशोदा ने श्रीकृष्ण और भ्रमर में जो साम्य स्थापित किया है, उसमें वात्सल्य की प्रधानता होने के कारण सच्चाई भी दिखाई पड़ती है :—

"तेरो तन घनश्याम श्याम घनश्याम उतें सुनि ।
तेरी गुंजनि सुरलि मधुप; उत मधुर मुरलि धुनि ।।
पीत रेख तव कटि बसत, उत पीताम्बर चारु ।
विपिन बिहारी दोउ लसत, एक रूप सिंगारु ।।
जुगल रस के चखा ।।"

भारतेन्दु ने भी भ्रमर के प्रति उपालंभ लिख कर परम्परा का ही पालन किया है।

हरिऔध जी ने भ्रमर के स्थान पर पवन-दूत की सृष्टि करके एक नवीन उद्भावना को जन्म दिया है। मैथलीशरण जी गुप्त इस विषय में मौन हैं। रत्नाकर जी भी चुप हैं। द्वारकाप्रसाद मिश्र ने भी भ्रमर को मुक्ति प्रदान कर दी है। 'श्याम-सन्देश' में भी भ्रमर का कोई वर्णन नहीं किया गया है।

उद्धव

सूरदास ने उद्धव का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह निर्गुणमतवादियों का प्रतिनिधित्व करने वाला है। श्रीकृष्ण के अत्यन्त समीप रहते हुए भी वे अपने निर्गुण ब्रह्म की ज्ञान-गरिमा से फूले हुए हैं। गुरुगृह में विद्याध्ययन करते समय श्रीकृष्ण को ब्रज-वासियों का स्मरण हो आता है और वे तभी उद्धव को भेजने का निश्चय करते हैं।[१] श्रीकृष्ण तो सैद्धान्तिक रूप से यह मानते कि जहाँ वियोग अथवा विरह की पीड़ा नहीं है, वहां प्रेम का होना अशक्य है।[२] उद्धव निर्गुणमतावलम्बी हैं। अतएव इन्हीं को गोकुल भेजना उचित है।[3] श्रीकृष्ण विभिन्न दृष्टिकोणों से अपने ब्रज-प्रेम का वर्णन उपस्थित करते हैं परन्तु उद्धव उससे प्रभावित नहीं होते हैं। वे गोकुल जाने का निमन्त्रण पाकर अभिमान से भर जाते हैं।[४] श्याम का सन्देश तथा पत्रिका लेकर वे ब्रज को चल देते हैं। गोपियाँ जब एकत्रित हो जाती हैं तो उद्धव उन्हें कृष्ण-कुशल सुनाकर ब्रह्म का ध्यान धरने का आदेश देते हैं।[५] यहीं से उनका उपदेशक रूप प्रतिभासित होता है :—

"कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छाँड़ि विषय विकार।
सूर पाती दई लिखि मोहिं, पढ़ौ गोप-कुमारि ॥"

गोपियों की अटपटी वाणी और उनका विभ्रम उद्धव को विचलित नहीं कर पाता है। यह उनके पुरुषत्व की अग्रिम सूचना है। वे धीरज के साथ, संयत वाणी से श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाते हैं :—

"सुनौ गोपी हरि कौ संदेस।
करि समाधि अन्तर-गति ध्यावहु, यह उनकौ उपदेस ॥
वै अवगति अविनासी पूरन, सब घट रहे समाइ।
तत्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, बेद पुराननि गाइ ॥

---

१. सूरसागर पद-संख्या ४०२९
२. सूरसागर पद-संख्या ४०३१
३. सूरसागर पद-संख्या ४०३६
४. सूरसागर पद-संख्या ४०४७
५. सूरसागर पद-संख्या ४१०३

सगुनरूप तजि निरगुन ध्यावहु, इक चित इक मन लाइ ।
वह उपाइ करि बिरह तरौ तुम, मिलै ब्रह्म तब आइ ॥" ४१२०

गोपियाँ यदि तर्क से समर्थन करती हैं तो उद्धव अपने बड़प्पन से भी काम ... वे मीठी डाटें भी लगा देते हैं:—

"जानि करि बावरी जनि होहु ।
तत्व भजौं वैसी ह्वै जैहौ, परम परसैं लोहु ॥"

उद्धव परम ज्ञानी हैं । इसके अतिरिक्त उन्हें ज्ञानाभिमान भी है—

"ज्ञान बिना कहुँ वै सुख नाहीं ।
घट-घट व्यापक दारु अगिनि ज्यौं, सदा बसै उर माहीं ॥
निरगुन छाँडि सगुन कौं दौरति, सुधौं कहौ किहिं पाहीं ।
तत्व भजौ जो निकट न छूटै, ज्यौं तनु तैं परछाहीं ॥
तिहि तैं कहौ कौन सुख पायौ, जिहिं अबलौं अवगाहीं ।
सूरदास ऐसैं करि लागत, ज्यौं कृषि कीन्हे पाही ॥"

अपने मतवाद की पुष्टि में वे यहाँ तक कह जाते हैं कि साकार श्रीकृष्ण से स्नेह ... तुमको कुछ भी तो प्राप्त नहीं हुआ है । सूरदास के उद्धव हार मानने वाले नहीं हैं । बार-बार उन्होंने अपने सिद्धान्त को दुहराया है ।[1] निम्न पद में तो उन्होंने योग ... क्रिया और प्रक्रियाओं का साँगोपाँग वर्णन किया है ।[2]

वे हरि सकल ठौर के वासी ।
पूरन ब्रह्म अखंडित मंडित, पंडित मुनि न बिलासी ॥
सप्त पताल ऊरध अध पृथ्वी, तल नभ बरुन बयारी ।
अभ्यन्तर दृष्टी देखन कौं, कारन रूप मुरारी ॥
मन बुधि चित अहँकार दसेन्द्रिय प्रेरक थंभनकारी ।
ताकैं काज वियोग विचारत, ये अबला ब्रज-नारी ॥
आसन बैसन ध्यान धारना, मन आरोहन कीजै ।
जाकौं जैसौ रूप मन रुचै, सो अपबस करि लीजै ॥
षट दल आठ द्वादस दल निरमल, अजपा जाप जपाली ।
त्रिकुटी संगम ब्रह्म द्वार भिदि यौं मिलिहैं बनमाली ॥
एकादस गीता श्रुति साखी, जिहिं विधि मुनि समझाए ।
ते सँदेस श्रीमुख गोपिनि कौ, सूर सु मधुप सुनाए ॥"

---

१. सूरसागर पद-संख्या ४३०३
२. „ „ ४४८४

सूरदास के उद्धव संस्कारी भी हैं, तभी उनके हृदय में सरसता, भावुकता और स्नेह उत्पन्न हो जाते हैं। वे पराजय को भी अभिमान के साथ स्वीकार करने वाले महान व्यक्ति हैं। वे स्वयं अपनी विभत्रहोनता स्वीकार करते हैं:—

"आयो हो निरगुन उपदेसन, भयो सगुन कौ चेरो।" ४६६७

इसी प्रकार वे सगुण-स्वाद पाने के पश्चात् श्रीकृष्ण के सामने भी सगुण की सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं और गोरी-प्रेम को आदर्श मानकर उस पर बलिहारी जाते हैं। वे साधु स्वभाव, सरस हृदय और विवेकशाली व्यक्ति हैं।

नंददास के उद्धव भी ज्ञान-गरिमा से मंडित हैं। वे भी निर्गुणोपासना के सबल समर्थक हैं। अन्त में वे भी साधुता से अपनी पराजय मान लेते हैं। यदि यह कहा जाय कि दोनों महाकवियों के उद्धव समान हैं ता कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सूरदास के उद्धव कुछ अधिक गंभीर हैं परन्तु नन्ददास के उद्धव अधिक तर्कशाली हैं।

तुलसीदास जी तथा भारतेन्दु जी के काव्यों में उद्धव मौन हैं। जो भी कुछ उपलब्ध है वह गोपियों की वाणी के द्वारा प्राप्त होता है।

सत्यनारायण जी के भ्रमर-दूत में तो उद्धव है ही नहीं।

हरिऔध जी ने जिस उद्धव का चित्रण किया है, वह सन्तोषी और अध्ययन तथा मनन करने वाला व्यक्ति है। तर्क तो उसको स्पर्श भी नहीं कर पाया है। इसके अतिरिक्त वह उपदेशक भी नही हैं। गोपी, गोप, ग्वाल, बालाएँ, नंद, यशोदा, राधा सभी उनसे अपनी अन्तर्वेदना निवेदन करते हैं। वे सभी की स्नेहमयी गाथाएँ-व्यथाएँ सुनते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वे एक ओर से श्रीकृष्ण-दूत होकर आये हैं और इस ओर से वे गोपी-ग्वालादिक के संदेशवाहक बनने की तैयारी में हैं। यदा कदा, जब समाधान का समय पाते हैं तो दो-चार शब्दों में समझा देते हैं। हरिऔध जी के उद्धव न तो ज्ञान गरिमा से मंडित ही जान पड़ते हैं और न उनमें वाक्‌चातुरी ही दिखाई पड़ती है। श्रीकृष्ण ने जो अपना संदेश उद्धव के द्वारा प्रेषित किया है, उसमें लोक-सेवा और जगत-हित की भावना ही प्रधान है। उद्धव ने कहीं भी ज्ञान-गठरी का उद्-घाटन नहीं किया है।

हरिऔध जी के उद्धव सूरदास और नन्ददास जी के उद्धव से एकदम भिन्न हैं। वे सरस हैं और ब्रज-बाला का विलाप सुनकर उनका हृदय द्रवित हो उठता है। वे राधा के प्रति भी असीम श्रद्धा रखते हैं।

"ब्रज-कुमारि-विभूषण राधिका।
चरण की रज ले हरि बंधु भी
परम-शान्ति समेत विदा हुए॥"

श्रीकृष्ण से साक्षात्कार होने पर उद्धव ने क्या कहा, इसका कोई वर्णन नहीं मिलता है। इस प्रकार हरिऔध जी के उद्धव, उनकी मान्यता के अनुसार, सरस मानव ही हैं; जिनका हृदय सहानुभूति और सौहार्द्र से परिपूर्ण है।

मैथिलीशरण जी गुप्त—के उद्धव के दो पक्ष और प्रकरण हैं। वे यशोदा के सम्मुख श्रीकृष्ण की महत्ता स्थापित करते हुए उनके सर्वात्मावाद तथा विश्व-कल्याण की भावना का समर्थन करने वाले वाक्-पटु, चतुर और परम सैद्धान्तिक व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं। गोपियों के सामने वे अवश्य निर्गुण की बात कहते हैं और श्रीकृष्ण को सर्वव्यापी बतलाते हैं:—

"प्राप्य अनन्तः वह परमात्मा आत्मा ही के द्वारा।
मिथ्या माया का प्रपंच है, दृश्यमान यह सारा।"

रत्नाकर जी ने तो सुप्त-परम्परा को जाग्रत कर दिया है। उनके उद्धव तो अखंड ज्ञानी हैं, आरम्भ से अन्त तक। अलंकारों और उदाहरणों के द्वारा वे अपना पक्ष समर्थन करने में पीछे नहीं रहते हैं। वे श्रीकृष्ण को ही समझाते हैं कि आप तो विवेक रत्नाकर हैं, फिर:—

"आपु ही सौं आपु कौ मिलाप औ बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायो है।"

वे प्रकृति प्रेमी भी हैं, तभी तो वृन्दावन के कुंज-कछार उनको अत्यन्त आकर्षक जान पड़ते हैं और उनके ज्ञान-शुष्क हृदय को 'सरस सुहाए घनस्याम' कर देते हैं।

ब्रज में पहुँच कर वे गोपियों को योग-साधना का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि इस ज्योति के प्रकाश में आत्मा को परमात्मा में लीन कर दो:—

चाहत जौ स्ववस संजोग स्याम सुन्दर कौं,
जोग के प्रयोग मैं हियौ तौ बिलस्यौ रहै।
कहै रतनाकर सुअन्तर-मुखी ह्वै ध्यान,
मंजु-हिय-कंज जगी जोति मैं धस्यौ रहै॥
ऐसैं करौ लीन आतमा कौं परमातमा मैं,
जा मैं जड़-चेतन-बिलास विकस्यौ रहै।
मोह-बस जोहत बिछोह जिय जाकौ छोहि,
सो तौ सब अन्तर निरन्तर बस्यौ रहै॥

परन्तु अन्त में उनके पूर्व-संस्कार पुनः प्रबल हो उठते हैं और गोपियों की प्रेमभक्ति से वे प्रभावित हो जाते हैं तथा श्रीकृष्ण को चेतावनी देते हैं कि उन्हें गोकुल जाना ही उचित है। रत्नाकर जी के उद्धव इस दृष्टिकोण से सूरदास के

उद्धव से साम्य रखते हैं परन्तु उनकी वाणी की प्रमुखता और संक्षिप्तता मौलिक है।

द्वारकाप्रसाद जी मिश्र के उद्धव वाचाल नहीं है। वे निर्गुणवादी कम हैं, बुद्धिवादी अधिक हैं। वे ब्रज के दुख से दुखी होने वाले, मानव-हृदय भावुक ही अधिक है। उनका निर्गुण-समर्थक रूप कहीं भी प्राप्य नहीं है।

"श्याम-संदेश" के उद्धव, जो श्याम-सहचर हैं, निश्चित रूप से निराकार के प्रचार में अनुरक्त हैं। पूर्व-स्मृति से व्याकुल श्रीकृष्ण को भी वे निर्गुण-ब्रह्म की सत्ता का आभास कराना अपना कर्त्तव्य समझते हैं :—

"यहि असार संसार सार या मैं नहिं लेख्यौ।
निराधार, निरधार, कुंभ-कांच्यौ सम देख्यौ।।
फूटे घट जल मिलहि जल, पृथकहिं भेद लखाय।
एकै ब्रह्म बसै यहां, माया असत कहाय।।
प्रबल सो ह्वै रही।।"

गोपियों को ज्ञानोपदेश प्रदान करने का भार वे सहर्ष ग्रहण कर लेते है।

"भ्रम सौ भोरी बावरी, हौं तिनकौं समुझाउँ।
मन मुरझान्यौ मद ह्वै, तामैं जोति जगाउँ।।
कहन ऊधो लगे।"

वे नितान्त ज्ञानी हैं : उनमें सरसता का अभाव ही परिलक्षित होता है।

कुब्जा

सूरदास जी की कुब्जा के हमें दो रूपों में दर्शन होते हैं। अपने पहले रूप में वह अत्यन्त उदार और विशाल-हृदया नारी प्रतिभासित होती है। वह अपने हाथ से सभी को एक पत्र लिखकर विनय करती है कि मैं तो कंस की दासी हूँ, अधम हूँ और त्याज्य भी हूँ। यह तो श्रीकृष्ण की महिमा है उन्होंने मुझ जैसी टेढ़ी-मेढ़ी को भी सुन्दरी बना दिया है :—

"हम पर काहैं झुकति ब्रजनारी।
साझे भाग नहीं काहू को, हरि की कृपा निनारी।।
कुबिजा लिख्यौ संदेस सबनि कौ, अरु कीन्ही मनुहारी।
हौं तौ दासी कँसराइ की, देखौ मनहिं विचारी।।
फलनि माँझ ज्यौं करुइ तोमरी, रहत घुरे पर डारि।
अब तौ हाथ परी जंत्री के, बाजत राग दुलारी।।
तनु तैं टेढ़ी सब कोउ जानत, परसि भइ अधिकारी।
सूरदास स्वामी करुनामय; अपने हाथ संवारी।।"

सूरदास की यह कुब्जा सरला, स्नेह-पूर्ण और हीन-भावना से परिपूर्ण नारी है। उसके मन पर विनम्रता और दीनता का प्रभाव है। वह राधा के प्रति भी यही भावना रखती है कि राधा तो श्रीकृष्ण की अर्द्धांगिनि है, मैं उसके समान कैसे हो सकती हूँ :—

"ऊधौ यह राधा सौं कहियो।
जैसी कृपा स्याम मोहि कीन्हीं, आपु करत सोइ रहयो।।
मो पर रिसु पावति बिनु कारन, मैं हौं तुम्हरी दासी।
तुमहीं मन मैं गुन धौं देखो, बिनु तप पायौ कासी।।
कहाँ स्याम को तुम अरधंगिनि, मैं तुम सरि की नाहीं।"

हमारी सम्मति में यदि कुब्जा का यही रूप स्थिर रहने दिया जाता तो गोपियों को उसके प्रति उपालंभ का कोई अवसर नहीं आ पाता, परन्तु उसने दूसरा रूप भी दिखलाया। सूर की वह कुब्जा ईर्ष्यालु तथा रूप और मानगर्विता है, जो ईंट का उत्तर पत्थर से देने की अभिलाषा रखती है। वह कहती है :—

"सुनियत ऊधौ लए सँदेसो, तुम गोकुल को जात ।
पाछें करि गोपिन सौं कहियौ, एक हमारी बात ।।
मातु-पिता को नेह समुझि कै, स्याम मधुपुरी आए ।
नाहिन कान्ह तुम्हारे प्रीतम, ना जसुदा के जाए ।।
देखौ बूझि-आपने जिय मैं, तुम धौं कौन सुख दीन्हे ।
ये बालक तुम मत्त ग्वालिनी, सबै मूंड़ि करि लीन्हे ।।
तनक दही माखन के कारण, जसुदा त्रास दिखावे ।
तुम हँसि सब बाँधन कौं दौरीं, काहू दया न आवे ।।
जो वृषभानु-सुता उत कीन्ही, सो सब तुम जिय जानी ।
ताहीं जाल तज्यो व्रज मोहन, अब काहैं दुख मानी ।।"

कुब्जा ने अपने उत्तर संदेश के कारण ही गोपियों से कटूक्तियाँ सुनी हैं । सूर ने इस प्रकार मानवी कुब्जा के दोनों पक्षों को समुज्ज्वल करके दिखाया है ।

नंददास, तुलसीदास, भारतेन्दु, सत्यनारायण, हरिऔध किसी ने भी कुब्जा के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है ।

मैथिलीशरण जी गुप्त ने कुब्जा-प्रसंग का वर्णन करते हुए उसके विषय में प्रकाश डाला है । पुष्प और चन्दनादि ले जाने वाली कुब्जा के सामने जाकर नन्दनन्दन खड़े हो गये और उन्होंने कहा—"शुभे, मैं नन्दनन्दन हूँ ।" यह कह न जाने वनमाली किस ढंग से मुस्कराये कि कुब्जा निछावर हो गई । उसने श्रीकृष्ण के रूप में विश्व-सौन्दर्य पा लिया । कुब्जा की हृदयगत भावनाओं का जैसा चित्रण गुप्त जी ने किया है, वह अत्यन्त सरस है और भावुकता से भरा हुआ है । कवि ने हँसते हुए श्रीकृष्ण के दोनों होठों में राधे का फटा हृदय देखा तो कुब्जा ने उसमें सहस्रदल की झाँकी पाई । कुछ पदों का रसास्वादन हमारे प्रसंग को आकर्षक बना सकेगा :—

उन काली आँखों में कैसी
उजली दृष्टि निहारी ।
जान पड़ा व्रज-कुंज विहारी,
मुझको विश्व विहारी ।।"

उसने सर्वस्व समर्पण करके व्रज बिहारी पर अपना आधिपत्य माना है । इसीलिए अधिकार प्रदर्शन की इच्छा से कहती है :—

"मेरा ही अधिकार यहाँ, सुन,
राधा रुष्ट न होगी ।
दासी को वंचित कर, तेरी
रानी तुष्ट न होगी ॥"

द्वारकाप्रसाद जी मिश्र ने भी कुब्जा के विषय में कोई विशेष प्रकाश नही डाला है ।

'श्याम-संदेश' के लेखक ने कुब्जा-कृष्ण प्रणय की संभावना को परम्परागत चित्रण के अनुसार मानने से इन्कार कर दिया है और ऐसी ही धारणा अपनी भूमिका में स्पष्ट की है । अतएव श्याम का सन्देश लेकर जाने वाले उद्धव के समक्ष कुब्जा का कोई चित्र नहीं है ।

भ्रमर-गीत की विशेषताएँ

इस अध्याय के अन्तर्गत हम केवल दो ही कवियों को मुख्य रूप से रखना चाहते है, सूरदास और नन्ददास। क्योंकि भ्रमर-गीत नाम उन्हीं के काव्य से सम्बद्ध है और सार्थक है। अतएव इस अध्याय में हम दोनों ही भ्रमर-गीतों को सम्मिलित मान कर उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे। विस्तार-भय के कारण हम उदाहरणों का संकेत मात्र करना ही श्रेयस्कर मानकर चल रहे है, सम्पूर्ण सम्बद्ध पद उद्धृत करने की चेष्टा न करके प्रासंगिक तथा उपयुक्त पंक्तियों से ही काम ले लिया गया है।

काव्य—भ्रमर-गीत एक अति सुन्दर काव्य है जो पठनीय, मनन के योग्य तथा सरस भावनाओं से संयुक्त है।

भाषा—उसकी भाषा में ब्रज की मधुरता है और विदेशीय शब्दों का सहयोग भी उसे प्राप्य है। साथ ही संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों ने भी उसके गौरव को बढ़ाया है।

काव्य में भाव-पक्ष की प्रधानता होते हुए भी उसका कला-पक्ष धूमिल नहीं है। अतएव वह उत्तम काव्य है। उसमें अलंकारों का न तो अभाव ही है और न प्रभाव ही है। वह अपने ढंग का अनुपम काव्य है, जिसमें कवि का सत्य मूर्तिमान है तथा उसकी कल्पना ने साकार होकर अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन किया है।

सिद्धान्त—सूरदास तथा नन्ददास दोनों ही पुष्टिमार्गीय भक्त-कवि थे। पुष्टिमार्ग का सरल साधारण सिद्धान्त है भगवान का अनुग्रह प्राप्त करना। पुष्टि का नाम ही अनुकम्पा है। भ्रमरगीत में गोपियों के मुख से इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कराया गया है।

"हम अलि गोकुल नाथ अराध्यो।
मन क्रम वच हरि सौं धरि पतिव्रत, प्रेम-जोग तप साध्यो॥"

भक्ति और ज्ञान दोनों में से भक्ति को ही श्रेष्ठ माना गया है। ज्ञान को शुष्क तथा अत्यन्त कष्ट कर पथ मान कर उसका खण्डन ही किया गया है। योग को भी उपहसित किया गया है।

धार्मिक विश्वास का बड़ा ही सुन्दर चित्रण उपलब्ध होता है। यद्यपि इनमें और भागवत के विश्वासों में पर्याप्त अन्तर है। फिर भी तत्कालीन परिस्थिति पर पूर्ण

प्रकाश पड़ता है और प्राचीन विश्वासों तथा धारणाओं के प्रति नवीन दृष्टिकोण भी दिखाई देता है। उद्धव दार्शनिक हैं, अद्वैतपक्षीय तथा मायावादी। तत्कालीन धार्मिकता इससे प्रभावित नहीं है, अतएव गोपियों से उसका तीव्र खण्डन कराया गया है। श्रीकृष्ण में ही इन सबका समावेश करके साम्प्रदायिक सिद्धान्त के अनुसार उनको परात्पर परब्रह्म सिद्ध किया गया है।

सर्वात्मा श्रीकृष्ण को ही माना गया है। वह योगियों का परब्रह्म है, सत्यान्वेषी सज्जनों का ज्ञान है तथा भक्तों को आकर्षित करने वाला वत्सल हरि है। वह प्रेम भक्ति का सार है।

वात्सल्य और स्नेह दोनों का ही सफल चित्रण है। नंद और यशोदा का ममतापूर्ण स्नेह, बाल-मित्रों का सौहार्द्र तथा गोपियों का कान्ताभाव अर्थात् अनुकम्पा, प्रेम और कान्ता रति, भक्ति के तीनों अंगों का सुन्दर चित्रण किया है। राधा के प्रति तो श्रीकृष्ण का स्वयं रति भाव है।

संसार के प्रति वैराग्य की भावना का तिरस्कार किया गया है। क्योंकि श्रीकृष्ण तो चराचरमय हैं, अतएव उनसे सम्बन्ध होने के कारण सभी सत्य हैं।

इष्टदेव श्रीकृष्ण ही हैं। उनके प्रति अनन्य भक्ति भाव का समर्थन किया गया है। सांसारिक व्यवहार तथा नाते, अन्य देवी और देवता श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से ही स्वीकरणीय हैं। वे परब्रह्म, पुरुषोत्तम, अन्तर्यामी, भक्त-वत्सल, अनन्त और अद्वैत है।

ब्रज और वृन्दावन भौगोलिक होते हुए भी आध्यात्मिक स्थान माने गये हैं। श्रीकृष्ण इसीलिए विस्मरण नहीं कर पाते हैं। उद्धव भी अन्त में उनकी महानता और महत्व से प्रभावित हो जाते हैं। वैसा सुख कहीं भी नही है। द्वारका-प्रवासी कृष्ण तो उसके लिए तरसते रहते हैं।

अवतारवाद को भी मान्यता दी गई है। श्रीकृष्ण को विष्णुरूप ही माना है।

अनुग्रह में आन्तरिक विश्वास प्रकट किया गया है। गोपियाँ जो उपालंभ प्रस्तुत करती हैं, वह प्रेम के नाते ही है, फिर भी 'दीनदयालु दयानिधि मोहन' के अनुग्रह मे उनका प्रबल विश्वास है।

आदि प्रकृति के रूप में, राधा को परम पुरुष श्रीकृष्ण की अर्द्धांगिनी बताया है। कुब्जा ने ऐसा ही अपने संदेश में कहा है।

माया का बहिष्कार नहीं है तो स्वीकार भी नहीं है? मध्यमार्ग ग्रहण करके चलते हुए, यदि माया श्रीकृष्ण प्रेम की ओर उन्मुख करे तो उसे वाँछनीय मान लिया है। यह एकदम परम्परा से पृथक प्रगतिशील दृष्टिकोण है, जिसे क्रान्तिकारी कहा जा सकता है।

नारी-स्नेह और ईर्ष्या का सफल चित्रण उपलब्ध है। गोपियाँ योग को 'युज्' धातु से उत्पन्न मानकर उसका अर्थ संयोग अथवा सम्मिलन से ही लगाती हैं, तथा उसे कुब्जा के हृदय की उपज बताती हैं। सपत्नी के प्रति ईर्ष्या के जो भाव और भावनाएँ हो सकती हैं उनका यथातथ्य चित्रण है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में तो कमाल ही कर दिया है। गोपियों के प्रत्युत्तर उनकी मानसिक स्थिति तथा उद्धव के हृदय का द्वन्द्व बड़ी कुशलता से चित्रित हुआ है।

प्रेम-योग को ही श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। योग का अर्थ यहाँ सम्बन्ध विच्छेद से नहीं है।

सगुण और निर्गुण की साहित्यिक भावनात्मक तथा वैज्ञानिक व्याख्या बड़ी तत्परता से प्रस्तुत की गई है। साथ ही सगुण की प्रतिष्ठापना की गई है।

मोक्ष अथवा मुक्ति—चार प्रकार की मानी जाती है, सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य तथा सामीप्य। अन्तिम मोक्ष तक पहुँचकर ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है, जो गोपियों को व्रज में ही प्राप्त हुआ। श्रीकृष्ण सदैव ही समीप हैं। अतएव वे भक्ति की समानता में मुक्ति का निरादर करती हैं।

भक्ति के लक्षण—यही बताये गये हैं कि व्यक्ति अपनापन छोड़कर श्रीकृष्ण में लीन हो जाय। बिना प्रेम की पीड़ा के श्रीकृष्ण की प्राप्ति असंभव है, अतएव गोपियाँ बनकर अनन्य भाव से भजन करो। गोपियाँ प्रेम का प्रतीक हैं।

अनन्य प्रेम—की महत्ता सिद्ध की गई है। उसकी चरम परिणति यही है कि श्रीकृष्ण का प्रेमी किसी अन्य की ओर आकर्षित नहीं हो सकता है। गोपियों को इसके उदाहरण में उपस्थित किया गया है। वियोग में तो यह अनन्य भाव अत्यन्त प्रबल और सुदृढ़ हो जाता है। नैनन नंदनँदन ध्यान, करके वे सबको भूल जाती हैं:—

"ऊधो इन नैनन नेम लियो।
नंदनँदन सौं पतिव्रत राख्यो नाहिन दरस बियो।।"
"ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक रह्यौ सो गयो स्याम सँग को आराधे ईस।।"
"गोकुल सब गोपाल उपासी।"

भगवत्कृपा—का अनोखा विवरण है। दयासागर श्रीकृष्ण ने कुब्जा को सुन्दरी भी बनाया और अपनाया भी। लोक, लाज, कुल-कानि किसी की चिन्ता नहीं की। यह उनके अमित अनुग्रह का उदाहरण है।

नाम माहात्म्य—भी वर्णन किया गया है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के नाम स्मरण को भी कम महत्त्व नहीं देती हैं:—

"ऊधौ तुम जु निकट के वासी।
यह परमारथ बूझि कहो किन, नाम बड़ो की कासी।"
जोग न ज्ञान ध्यान अवराधन, साधन मुक्ति उदासी।
आन प्रकार कहा रुचि मानहिं, जे गोपाल उपासी।।"

उद्धव भी नाम-स्मरण की महानता का समर्थन करने लगते हैं।

"माधौ जू सुनौ ब्रज कौ प्रेम।
सोधि मैं षट मास देख्यौ, गोपिकनि कौ नेम।।
हृदय तें नहिं टरत टारैं स्याम नाम समेत।"

इन्द्रिय-निग्रह—की अनावश्यकता भी बतलाई गई है परन्तु उसके साथ शर्त यही है कि समस्त सांसारिक प्रलोभनों को श्रीकृष्ण की ओर उन्मुख कर दिया जाय। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह सभी कृष्ण-प्राप्ति के हेतु हैं तो दमन-शमन की बात ही कहाँ है। यही सर्वस्व समर्पण की भावना है।

गोपियाँ—निष्पाप हैं। उनका प्रेम अवश्य परकीया भावना से अनुप्राणित है परन्तु उनकी प्रेरणा के प्राण नदनन्दन के चरण कमलों के तन्तु हैं, अतएव उनमें सांसारिकता नहीं है। इसलिये परकीया-भाव की उपासना पर अधिक बल दिया गया है। जलधि में मिलकर तो बूंद भी सागर बन जाती है।

रूप-माधुरी—का सरस वर्णन है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के सौन्दर्य को विस्मृत ही नहीं कर सकती है।

भक्ति का फल—अनन्य भक्ति ही हो सकता है। खांड की रोटी तो सभी ओर से मीठी होगी। अतएव भक्ति से भक्ति ही उत्पन्न होगी, प्रेम से प्रेम बढ़ेगा। इसका अति सुन्दर विवेचन किया गया है।

काव्य में दर्शन—की परिणति करके अत्यन्त शुष्क विषय को सरस बना दिया गया है जिसमें अनुरंजन तथा मनोरंजन दोनों ही प्राप्त हैं।

विभिन्न सम्बन्धों—की अभिव्यंजना भी बड़ी सफल हुई है। जो जिस भाव से श्रीकृष्ण का भजन करे वह उनको उसी भाव से प्राप्त कर सकता है।

लीला में आसक्ति—स्नेह की पहली सीढ़ी बनाई गई है, श्रवणगुण-कथन और कीर्तन में आसक्ति रखने से अलौकिक स्नेह का जन्म होता है।

भक्ति के भेदों—की पृथक-पृथक परिभाषा देकर व्याख्या तो नहीं की गई है परन्तु गोपियों के उपालंभों में नवधा-भक्ति के दर्शन होते हैं। गागर में सागर भर दिया गया है।

श्रीकृष्ण के बाल स्वभाव—का चित्रण भी किया गया है, जो गोपियों को अत्यन्त प्रिय है। उद्धव के द्वारा उनके पुरुष स्वभाव का वर्णन भी है जिसके द्वारा कंस वध आदि का ज्ञान होता है।

श्रृंगार—के दूसरे पक्ष विप्रलंभ का सांगोपाग वर्णन भी है और चित्रण भी है। सफलता मानों हाथ जोड़ रही है।

विरह की एकादशा अवस्थाएं—भी कुशलता से चित्रित की गई है।

चरित्रों का चित्रण—असम्पूर्ण नहीं है। नंद, यशोदा आदि का चित्रण यद्यपि गौण है फिर भी उनकी मानसिक पीड़ा अस्पष्ट नहीं है। श्रीकृष्ण का ब्रज-प्रेम जिस ढंग से कथन किया गया है, वह उनके स्नेह-सिक्त हृदय का परिचायक है। गोपियों का चित्रण तो अत्यन्त स्पष्ट, भावुकता से पूर्ण तथा मनोहारी है।

व्यंग्य विनोद—से तो समस्त काव्य परिपूर्ण है। अनुपमेय तथा अनूठे व्यंग्यों के कारण काव्य सप्राण हो गया है।

स्थायी और संचारी भाव—भी सम्यक् रूप से प्रस्तुत है।

नव-रस का परिपाक—भी सफलता से किया गया है। कुछ रस गौण हैं, फिर भी वे अस्पष्ट नहीं हैं। वैसे समस्त काव्य विप्रलभ श्रंगार प्रधान ही है।

नारीरूप का चित्रण—अत्यन्त कोमलता, भावुकता और रमणीयता के साथ किया गया है। गोपियाँ वस्तुतः नवनीत के समान पवित्र, निष्पाप तथा कोमल-हृदय वाली नारियाँ हैं, जो सर्वस्व समर्पण की भावना से समन्वित हैं।

प्राकृतिक सौन्दर्य—के कितने ही भावपूर्ण चित्र उपस्थित किये गये हैं इनमें से कतिपय आकर्षण वर्णन इस प्रकार हैं यह सभी वर्णन विप्रलंभ श्रंगार से प्रभावित होने से करुणा-पूरित हैं, अतएव मर्मस्पर्शी हो गये हैं—

वर्षा— "इहि विधि पावस सदा हमारें।
पूरव पवन स्वांस अति ऊरध, आनि मिले इक ठारें॥
बादर स्याम सेत नैननि मैं, बरषि आँसु जल ढारें।
अरुन प्रकास पलक दुति दामिनि, गरजनि नाम पियारें॥"

अन्य— बिनु गोपाल बैरिन भईं कुंजें।
तब वै लता लगति तन सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजें।

रहस्योन्मुखता अथवा दृष्टिकूट—के पद भी यथास्थान रख दिये गये हैं। इस दिशा में अभिरुचि रखने वालों का मनोरंजन हो जाता है—

"कहत कत परदेसी की बात।
मंदिर अरध अवधि-बदि हमसौं, हरि अहार चलि जात॥
ससि रिपु बरष, सूर रिपु जुग बर हर-रिपु कीन्हौ घात।
मघ में पंचक लै गयो साँवरी, ता तैं अति अकुलात॥
नखत, वेद, ग्रह जोरि अर्ध करि सोइ बनत अबखात।
सूरदास बस भईं विरह के, कर मीजें पछितात।

शिक्षिता और गुणी—गोपियों का वर्णन उनके अक्षर-ज्ञान तथा विद्वत्ता पर प्रकाश डालता है। वे श्रीकृष्ण की पत्रिका को पढ़ कर व्याकुल हो जाती हैं—

"निरखति अंक स्यामसुन्दर के बार-बार लावति लै छाती।"

"पाती मधुबन तैं आई।

कोउ पढ़ति, कोउ धरति नैन पर, काहूँ हृदै लगाई॥"

उद्धव को निरुत्तर कर देना और निर्गुणोपासक का सगुणोपासक बन जाना उनके अध्ययन अथवा गुणी-पन का प्रमाण है।

समाज का चित्रण—भी अल्प-स्वल्प रूप में मिलता है। उद्धव के ब्रज पधारने पर, दूर से ही रथ को आता देखकर स्वयं नंदजी उनके स्वागत के लिए जाते हैं और उनको जब यह भी ज्ञात हो जाता है कि श्रीकृष्ण नहीं आये हैं, उद्धव ही पधारे हैं तो भी वे सत्कार में कोई त्रुटि नहीं रखते हैं।

"अरघ देत भीतर तिहिं लीन्हो, धनि धनि दिन कहि आज।

धनि धनि सूर उपंग सुत आये, मुदित कहत व्रजराज॥"

तत्कालीन आतिथ्य-सत्कार का एक उदाहरण है। समाज में उस समय भी पुरुषों की प्रधानता थी क्योंकि जिस समय उद्धव ने गोपियों को श्रीकृष्ण का सन्देश सुनने को आमंत्रित किया तो—

"सूर सुनि सब दौरि आईं, हटकि दीन्हो लोग।"

व्रतोत्सव आदि—की प्रथा भी थी, ऐसी प्रतीति गोपियों के कथन से ज्ञात होती है। वे सभी कुछ कृष्ण-प्राप्ति के लिए करती हैं क्योंकि गोकुल तो गोपाल-उपासी है। व्रज में उपासी शब्द व्रत रखने, निराहार रहने अथवा फलाहार करके उपवास रखने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

गोचारण—की प्रथा भी प्रधान थी। गोपियाँ श्रीकृष्ण का स्मरण गोपाल के रूप में करती हैं—"इहिं बिरियाँ बन तें ब्रज आवते।'

नारी के प्रति कवि के विचार—सद्भावनापूर्ण तथा सहानुभूतिपूर्ण हैं। उन्हें योग जैसी कठिन साधना के अयोग्य ठहराकर उनको कोमला, कान्ता तथा रमणी ही माना गया है—

"ज्ञान जोग अबलनि अहीर सौं कहत न आवै लाज।"

"ऊधौ जोग जोग हम नाहीं।

अबला सार-ज्ञान कह जानें, कैसें ध्यान धराहीं॥"

पतिव्रत-धर्म—के पालन में भी कवि के विचार दृढ़ हैं। स्थान-स्थान पर उन्होंने इसका समर्थन और अनुमोदन कराया है।

"मधुकर जुवती जोग न जानैं।

एक पतिव्रत हरि रस जिनकें और हृदै नहिं आनैं॥"

यही पतिव्रत की भावना एकेश्वरवाद की ओर ले जाने वाली है। इस प्रकार बहुदेवेश्वरवाद का अप्रत्यक्ष खंडन भी होता है।

नारी-हृदय—का जैसा मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गोपियों की वाणी से उनकी पीड़ा और उनका कष्ट मूर्तिमान हो जाता है। भय, आशंका, हर्ष, विषाद लगभग सभी प्रकार की परिस्थियों का चित्रण कुशलता के साथ हुआ है। गोपियों का हृदय चाहता है कि श्रीकृष्ण को ब्रज की वास्तविक स्थिति से अवगत करा दिया जाय परन्तु प्रिय को कष्ट पहुंचने की आशंका से वे उद्धव से यही कहती हैं कि इस प्रकार श्रीकृष्ण को समझाना कि वे कुछ दिनों के लिए अवश्य ही गोकुल पधारें क्योंकि उनके बिना हमें कुछ भी सुहावन या मनभावन नहीं लगता है—

"तुम कहियो जैसे गोकुल आवैं।
दिन दस रहे भली सो कीन्ही, अब जनि गहरु लगावैं॥"

कवि-कल्पना—के द्वारा परम्परागत भ्रमरगीत की अपेक्षा इनमें मौलिकता का समावेश अधिक है। उदाहरण के लिए भागवत में भ्रमर का प्रवेश जिस ढंग से कराया गया है, उसमें और नंददास के वर्णन में भेद है। सूरदास ने तो श्याम से पत्रिका लिखवा कर एक नवीन प्रसंग को जन्म दे दिया है। यत्र तत्र सर्वत्र ही कवि की कल्पना ने सौन्दर्य-साधना में सहायता प्रदान की है।

शैली—में निश्चय ही विभिन्नता है। सूर ने पदों तथा दोहा रोला दोनों ही शैलियों का प्रयोग किया है। नंददास ने अर्द्धाली जोड़ कर उसके सौन्दर्य को और भी बढ़ा दिया है। शैली में कवियों के व्यक्तित्व का प्रस्फुटन स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त जहाँ शैली गंभीर है, वहाँ भी भाषा में क्लिष्टता नहीं है। शैली में व्यंग्य की प्रधानता है और सरलता तो उसका सहज स्वाभाविक गुण है।

भाव और कला—दोनों का ही समान उपयोग किया गया है। कलात्मकता से भाव-पक्ष को सौन्दर्यशाली बनाया गया है।

अलंकारों को प्रधानता नहीं दी गई है।

भाषा तो ब्रज है ही और वह विशुद्ध है जैसा कि हम पहले भी लिख आये हैं। नंददास की भाषा में परिष्कृतता अधिक है, जो आगे चल कर संभवतः खड़ी बोली की सहायता कर सकी है।

गुण और स्वभाव का चित्रण भी पर्याप्त सफल है। मथुरा को काजल की कोठरी ठहराया गया है। नन्दनन्दन के मथुरा-प्रवास के पश्चात् गोपियों ने उनके परिवर्तित स्वभाव का परिचय देते हुए कहा है:—"नन्दनँदन तो ऐसे लगैं जैसे जल में पुरइन के पात।" श्रीकृष्ण की निष्ठुरता से सम्बद्ध उपालंभ तो बड़े ही मार्मिक हैं। भँवर, कुरंग, काग और कोयल, जो भी काले हैं, सभी बुरे हैं। श्रीकृष्ण के अंग-

प्रत्यंगों के लिए जिन उपमाओं को व्यवहार में लाया गया है, वे विरहिणी ब्रजांगनाओं की विरह व्यथा का द्योतन करने में पर्याप्त सफल हैं। मधुकर के गुणों का वर्णन करते हुए उसे कपटी और स्वार्थी भी बताया गया है। गोपियों के स्वभाव का परिचय तो उनके उपालंभों से ही मिल जाता है। वे उद्धव को अपना योगी वेप दिखाकर उनके अविवेकी स्वभाव का परिचय देती हैं। कुब्जा भी अपनी हीनता के कारण अपने आप को घूरे पर पड़ी हुई कड़वी तोरई बतलाती है। उद्धव समझाने बुझाने पर भी नहीं मानते तो गोपियाँ उनके अपरिवर्त्तनशील स्वभाव की उपमा कुत्ते की पूंछ से देती हैं, जो सदा टेढ़ी ही रहती है। उद्धव और अक्रूर की क्रूरता का परिचय कई उपालंभों में बताया गया है।

भाव-चित्रण—भी अत्यन्त मुग्धकारी तथा स्पष्ट है। वाणी जहाँ अभिव्यंजना में अशक्त दिखाई देती है, वहाँ नेत्र आड़े आ जाते हैं। नेत्रों के अभाव ने ही, संभवतः सूरदास से इतनी मार्मिकता का पक्ष ग्रहण कराया होगा। नेत्रों को विभिन्न कवियों ने विभिन्न उपमाएं दी हैं और इन सबको सूरदास की गोपियों ने कसौटी पर कसा है। अन्त में उन्हें मीनता का ही आभास सत्य जान पड़ा क्योंकि श्रीकृष्ण वियोग के कारण नेत्र आँसुओं से परिपूर्ण रहते हैं :—

उपमा नैन न एक रही।
कवि जन कहत कहत सब आए, सुधि करि नाहिं कही ॥
कहि चकोर विधु-मुख बिनु जीवत, भ्रमर नहीं उड़ि जात।
हरि-मुख-कमल-कोष बिछुरे तैं, ठाले कत ठहरात ॥
ऊधो बधिक व्याध ह्वै आए, मृग सम क्यौं न पलात।
भागि जाहिं बन सघन स्याम मैं, जहाँ न कोऊ घात ॥
खंजन मन-रंजन न होहिं ये, कबहुँ नहीं अकुलात।
पंख पसारि न लेत चपल गति, हरि समीप मुकुलात ॥
प्रेम न होइ कौन विधि कहिये, झूठें ही तन आड़त।
सूरदास मीनता कछु इक, जल भरि कबहुँ न छाँडत ॥

वियोगिनी गोपियों के नेत्रों का वर्णन तो बड़ा ही करुणाजनक है। श्रीकृष्ण की पत्रिका को बिरह की कतरनी बताया गया है। नयन सजल हैं, काजल अति कोमल है और हाथों की अंगुलियाँ बहुत गर्म हैं। पत्रिका छूने से जलेगी और देखने से भीगेगी—दोनों ही प्रकार का दुख है।

अन्योक्तियों—का निर्वाह भी अच्छा किया गया है। मधुकर के बहाने से जो उपालंभ दिये गये हैं, वे मर्मस्पर्शी और कवि की प्रतिभा प्रदर्शित करने वाले हैं।

विरहोन्माद का चित्रण सफल हुआ है। कवि की उर्वराशक्ति का परिचय भी मिलता है।

चित्रोपमता—तो इस काव्य का प्रधान गुण है।

धारावाहिकता—भी है। पदों में पुनरुक्ति दोष होते हुए भी, वे खटकते नहीं हैं। नंददास के काव्य में यह बात नहीं है। फिर भी सम्बद्धता बराबर पाई जाती है। कहीं प्रसंग टूटा हुआ नहीं।

कथात्मकता—भी पर्याप्त है। मुक्तक होते हुए भी इस काव्य में प्रबन्ध के समान आनंद मिलता है। नंददास के भँवरगीत में तो धारावाही कथोपकथनों का सुन्दर समावेश है।

गेयता—भी इस काव्य का प्रधान गुण है। सूरदास के पद तो विभिन्न राग-रागनियों में गाये जा सकते हैं। इससे कवि का प्रबन्ध-चातुर्य प्रकट होता है।

तत्सम और अर्ध तत्सम शब्दों—का प्रयोग भी बड़ी सफलता से किया गया है। भावना-विभोर तथा कल्पनामय कवि ने तत्सम शब्दों का आश्रय लिया है। परन्तु जहाँ परिपाटी की रक्षा की गई है वहाँ अर्ध तत्सम शब्द भी प्रयोग में लाये गये हैं। करुना, सम, बिनती, त्रिसासी, भृंग, स्वेद आदि तत्सम हैं।

नवीन शब्दों—का प्रयोग भी है। अनुराधना, बिलसना, संहारना आदि का प्रयोग नवीन है।

तद्भव शब्दों—की संख्या अधिक है। अघमाई, अचगरी, रूखी, फोकट, लाड़लड़ैतो, अलसाना, सतराना आदि।

विदेशी शब्द—भी पाये जाते हैं। अमल, अपसोच, कागज, आदि बहुत से शब्द हैं।

मुहावरों का प्रयोग—भी समयानुकूल तथा अवस्थानुसार बड़ी कुशलता से किया गया है। आनि परें सब सहियै, हम सब खोटी, तुम तौ बारह बाने हो, धोए रंग जात नहिं कैसेहुँ ज्यौं कारी कमरी।

संक्षेप में भ्रमर-गीत की कतिपय विशेषताओं का परिचय प्रस्तुत कर दिया गया है। आशा है, इससे मनोरंजन भी होगा और भ्रमर-गीत काव्य की विशेषता का परिचय भी मिलेगा, चाहे वह संक्षिप्त ही क्यों न हो।

————

सहायक-ग्रंथ

हिन्दी के ग्रन्थ

१ रामचरित मानस—रचयिता महात्मा तुलसीदास जी (गीता प्रेस गोरखपुर)
२ कामायनी—लेखक-श्री जयशंकर प्रसाद
३ आर्यों का आदि देश—ले०—डा० सम्पूर्णानन्द
४ भारतीय संस्कृति और अहिंसा—ले० श्री धर्मानन्द कोसाम्बी
५ वेद काल निर्णय—ले० श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट
६ सूर—एक जीवनी
७ चिन्तामणि—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
८ कोशोत्सव स्मारक संग्रह (नागरी प्रचारिणी सभा काशी)
९ उच्च विषयक लेखमाला—ले० श्री नलिनीमोहन सान्याल
१० महाभारत (गीता प्रेस गोरखपुर)
११ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—ले० डा० दीनदयाल गुप्त
१२ मध्यकालीन धर्म साधना—ले० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१३ विनय पत्रिका—टीकाकार श्री वियोगी हरि
१४ कृष्ण चरित्र—ले० श्री बंकिम चन्द्र चटर्जी
१५ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१६ आर्यकुल देव का इतिहास—ले० प्रतिपालसिंह
१७ गवामयन—ले० श्यामा शास्त्री
१८ मीरा पदावली (साहित्य सम्मेलन प्रयाग)
१९ कबीर ग्रन्थावली सं० डा० श्यामसुन्दरदास
२० तुलसी ग्रन्थावली (नागरी प्रचारिणी सभा काशी)
२१ पद्माकर पंचामृत
२२ देव दीप्ति
२३ हिन्दी के मुसलमान कवि (छा० हि० पु० प्रयाग)
२४ छन्द प्रभाकर—ले० श्री जगन्नाथप्रसाद भानु

२५ श्याम सन्देश—ले० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित
२६ श्री मद्भागवत (गीता प्रेस गोरखपुर)
२७ विश्वकोष—सं० श्रीं नागेन्द्रनाथ वसु
२८ आगरा विश्वविद्यालय पद्य संग्रह
२९ आगरा विश्वविद्यालय गद्य संग्रह
३० भारतवर्ष का इतिहास—डा० ईश्वरीप्रसाद
३१ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ
३२ गीत गोविन्द (निर्णयसागर प्रेस)
३३ द्वापर—ले० डा० मैथिलीशरण गुप्त
३४ हृदय तरंग—ले० कविरत्न सत्यनारायण
३५ प्रिय प्रवास—ले० श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय
३६ भारतेन्दु ग्रन्थावली (ना० प्र० स० काशी)
३७ सूर सागर (ना० प्र० स० काशी)
३८ भाषा शब्द कोप—सं० डा० श्री रामशकर शुक्ल 'रसाल'
३९ संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर—सं० श्री रामचन्द्र वर्मा
४० भक्ति तरंगिणी—ले० डा० मुंशीराम शर्मा
४१ काव्य प्रभाकर—ले० श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु
४२ सूर पंचरत्न—ले० लाला भगवानदीन
४३ श्रीकृष्ण गीतावली—(तुलसीदास कृत ना० प्र० स० काशी)
४४ कृष्णायन—ले० श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र
४५ उद्धव शतक—ले० श्री जगन्नाथदास रत्नाकर
४६ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत सं० डा० उदयनारायण तिवारी
४७ भँवरगीत : नन्ददास : सं० प्रेमनारायण टंडन
४८ भ्रमरगीत सार : सूरदास—सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
४९ तत्वदीप निबन्ध—(ज्ञान सागर बबई)
५० हिन्दी गीति काव्य—ले० श्री ओमप्रकाश अग्रवाल
५१ सम्प्रदाय प्रदीप
५२ विद्यापति की पदावली—सं० श्री नागेन्द्र नाथ
५३ कीर्ति लता—सं० म० म० श्री हरिप्रसाद शास्त्री
५४ विद्यापति की पदावली—सं० श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
५५ विद्यापति की पदावली—डा० जनार्दन मिश्र
५६ महाकवि विद्यापति—ले० श्री शिवनन्दन ठाकुर

५७ भक्तमाल—श्री नाभादास
५८ सूर सौरभ—ले० डा० मुंशीराम शर्मा
५९ सूरदास—ले० डा० ब्रजेश्वर वर्मा
६० सूर निर्णय—ले० श्री द्वारिकादास पारीख
६१ सूरदास—ले० डा० जनार्दन मिश्र
६२ वल्लभ दिग्विजय—ले० श्री यदुनाथ
६३ दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता
६४ भँवरगीत—श्री परमानन्ददास
६५ श्रीकृष्ण गीतावली—टीकाकार श्री रामचन्द्र श्रीवास्तव
६६ मतिराम ग्रन्थावली
६७ सूरदास—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
६८ महाभारत—श्री द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी
६९ गोपी प्रेम (गी० प्रे० गो०)
७१ प्रेमी भक्त उद्धव (गीता प्रेस गोरखपुर)
७२ अष्टछाप परिचय—ले० श्री प्रभूदयाल मीतल
७३ भारत का सांस्कृतिक इतिहास—ले० श्री जयचन्द्र विद्यालंकार
७४ अनासक्ति योग—महात्मा गाँधी
७५ गीता रहस्य—लोकमान्य तिलक
७६ अन्वितार्थ प्रकाशिका—ले० श्री गंगासहाय
७७ ब्रजमाधुरी सार—सं० श्री वियोगी हरि
७८ स्याम सँदेसो—ले० श्री अमृतलाल चतुर्वेदी
७९ लेख संग्रह—श्री महादेवी वर्मा
८० हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
८१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० डा० रामकुमार वर्मा
८२ उद्धव शतक—ले० डा० रामशंकर शुक्ल
८३ सिद्धान्त और अध्ययन—ले० बा० गुलाबराय
८४ साहित्यालोचन—ले० डा० श्यामसुन्दरदास
८५ चौरासी वैष्णवों की वार्ता
८६ प्राचीन वार्ता रहस्य (कांकरोली)
८७ गुसाईं जी के मुख्य सेवकन की वार्ता (कांकरोली)
८८ रामचरित मानस (अयोध्या)
८९ नन्ददास—एक अध्ययन—ले० डा० रामरतन भटनागर

९० नन्ददास (हि० सा० स० प्रयाग)
९१ महाकवि हरिऔध—ले० श्री गिरीश
९२ घनानन्द कवित्त—सं० श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र
९३ कवित्त रत्नाकर—सेनापति
९४ विहारी सतसई—सं० श्री जगन्नाथदास रत्नाकर
९५ विहारी सतसई—(हस्तलिखित, लेखक के पास)
९६ कविता कौमुदी—ले० श्री रामनरेश त्रिपाठी
९७ तुलसीदास—ले० डा० माता प्रसाद गुप्त
९८ परिषद निबन्धावली—(हिन्दी परिषद प्रयाग)
९९ देव और बिहारी—आचार्य श्री पद्मसिंह शर्मा
१०० हिन्दी नव रत्न—ले० मिश्रबन्धु
१०१ विद्यापति ठाकुर—डा० उमेश मिश्र

संस्कृत के ग्रन्थ

१ सन्ध्या वन्दन—गीता प्रेस गोरखपुर
२ शतपथ ब्राह्मण
३ ब्रह्म पुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
४ विष्णुपुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
५ पद्मपुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
६ हरिवंशपुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
७ ब्रह्मवैवर्तपुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
८ वायुपुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
९ अग्नि पुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
१० लिंग पुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
११ मत्स्य पुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
१२ स्कंद पुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
१३ वाराह पुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
१४ भविष्य पुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
१५ वामन पुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
१६ भागवत पुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
१७ देवी भागवत पुराण—आनन्दाश्रम संस्करण
१८ कूर्म पुराण—कलकत्ता

१६ जैन हरिवंश पुराण—कलकत्ता
२० ऋग्वेद—कलकत्ता
२१ सुत्तनिपात—कतकत्ता
२२ अथर्ववेद
२३ ऐतरेय ब्राह्मण
२४ छाँदोग्य उपनिषद
२५ मनुस्मृति
२६ महाभारत—आनन्दाश्रम
२७ राजतरंगिणी—कल्हण
२८ भागवत—वैंकटेश्वर प्रेस
२९ भागवत—निर्णयसागर
३० पंचतन्त्र
३१ ध्वन्यालोक
३२ गीतगोविन्द काव्य—निर्णयसागर
३३ गीत गोविन्द—काशी
३४ नारद सूत्र गी० प्रे०
३५ ब्रह्मसूत्र—आचार्य वल्लभ
३६ रघुवंश—कालिदास कृत
३७ निम्बादित्य दशश्लोकी
३८ साहित्य दर्पण
३९ गरुण पुराण : आनन्दाश्रम
४० ब्रह्मांड पुराण
४१ गीततत्व चिन्तामणि (गीता प्रेस)

गुजराती के ग्रन्थ

१ हिन्दी संस्कृति अने अहिंसा : ले० स्व० धर्मानन्द जी कोसाम्बी
२ गुजराती अने तेनु' साहित्य : ले० प० कन्हैयालाल माणकलाल मुनशी

मराठी के ग्रन्थ

१ भारतीय ज्योतिष शास्त्र : ले० श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित पूना

उर्दू के ग्रन्थ

कुलियाते आर्य मुसाफिर : ले० श्री लेखराम आर्यमुसाफिर
दीवाने अकबर
१ कुलियाते नजीर अकबराबादी

अंगरेजी के ग्रन्थ

1. The Bhakti cult in Ancient India by'Dr. Goswami
2, Early History cf the Vaisnavism Sect by Dr. Roy Chowdhrey
3. Vaisnavism Shaivism and other minor religious system by Dr, R. K. Bhandarkar
4. A History of Indian Philosophy By Dr. Surendranath Dass Gupta
5. Aitereya Brahman Translated by Shri Haug
6. Introduction to Rig Ved Samhita by Mr. wilson
7. Indiad Antiquery (Calcutta)
8. Oriental Sanskrit Texts by Mr. Muir
9. Hindu Gods and Heroes
10. Zoroster
11. Introduction to Panchratra
12. Cambridge History of India
13. Arrian's Anabasis of Alexendar and Indica Translated by E. J. Chinnock
14. Anacalypsis by Higgins
15. Monumental Christianity
16. Asiatic Researches by Sir william Jones
17. History of Sanskrit Literature by Macdonald
18. Ancient Historical Traditions by Parsitor
19. Vaishanava Kuta Chandrika by Parsitor
20. Tamils Eighteen Hundred years Ago by V. Kanaksha Bhai
21. Bible
22. Encyclopedia of America
23. Early History of Vaishnavism in South India by Dr. Krishna Swami Ayyangar
24. The Age of Sankara by S. N. Shastery
25. Chronology of Hindus by Capt. wilford

26. Hindu Astronomy by w Brennard
27. Civilisation of Ancient India by Ramesh Chandra
    Akbar the Grat by Vincent Smith
29. Dictionery of Universal Information
30. Arthasahtra of Kautilya by Shama Sastrey
31. The Krishna Problem dy S. N. Tadparikar
32. Hariyansha Puran by D. N. Bose
33. Imperial Gazzettier of India by W. W. Hunter
34. An Introduction to Maithili Langauge or North Bihari (Asiatic Society)
35. Cultural Heritage of India
36. Vedic Biblography by R. N. Dandekar
37. The Fauna of British India (Coleoptera)
38. Field Book of Insects by Frank F. Lutz
39. The world of Insects by carl D. Duncon and Gayle
40. The Cambridge Natural History Edited by Sir S. F. Hammer
41. The Insects Book by Leland O. Howord Ph.D
42. Shri Krishna in Mahabharata and Puranas by S. N. Tadptrikar
43. Vedic literature by R. C. Majumder
44. Contribution of Hindi Literature to Indian History by R. B. Sukhdeo Bihari Misra
45. Indian Philosophy by Dr. S Radhakrishnan
46. Nimbarka Philosophy by Dr, Umesh Misra
47. Vaishanavism by Dr. Dinesh Chandra Dev
48. History of Indian Literature by Winternitze
49. Date of Shri Krishna by V. H. vader
50. History of Sanskrit Literature by Keith

पत्र पत्रिकाएं

1. National Geographjical Magazine (America)
2. The Bliss (Krishna Number) Gita Press Gorakhpnr
3. Bhandarkar Research Institute Annals
४ विविध ज्ञान विस्तार, पूना
५ कल्याण गोरखपुर का साधनांक
६ कल्याण गोरखपुर का श्रीकृष्णांक

७ कल्याण गोरखपुर का भागवतांक
८ कल्याण गोरखपुर का उपनिषदांक
९ कल्याण गोरखपुर का ब्रह्मपुराणांक
१० कल्याण गोरखपुर का मार्कण्डेय पुराणांक
११ कल्याण गोरखपुर का वेदान्तांक
१२ कल्याण गोरखपुर का योगांक
१३ गंगा का पुरातत्वांक
१४ हिन्दुस्तानी, प्रयाग
१५ सरस्वती, इलाहाबाद
१६ मानवधर्म, दिल्ली
